

## प्रास्ताविक दो शब्द

श्रीमान् पं. अजितकुमारजी शास्त्री ने इस पुस्तक को तैयार कर समाज की एक बड़ी कमी को बहुत अंशो में पूरा कर दिया है। इसमें कौन-कौन सी बातों पर प्रकाश डाला गया है इसका ज्ञान प्रकरण सूची के देखने से हो जायगा ; उन प्रकरणों को पृष्ठवार आगे दिखाया है। उन प्रकरणों के बीच-बीच में और भी उपप्रकरण हैं वे पुस्तक पढ़ते समय दृष्टि में आवेंगे। इस परिश्रम के लिए हम लेखक को धन्यवाद देते हैं और इस धार्मिक निःस्वार्थ सेवा का आदर समाज में भी हुए बिना न रहेगा ऐसी हमें आशा है।

आजकल सामाजिक प्रेम और एकता के गीत बहुत गाये जाते हैं तथा हम भी खास कर श्वेताम्बर समाज के साथ अपना प्रेमपूर्ण व्यवहार रखने की आवश्यकता समझते हैं। परंतु गलती को जताना भी प्रेम के बाहर का कर्तव्य नहीं है। दिखाए बिना, गलती अपने आप नजर में नहीं आती। इसलिए गलती को दिखाना एक सुधार का तरीका है। हम आशा करते हैं कि इस पर से समाज नाखुश न होकर लेखक के श्रम का आदर ही करेगा।

लेखक की इच्छा है कि उसके द्वारा जो प्रमाद से अथवा अज्ञान वश लिखने में गलती हुई हों उन्हें जो भाई सूचित करेंगे उनको आगामी संस्करण में सुधार देंगे। लेखक की इस सदिच्छा का भी विद्वान लोग सदुपयोग करेंगे, ऐसी हमें आशा है। 'सर्वःसर्वं जानाति' यह ठीक है, परंतु इस पुस्तक से यह भी पता चल जाएगा कि श्वेताम्बर समाज ने जैन धर्म के उच्च आदर्श को जाने-अनजाने मलिन कर दिया है, इसमें संदेह नहीं है।

उत्कृष्ट ध्येय में अपवाद रहना भी संभव है, परंतु अपवादों की भी सीमा होती है। अपवाद के नाम पर विरुद्ध आचार का समावेश कर डालना निष्पक्ष वृत्ति नहीं कहावेगी। जैन साधु को उत्कृष्ट दर्जे का जिनकल्पी नाम दिया वह तो स्वरूपानुरूप है परंतु दूसरे स्थविर कल्प की कल्पना खड़ी कर उसको गृहस्थ से

भी अधिक कपड़े और आहार व्यवहार में घेर देना यह सीमा का अतिरेक है। इसका इस पुस्तक में काफी खुलासा किया गया है।

वाणभट्ट ने 'श्रीहर्षचरित' काव्य लिखा है, उसके दूसरे उच्छ्वास पृष्ठ 31 में, क्षमा धारियों में 'जिन' को श्रेष्ठ दिखाते हुए 'जिनं क्षमासु' ऐसा लिखा है। और आगे 8 वें उच्छ्वास पृष्ठ 73 में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर साधुओं को दिखाते हुए श्वेताम्बरों को 'श्वेतपट' शब्द से लिखा है और दिगम्बरों को 'अर्हत' शब्द से लिखा है। देखो, 'तेषां तरूणां मध्ये नानादेशीयैः स्थानस्थानेषु स्थाणूनाश्रितैः..... तरूमूलानि निषेवमाणैर्वीतरागैरार्हतैर्मस्करिभिः श्वेतपटैः पाण्डुरभिक्षुभिर्भाग-वतैर्वर्णिभिः...

अर्थात् राजा ने जंगल में जुदे-जुदे धर्म वाले तपस्वियों को देखा; उनमें वीतराग आर्हत थे और श्वेतपट भी थे। अर्हत तथा श्वेतपट के बीच में मस्करी नाम आ जाने से 'अर्हत' साधु श्वेत पटों से एक जुदे ठहरते हैं। अर्थात् वाणभट्ट के समय में श्वेताम्बर भी थे परंतु वे अर्हत न कहाकर श्वेतपट कहाते और अर्हत का वारसा दिगम्बरों को ही प्राप्त था, यह अर्थ सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। विद्वानों की अब भी यही समझ है।

लेखक का परिचय दिगम्बर जैन समाज को है। हाल में वे मुलतान नगर में रहते और व्यापार करते हैं। आपका जन्म स्थान आगरे के पास चावली ग्राम है। आपने मोरेना में रहकर धर्म शास्त्र का अच्छा अध्ययन किया है और संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् हैं। कुछ दिन जैन गजट का संपादन किया है और कुछ दिन बंबई में रहकर एक मासिक पत्र स्वतन्त्रता से चलाया था। मुलतान की तरफ श्वेताम्बर साधुओं का आना-जाना अधिक रहता है। उनके द्वारा दिगम्बर सम्प्रदाय पर झूठे आक्षेप किए जाते हैं और कुछ श्वेताम्बर ग्रंथकारों ने भी दिगम्बर मत की बहुत सी बातों का यद्वा-तद्वा खंडन कर संकुचित बुद्धि का परिचय दिया है। यह बात इस पुस्तक के वांचने से मालूम होगी। इसलिए भी यह समीक्षा लिखने का कारण उपस्थित हो गया जान पड़ता है। परंतु इस निमित्त से लेखक ने जो सारे समाज का उपकार किया है यह स्तुत्य है।

#### ● बंशीधर पंडित

## पुस्तक लेखक का अन्तिम-निवेदन

इस संसाररूपी गहन वन में इस संसारी जीव का भला करने वाला केवल एक धर्म ही है। धर्म के अवलम्बन से ही आत्मा में अच्छे गुणों का विकास होता है और अशांति, अधीरता, ईर्ष्या, दम्भ, कपट आदि कुत्सित भाव भाग जाते हैं व शांति, धैर्य, सत्य, उपकार आदि उज्ज्वल गुणों का प्रादुर्भाव होता है। इस कारण आत्मिक उन्नति करने के लिए धर्म का साधन एक बहुत आवश्यक कार्य है।

संसार की अनेक योनियों की अपेक्षा इस मनुष्य योनि के भीतर आकर आत्मा को धर्म साधना के लिए सबसे अच्छा, सुलभ मौका मिलता है क्योंकि धर्म साधन के सभी साधन जीव को इस योनि में मिल जाते हैं जो कि देवयोनि में भी दुर्लभ हैं। इस कारण मानव शरीर पाकर धर्म साधन सरीखा आत्मा का परम हितैषी और आवश्यक कार्य अवश्य करना चाहिए।

किन्तु जहाँ पर जिस वस्तु की बिक्री बहुत होती है वहाँ पर असली माल के साथ नकली माल भी सस्ते भाव में बिकने के लिए आ जाते हैं। सस्तेपन का प्रलोभन लोगों को अंधा बना देता है। इस कारण असली माल को छोड़कर झूठे माल को भी लोग खरीदने लग जाते हैं। धर्म के विषय में भी ठीक ऐसी ही बात है। धर्म की खपत (बिक्री) भी मानव शरीर धारियों में ही बहुत होती है। इस कारण धर्म के नाम पर नकली माल भी यहाँ बिकता रहता है।

इस दशा में बुद्धिमान् पुरुष का मुख्य कार्य यह होता है कि वह प्रलोभन के जाल में न फंसे, खरे-खोटे की परीक्षा करे, सदा प्रकाशमान उज्ज्वल जवाहरात का ग्राहक बने, वह चाहे उसको कुछ महँगा ही क्यों न दिखे? हाँ! यदि शक्ति न हो तो थोड़ा ही खरीद करे किन्तु खरीद सच्चे माल की ही करे, जिससे कभी छोड़ने, पछताने, धोखा खाने का मौका न आये।

परख करने पर जब धर्मों में जैन धर्म सच्चा रत्न ठहरता है तो बुद्धिमान का काम है कि इसी धर्म का अनुयायी बने। कठिन आचरण प्रतीत हो तो थोड़ा शक्ति अनुसार पालन करें।

विकराल काल प्रवाह से इस उज्ज्वल जैन धर्म के भीतर भी विभाग हो गए हैं जो कि प्रारंभ में तो केवल साधुओं के नग्न रहने तथा वस्त्र पहनने के ही पक्ष पर खड़े हुए थे किन्तु आगे-आगे होने वाले कुछ महाशयों की ऐसी कृपा हुई कि उन्होंने जैन ग्रंथों को निन्दापात्र बनाने के लिए अनेक जैनग्रंथों में उन खराब बातों को मिला दिया जो कि न केवल जैन धर्म की दृष्टि से ही किंतु इतर धर्मों की दृष्टि से भी अनुचित ठहरती हैं।

अब बुद्धिमान पुरुष वह है जो जैन ग्रंथों में से उन मिला दी गई अनुचित बातों को खोज निकाले और पृथक करें जिनसे जैन धर्म को धब्बा लगता है।

हमने यह पुस्तक इसी कारण तैयार की है कि हमारे श्वेताम्बर भाई जो हमसे बहुत दिनों से बिछुड़े हुए हैं वे, अपने उन ग्रंथों का ध्यान से निष्पक्ष होकर अवलोकन करें। जो बातें उन्हें स्वयं उसमें अनुचित दिखें, पाखण्ड प्रेमियों की मिलाई हुई मालूम हों उन्हें ग्रंथों में से दूर करने का उद्योग करें। यदि किसी बात को हमने गलत समझा हो तो हमको समझावें।

यह समय धार्मिक प्रचार के लिए अच्छा उपयुक्त है, इस समय हम सब मिलकर प्रचार करें और सच्चे जैन धर्म को एक बार फिर से विश्व धर्म बनाने का शुभ उद्योग करें।

मेरी स्वल्प बुद्धि में जो कुछ आप श्वेताम्बर भाइयों को भूल सुधारने और विचारने के लिए उपयुक्त एवं आवश्यक दिख पड़ा वह आपके सामने रखा है। मेरे लिए भी यदि आपको इस प्रकार की कोई सुधारणीय एवं विचारणीय बात मालूम हो तो आप मेरे सामने रखें। दृष्टिगोचर भूलों को सुधारना और सुधरवाना ही बुद्धि और हितैषी विचार का सदुपयोग है। ●

इत्यलम

## सूची

| विषय   | पृष्ठ |
|--|-------|
| सच्चे देव का स्वरूप  | १४    |
| स्त्री मुक्ति पर विचार   | ३६    |
| अर्हत् पर उपसर्ग और अभक्ष्य भक्षण का दोष                               | ५९    |
| श्री महावीर स्वामी का गर्भहरण  | ६८    |
| अन्यलिंग-मुक्ति समीक्षा  | ७४    |
| गृहस्थ-मुक्ति परीक्षा  | ७८    |
| अर्हत् भगवान् की प्रतिमा वीतरागी हो या सरागी?                          | ९१    |
| जैन मुनि का स्वरूप कैसा हो?  | ९९    |
| क्या साधु कभी माँस भक्षण भी करें?                                      | १३९   |
| आगम-समीक्षा  | १४९   |
| श्वेताम्बरीय शास्त्रों का निर्माण दिगम्बरी शास्त्रों के आधार से हुआ है | १५८   |
| श्री कुमुदचन्द्राचार्य और देवसूरि का शास्त्रार्थ                       | १७२   |
| साहित्य विषय की नकल  | १७९   |
| सिद्धांत-विरुद्ध कथन   | १८८   |
| महाव्रती साधु क्या रात्रि भोजन करें?                                   | १९७   |
| संघ-भेद का इतिहास  | १९९   |
| संघभेद का असली कारण  | २०६   |
| स्थानकवासी सम्प्रदाय   | २२१   |
| श्री भद्रबाहु स्वामी और सम्राट चंद्रगुप्त के विषय में इतिहास सामग्री   | २२४   |
| भूगर्भ से प्राप्त प्राचीन दिगम्बर जैन मूर्तियाँ                        | २४८   |
| उपसंहार  | २४९   |

श्रीजिनदेवाय नमः

## श्वेताम्बर मत समीक्षा

देव वंदना

तज रागद्वेष क्षुधा तृषादिक ध्यान से खलु कर्म हन,  
अर्हन्तपद पाया अतुल जो अरु अनन्त सुशर्मधन।  
वैराग्य रस से पूर्ण केवलज्ञान युत अभिराम है,  
उस अजित वीर जिनेश को मम बार-बार प्रणाम है ॥१॥

शारदाविनय

सब युक्तियों से जो अखंडित दयाधर्म प्ररूपिणी,  
पूर्व-पर अविरोध भूषित सर्व तत्त्व निरूपिणी।  
संसार भ्रांत सुभव्य जन को दे सदा शुभ धाम है,  
उस वीर वाणी शारदा को बार-बार प्रणाम है ॥२॥

गुरुस्तवन

संसार व्याधि उपाधि सब आमूल से जो त्याग कर,  
निज आत्म में लवलीन रहते श्रेय समता भाव धर।  
लवलेश भी जिनके परिग्रह का नहीं संपर्क है,  
वो ही दिगम्बर वीतरागी पूज्य गुरु आदर्श है ॥३॥

आचार्य श्री शान्तिसागर

उत्कृष्ट तप चारित्र धारी ज्ञान-सिन्धु अगाध हैं,  
मुनि-रत्न जिनके शिष्य निरूपधित् वीर सागर आदि हैं।  
भव सिन्धु तारक तम निवारक शान्ति के आगार हैं,  
आचार्य वर श्री शान्ति सागर धर्म के पतवार हैं ॥४॥

उद्देश्य

सत्-असत् निर्णय हेतु इस सद् ग्रंथ का प्रारंभ है,  
निन्दा प्रशंसा से न मतलब, नहीं द्वेष न दंभ है।  
सम्मार्ग तो आदेय है अरु हेय जो उन्पथ सदा,  
कर्त्तव्य सज्जन का यही, जो गहै शुभ मग सर्वदा ॥५॥

प्रथम परिच्छेद

## पीठिका

समस्त संसार के बंदनीय, समस्त जगत के कल्याण विधाता, अनंत शक्ति सम्पन्न, विश्वदर्शक बोध-विभूषित, अनुपम सुख मंडित, अनन्त गुण गण कलित, जिनेन्द्र, अर्हन्त, भगवान, परमेश्वर आदि अनेक नामों से सम्बोधित परम पवित्र आत्मधारक देवका अन्तःकरण से स्मरण, वन्दना करके मैं ग्रंथ प्रारंभ करता हूँ।

इस विकट संसार-अटवी के भीतर जन्म, जरा, मरण आदि व्याधियों के द्वारा रात-दिन सताए गए सांसारिक जीवों का उद्धार करने के लिए यद्यपि शरणदायक अनेक धर्म विद्यमान हैं, किन्तु वे सभी एक-दूसरे से विरुद्ध मार्ग बतलाते हैं इस कारण उनमें से सच्चा कल्याण दायक धर्म कोई एक ही हो सकता है, सभी नहीं। धर्मों की सत्यता की परीक्षा कर लेने पर मालूम होता है कि प्रत्येक जीव को सच्ची शान्ति, एवं सच्चा सुख देने वाला यदि कोई धर्म है तो वह जैन धर्म है; इस कारण वह ही सच्चा धर्म है। 'अहिंसा' भाव जो कि समस्त संसार का माननीय प्रधान धर्म है, इसी जैन धर्म के भीतर पूर्ण तौर से विकसित रूप में पाया जाता है।

काल की कराल कुटिल प्रगति से इस जैन धर्म के भी अनेक खंड हो गए हैं और वे भी परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध मोक्ष साधन की प्रक्रिया बतलाते हैं। इस कारण जैन धर्म के भीतर भी सत्य, असत्य मार्ग खोज करने की आवश्यकता सामने आ खड़ी हुई है। बिना परीक्षा किए ही यदि कोई मनुष्य जैन धर्म का धारक बन जावे तो संभव है कि वह भी सत्य मार्ग से बहुत दूर रह जावे।

इस कारण इस ग्रंथ में जैन धर्म परिपालक संप्रदायों की सत्यता, असत्यता का दिग्दर्शन कराया जाएगा।

इन कारणों से बाध्य होकर ही यह ग्रंथ लिखा गया है। जैन धर्म के सत्य स्वरूप के जिज्ञासु तथा निष्पक्ष हृदय से धार्मिक तत्त्व की खोज करने वाले हमारे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सज्जन शांतिपूर्वक इस ग्रंथ का अवलोकन करके गुण-ग्रहण और दोष-वर्जन करेंगे; ऐसी प्रार्थना तथा आशा है।

इस ग्रंथ के निर्माण में निम्नलिखित ग्रंथों से सहायता प्राप्त हुई है।

१. संशयवदन विदारण
२. गोम्मटसार
३. षटपाहुड
४. कल्पसूत्र
५. भगवती सूत्र
६. आचारांग सूत्र
७. प्रवचन सारोद्धार
८. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य
९. तत्त्वनिर्णय प्रासाद
१०. जैन तत्त्वादर्श
११. भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध
१२. बंगाल बिहार प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक
१३. जैन सिद्धांत भास्कर

श्री ऐलक पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन का तथा उसके भूतपूर्व दशम प्रतिमाधारी ब्र. ज्ञानचंदजी, प्रबन्धक श्रीमान् पं. नन्दनलालजी वैद्य का भी बहुत आभार है क्योंकि आपकी कृपा से ही भगवती सूत्र, तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (श्वेताम्बर) ग्रंथों के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अलीगंज निवासी श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी को भी अनेक धन्यवाद हैं। आपने भी समय पर प्राचीन जैन स्मारक पुस्तक भेजने का कष्ट उठाया था।

सबसे अधिक सहायता हम (स्थानीय) उन स्वर्गीय (श्रीमान् ला.देवीदासजी गोलच्छ के उदार चेता सुपुत्र) ला. शंभुरामजी की समझते हैं जो कि स्थानीय दि. जैन मंदिरजी के शास्त्र 'भंडार में प्रख्यात श्वेताम्बर ग्रंथों को रख गए हैं और उन पर अनेक दृष्टव्य विषयों को चिह्नित कर गए हैं।

इन सबके सिवाय हम स्थानीय जैन सिद्धान्त के मार्मिक ज्ञाता श्रीमान् ला. चौथरामजी सिंधी का नाम भी नहीं भुला सकते जिनकी सतत् तीव्र प्रेरणा से यह ग्रंथ प्रारंभ किया गया था। आप इस समय दिगम्बर जैन ओसवाल समाज के गणनीय नररत्न हैं। आपने दिगम्बर जैन ओसवाल समाज के प्रधान वृद्धिकर्ता स्वर्गीय पं. घनश्याम दासजी सिंधी के अनुरोध से दिगम्बर जैन धर्म की परीक्षा; तदनन्तर श्वेताम्बर जैन धर्म को छोड़कर दिगम्बर जैन धर्म धारण किया है।

यह ग्रंथ सत्य-असत्य निर्णय के लिए लिखा गया है इस कारण प्रत्येक सज्जन, चाहे वह दिगम्बर हो या श्वेतांबर, इस ग्रंथ का एक बार अवश्य अवलोकन करे, परनिंदा को हम दुर्गति का कारण समझते हैं और असत्य निन्दा को अनन्त संसार का कारण घृणित कार्य मानते हैं किंतु सत्य-असत्य का निर्णय सम्यग्ज्ञान एवं सुगति का कारण मानते हैं; इसी लक्ष्य से इस ग्रंथ को लिखा है। यदि कोई सदाशयी विद्वान् किसी स्थल पर हमारी कोई त्रुटि हमें बतला देंगे तो हम उनके कृतज्ञ होंगे।

उस अनंत सुख राशि में विराजमान, विश्व प्रकाशक, अचल ज्ञान ज्योति से विभूषित, अपारशक्ति सम्पन्न श्री १००८ जिनेंद्र भगवान् के भक्ति प्रसाद से एवं उनके स्मरण और ध्यान से प्रारंभ हुये इस ग्रंथ का लेखन-कार्य सम्पन्न हुआ है।

ग्रंथ का प्रारंभ चैत्र शुक्लापंचमी वीर सं. २४५३ के दिन श्री दि. जैन मंदिर डेरा गाजीखाना में हुआ था और पूर्णता स्थानीय (मुलतान के) दि. जैन मंदिर में आज मगसिर शुक्ला ५ मंगलवार वीर सं. २४५४ के प्रातः समय हुई है।

● अजितकुमार शास्त्री

चावली- (आगरा), वर्तमान- मुलतान नगर

## आद्य-वक्तव्य

विचार-चतुर चेता पाठक महानुभाव! जैन धर्म का प्रखर प्रतापशाली सूर्य किसी समय न केवल इस भारतवर्ष में किन्तु अन्य देशों में भी कुपथ विनाशक प्रकाश पहुँचा रहा था। जिस यूनान देश में आज जैन धर्म का नामो निशान भी शेष नहीं, किसी समय उस यूनान देश में जैन ऋषिवरों ने जैन धर्म का अच्छा प्रचार किया था। जैन धर्म का वह मध्याह्न समय बीत चुका। अब वह जैन धर्म की गरिमा पूर्ण महिमा केवल सत्यान्वेषी विद्वानों के निर्माण किए हुए ऐतिहासिक ग्रंथों में ही नेत्र-गोचर हो सकती है।

जैन धर्म का आधुनिक मंद प्रकाश उसके सायंकालीन प्रकाश का संकेत कर रहा है। इस समय उस दिवाकर में इतना भी प्रताप नहीं दिख पड़ता कि वह अपने जैन मंडल को भी पूर्ण तौर से अपने प्रकाश का परिचय दे सके। जैन धर्म के इस शोचनीय प्रसंग के यद्यपि अनेक निमित्त पिछले समय में सफलता पा चुके हैं। किन्तु अधःपतन का प्रधान एवं प्रथम कारण यह हुआ कि आज से लगभग २१००-२२०० वर्ष पहले संगठित जैन समुदाय में द्वादश वर्षीय दुष्काल का निमित्त पाकर दिगम्बर तथा श्वेताम्बर रूप दो विभाग हो गए। कोई भी संगठित संघ जब पारस्परिक विरोध लेकर दो विभागों में उठ खड़ा होता है, उस समय उस संघ की गरिमा, महिमा, विस्तार, प्रचार, प्रभाव, प्रकाश, कीर्ति आदि गुण सदा के लिए कितने फीके पड़ जाते हैं इसको सब कोई समझता है। तदनुसार जैन समुदाय की क्रमशः हीन अवस्था होते हुए यह अवनत दशा हो गई है कि जो अपने पहले समय में संसार के कलह, विवाद, झगड़ों को शांत करने के लिए न्यायाधीश का काम करता था, विश्व को शान्ति प्रदान करता था वह जैन संघ आज पारस्परिक अशांति का गणनीय क्षेत्र बना हुआ है। अपने धार्मिक अधिकारों का निर्णय कराने के लिए दूसरों के द्वार खटखटाता फिरता है।

अवनति के इस (संघभेद) निमित्त पर प्रकाश डालने के लिए तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के निष्पक्ष निर्णयिच्छु सज्जनों के अवलोकनार्थ कुछ लिखने की इच्छा पहले से ही थी जो कि तीन कारणों से और भी जाग्रत हो उठी है।

१- अनेक श्वेतांबरीय विद्वानों ने निष्पक्ष युक्तियों से नहीं किन्तु अनुचित, असत्य युक्तियों से दि. जैन सिद्धांतों पर अपने ग्रंथों में आक्षेप किए हैं जो कि श्वेतांबरी भोली जनता में भ्रान्ति उत्पन्न कर रहे हैं।

२- कतिपय अजैन विद्वानों ने श्वेतांबरीय ग्रंथों में माँस भक्षण आदि अनुचित विधान देखकर जैन धर्म की निंदा करना प्रारंभ कर दिया था, जिनका कि खुलासा उत्तर देकर जैन धर्म से कलंक दूर करना भी आवश्यक था।

३- हमारे अनेक दिगम्बरीय भ्राता भी, श्वेतांबरीय-दिगम्बरीय सिद्धांतों के विवादापन्न भेद से अनभिज्ञ हैं। उनको परिचय कराने के लिए स्थानीय दिगम्बरीय ओसवाल भाइयों की प्रबल प्रेरणा थी।

इनके सिवाय तात्कालिक कारण एक यह भी हुआ कि सोलापुर से वहाँ के प्रधान पुरुष धर्मवीर रा. बा. श्रीमान् सेठ रावजी सखाराम दोशी की सम्पादकीय में प्रकाशित होने वाले मराठी भाषा के जैनबोधक में (वीर सं. २४५३ चैत्र मास के अंक में) श्रीमान् पं. जिनदासजी न्यायतीर्थ सोलापुर का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने एक अजैन विद्वान् के लेख का प्रतिवाद करते हुए लिखा था कि 'दिगम्बर जैन शास्त्रों में माँस भक्षण विधान नहीं है'। उस अजैन विद्वान् ने अपनी लेखमाला में एक स्थान पर श्वेताम्बरीय आचारांग सूत्र ग्रंथ के ६२९वें तथा ६३०वें सूत्र का प्रमाण देते हुए यह लिखा था कि अहिंसा धर्म के कट्टर पक्षकार जैनधर्म के धारक साधु भी पहले समय में माँसभक्षण करते थे।

अजैन विद्वानों द्वारा श्वेताम्बरीय शास्त्रों के आधार से जैन धर्म की ऐसी निन्दा होते देखकर हमारी वह इच्छा और भी प्रबल हो गई कि जनता के समक्ष सत्य समाचार रखना परम आवश्यक है जिससे कि सच्चे जैनधर्म पर थोपे गये असत्य के कारण अपवाद न होने पावे।

जैन समाज इस समय तीन संप्रदायों में विभक्त (बँटा हुआ) है। दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानक वासी। इनमें से श्वेताम्बर तथा स्थानक वासी सम्प्रदाय के भीतर सिद्धांत की दृष्टि से कुछ विशेष भेद नहीं है। स्थूल भेद केवल यह है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय मूर्तिपूजक है अतएव जिनमंदिर, जिनप्रतिमा तथा तीर्थक्षेत्रों को मानता है, पूजता है। किन्तु स्थानक वासी समाज जो कि लगभग ३०० वर्ष पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रथम हुआ है जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, और तीर्थक्षेत्र को न तो मानता है और न पूजता ही है, वह केवल गुरु और शास्त्र को मानता है। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय के साथ श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदायों का सिद्धांत की दृष्टि से बहुत भारी मतभेद है। इसलिए उसकी परीक्षा करना जरूरी है।

## सच्चे देव का स्वरूप

धर्म की सत्यता, असत्यता की खोज करने के लिए तीन बातें जाँच लेनी आवश्यक हैं देव, शास्त्र और गुरु। जिस धर्म का प्रवर्तक देव, उस देव का कहा हुआ शास्त्र तथा उस धर्म का प्रचार करने वाला, गृहस्थ पुरुषों द्वारा पूजनीय गुरु सत्य साबित हो वह धर्म सत्य है और जिस के ये तीनों पदार्थ असत्य साबित हों वह धर्म झूठा है। इस कारण यहाँ पर इन तीनों जैन सम्प्रदायों के माने हुए देव, शास्त्र, गुरु की परीक्षा करते हैं। उनमें से इस प्रथम परिच्छेद में देव का स्वरूप परीक्षार्थ प्रगट करते हैं।

दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी ये तीनों संप्रदाय अर्हत् और सिद्ध को अपना उपास्य(उपासना करने योग्य) देव मानते हैं। तथा 'आठ कर्मों को नष्ट करके शुद्ध दशा को प्राप्त हुए जो परमात्मा लोक शिखर पर विराजमान हैं वे सिद्ध भगवान हैं और जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मों का नाश करके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतबल यह अनंतचतुष्टय पा लिया है ऐसे जीवन्मुक्ति दशा प्राप्त परमात्मा को अर्हत् कहते हैं।' यहाँ तक भी तीनों सम्प्रदाय निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं।

किंतु साथ ही अर्हत् भगवान के विशेष स्वरूप के विषय में तीनों सम्प्रदायों का परस्पर मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय अर्हत् भगवान् के भूख, प्यास, राग, द्वेष, जन्म, बुढ़ापा, मरण, आश्चर्य, पीड़ा, रोग, खेद (थकावट) शोक, अभिमान, मोह, भय, नींद, चिंता, पसीना ये १८ दोष नहीं मानता है और न उन पर किसी प्रकार के उपसर्ग का होना मानता है। यानी-दिगम्बर सम्प्रदाय का यह सिद्धांत है कि अर्हत् भगवान् में १८ दोष रूप बातें नहीं पाई जाती हैं और न उन पर कोई मनुष्य, देव, पशु किसी प्रकार का उपद्रव ही कर सकता है।

श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय में अर्हत् भगवान् पर यद्यपि सिद्धांत की अपेक्षा उपसर्ग का अभाव बतलाया है यानी इन दोनों संप्रदायों के सिद्धांत ग्रंथ भी 'अर्हत् भगवान् पर कोई उपद्रव नहीं हो सकता है' ऐसा कहते हैं किन्तु प्रथमानुयोग के कथा ग्रंथ इस नियम के विरुद्ध भी प्रगट करते हैं जिसको हम

आगे बतायेंगे तथा १८ दोषों का अभाव भी अर्हत् भगवान के बतलाते हैं किन्तु वे उन दोषों के नाम दिगम्बर सम्प्रदाय से भिन्न कहते हैं। 'प्रवचन सारोद्धार' (शा.भीमसिंह माणक द्वारा बंबई से वि.सं. १९३४ में प्रकाशित तीसरा भाग) के १२०वें पृष्ठ पर उनका नाम लिखा है-

अन्नाण कोह मय माण लोह माया रईय अरईय ।  
निद्द सोय अलिय वयण चोरीया मच्छर भयाय ॥४५७॥  
पाणिवह पेम कीला प्रसंग हासाइ जस्स इय दोसा ।  
आड्ढारसवि पणहा, ननामि देवाहिंदेवं तं ॥४५८॥  
अर्थात् अज्ञान, क्रोध, मद, मान, लोभ, माया, (कपट) रति(राग) अरति, (द्वेष) नींद, शोक असत्य वचन, चोरी, ईर्ष्या, भय, हिंसा, प्रेम, क्रीडा और हास्य ये अठारह दोष अर्हत् के नहीं होते हैं।

इस विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय के मान्य १८ दोष इस कारण ठीक ठहरते हैं कि अर्हत् भगवान् के ज्ञानावरण कर्म नष्ट होकर जो अनंतज्ञान(केवलज्ञान) प्रगट हुआ है उसके निमित्त से आश्चर्य (अचंभा यानी कोई अद्भुत बात जानकर अचरज होना) दोष नहीं रहता है। दर्शनावरण कर्म का नाश होकर अनन्तदर्शन उत्पन्न होने के कारण नींद (निद्रा) दोष नहीं रहता है। मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने से अर्हत् के मोह की सब दशाएँ नष्ट हो जाती हैं तथा अनंत सुख प्रगट होता है जिससे कि रंचमात्र दुःख नहीं रहने पाता है। इस निमित्त से जन्म, भूख, प्यास, पीडा, रोग, शोक, अभिमान, मोह, भय, चिन्ता, राग, द्वेष, मरण ये १५ दोष अर्हत् के नहीं होते हैं और अन्तराय नष्ट होकर अर्हत् के जो अनन्तबल प्रगट होता है उसके कारण खेद, स्वेद, बुढ़ापा ये दोष नहीं रह पाते हैं।

परंतु-श्वेताम्बर, स्थानकवासी संप्रदाय के बतलाए हुए १८ दोषों के भीतर प्रथम तो मद, मान ये दोनों तथा रति, प्रेम ये दोनों एक ही हैं। मद तथा मान का एक ही 'अभिमान करना' अर्थ है। रति (राग) और प्रेम इनमें से कुछ अन्तर नहीं। इस कारण दोष वास्तव में १६ ही ठीक बैठते हैं तथा असत्य वचन, चोरी और हिंसा ये तीन दोष ऐसे हैं जो कि अप्रमत्त नामक सातवें गुण स्थान में भी नहीं रहते हैं। वैसे तो मुनि दीक्षा ले लेने पर ही हिंसा, झूठ बोलना, चोरी करना इन तीनों पापों को पूर्ण रूप से मुनि त्याग कर देते हैं किन्तु प्रमाद विद्यमान रहने के कारण कदाचित् अहिंसा, सत्य अचौर्य महाव्रत में कुछ दोष भी लगता हो तो

वह प्रमाद न रहने से सातवें गुणस्थान में बिल्कुल नहीं रह पाता है। इस कारण जब कि सातवें गुण स्थानवर्ती मुनि के ही मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग हो जाने से हिंसा, असत्य वचन और चोरी नहीं रहने पाती है तो इन तीनों बातों का अभाव अर्हत भगवान् में बतलाना व्यर्थ है। अर्हत भगवान् के तो उन दोषों का अभाव बतलाना चाहिए जो कि उनसे ठीक नीचे के गुण स्थान वाले मुनियों के विद्यमान, मौजूद हों। जो बात सातवें गुण स्थान वाले छद्मस्थ (अल्पज्ञ) मुनियों के भी नहीं है उस बात का अभाव केवली भगवान् के कहना निरर्थक है तथा-अठारह दोषों में भूख, प्यास, रोग आदि दोषों की उद्भूति मानने के कारण श्वेतांबर, स्थानकवासी संप्रदाय के माने हुए अर्हत भगवान् के अनंत सुख, अनंतबल नहीं हो सकते हैं। (इनको आगे सिद्ध करेंगे) इस कारण १८ दोषों का श्वेताम्बरीय सिद्धांत ठीक नहीं बनता है।

अर्हत भगवान् में अनन्त चतुष्टय के सद्भाव और अठारह दोषों के अभाव होने से वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता प्रगट होती है।

यानी-अर्हत भगवान् राग, द्वेष, मोह, आदि दोष न रहने के कारण वीतराग कहलाते हैं। तदनुसार वे किसी पदार्थ पर राग, द्वेष यानी प्रेम और बैर नहीं करते हैं। केवलज्ञान हो जाने से वे समस्त लोक, समस्त काल की सब बातों को एक साथ स्पष्ट जानते हैं। इस कारण वे सर्वज्ञ कहलाते हैं और इच्छा न रहने पर भी वचन योग के कारण तथा भव्यजीवों के पुण्य कर्मों के निमित्त से उन जीवों को कल्याण करने वाला उपदेश देते हैं इस कारण हितोपदेशी कहलाते हैं।

ये तीनों बातें दिगम्बरीय अभिमत अर्हत में तो बन जाती हैं किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदानुसार अर्हत भगवान् में वीतरागता तथा सर्वज्ञता नहीं बनती है। सो आगे दिखलावेंगे।

इस प्रकार अर्हन्तदेव का ठीक-सच्चा स्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय के सिद्धांत अनुसार तो ठीक बन जाता है किन्तु श्वेताम्बर, स्थानकवासी सम्प्रदाय के सिद्धांत के अनुसार अर्हतदेव का सच्चा स्वरूप ठीक नहीं बनता।

## क्या केवली कवलाहार करते हैं?

अब यहाँ इस विषय पर विचार चलता है कि अर्हत भगवान् जो कि मोहनीय कर्म का समूल नाश करके वीतराग हो चुके हैं, केवलज्ञान हो जाने से जिनको केवली भी कहते हैं, कवलाहार (हमारे तुम्हारे समान ग्रास वाला भोजन) करते हैं या नहीं। इस विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय का यह सिद्धांत है कि केवली भगवान् वीतरागी और अनन्त सुखधारी होने के कारण कवलाहार नहीं करते हैं। क्योंकि उनके 'भूख' नामक दोष नहीं रहा है। श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी संप्रदाय का यह कहना है कि केवली भगवान् के वेदनीय कर्म का उदय विद्यमान है इस कारण उनको भूख लगती है जिससे कि उनको भोजन करना पड़ता है। बिना भोजन किए केवली भगवान् जीवित नहीं रह सकते।

ऐसा परस्पर मतभेद रखते हुए भी तीनों सम्प्रदाय केवली भगवान् को वीतरागी और अनंतसुखी निर्विवाद रूप से मानते हैं।

इस समय सामने आए हुए प्रश्न का समाधान करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि भूख लगती क्यों है? किन-किन कारणों से जीवों के उदर में भूख आकुलता को उत्पन्न कर देती है? इस विषय में सिद्धांत ग्रंथ गोम्मरसार जीवकाण्ड में लिखा है-

आहारंदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओम्मकोठाए।

सादिरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णाओ ॥१३४॥

अर्थात्- अच्छे-अच्छे भोजन देखने से, भोजन का स्मरण कथा आदि करने से, पेट खाली हो जाने से और असाता वेदनीय की उदीरणा होने पर आहार संज्ञा यानी भूख पैदा होती है।

इन चार कारणों में से अंतरंग मुख्य कारण असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा (अपक्वपाचन उदीरणा) यानी आगामी समय में उदय आने वाले कर्म निषेकों को बलपूर्वक वर्तमान समय में उदय ले आना। जैसे वृक्ष पर आम बहुत दिन में पकता है उसे तोड़कर भूसे के भीतर रखकर जल्दी समय से पहले ही पका देना है। बिना असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा हुए भूख लगती नहीं है।



इस कारण अर्हत भगवान् को यदि भूख लगे तो उनके असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा अवश्य होनी चाहिए। किन्तु वेदनीय कर्म की उदीरणा तेरहवें गुणस्थान में विराजमान अर्हत भगवान् के हैं नहीं। क्योंकि वेदनीय कर्म की उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही है, आगे नहीं है।

श्वेताम्बर ग्रंथ प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग के षडशीति नामक चौथे खंड की ६४वीं गाथा ४०२ पृष्ठ पर लिखी है कि-

उइरंति पमत्तंता साड्ढ मीसट.ट वेअ आड विणा।  
छग अपमत्ताइ तऊ छ पंच सुदुमो पण वसंतो॥६४॥

अर्थात्- मिश्र गुणस्थान के सिवाय पहले से छठे गुणस्थान तक आठों कर्मों की उदीरणा है। उसके आगे अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीन गुणस्थानों में वेदनीय और आयु कर्म के बिना ६ कर्मों की उदीरणा होती है। दशवें तथा ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय, वेदनीय, आयु के बिना शेष पाँच कर्मों की उदीरणा होती है।

आगे की ६५वीं गाथा इसी पृष्ठ पर यों है-

‘पण दो खीण दुजोगीऽणुदीरगु अजोगिथोब उवसंता।

यानी बारहवें गुणस्थान में अंत समय से पहले ग्यारहवें गुणस्थान की तरह पाँच कर्मों की उदीरणा होती है। अंत समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, मोहनीय, वेदनीय, आयु इन ६ कर्मों के सिवाय शेष नाम, गोत्र इन दो कर्मों की ही उदीरणा होती है। सयोग केवली १३वें गुणस्थान में भी नाम, गोत्र कर्म की ही उदीरणा होती है। १४वें गुणस्थान में उदीरणा नहीं होती है।

इस प्रकार जब कि वेदनीय कर्म की उदीरणा छठवें गुणस्थान तक ही होती है तो नियमानुसार यह भी मानना पड़ेगा कि भूख भी छठे गुणस्थान तक ही लगती है। उसके आगे के गुणस्थानों में न तो उदीरणा है और न इस कारण उनमें भूख ही लगती है।

तदनुसार जब कि तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हत भगवान् को वेदनीय कर्म की उदीरणा न होने से भूख ही नहीं लगती फिर उस भूख को मिटाने के लिए वे भोजन ही क्यों करेंगे? यानी नहीं करेंगे, क्योंकि कवलाहार(भोजन) भूख मिटाने के लिए ही भूख लगने पर ही किया जाता है। अन्यथा नहीं।

इस कारण कर्मग्रन्थों के सिद्धांत अनुसार तो केवली भगवान् के कवलाहार सिद्ध नहीं होता है। यदि फिर भी श्वेताम्बरी भाई वेदनीय कर्म के उदय से ही भूख लगती बतला कर केवली भगवान् के कवलाहार सिद्ध करेंगे क्योंकि केवली भगवान् के साता या असाता वेदनीय कर्म का उदय रहता है। यह सही नहीं है; क्योंकि वेदनीय कर्म का उदय प्रत्येक जीव को प्रत्येक समय रहता है। सोते-जागते कोई भी ऐसा समय नहीं कि वेदनीय कर्म का उदय न होवे; इस कारण आपके कहे अनुसार हर समय क्षुधा लगी ही रहनी चाहिए और इसको मिटाने के लिए प्रत्येक जीव को प्रत्येक समय भोजन करते ही रहना चाहिए। इस तरह सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक जो मुनियों के धर्मध्यान, शुक्लध्यान की दशा है उस समय भी वेदनीय कर्म के उदय होने से आपके कहे अनुसार भूख लगेगी। उसको दूर करने के लिए उन्हें आहार करना आवश्यक होगा। इसलिए उनके ध्यान भी नहीं बन सकेगा।

तथा केवली भगवान् के भी हर समय वेदनीय कर्म का उदय रहता है। इसलिए उनको भी हर समय भूख लगेगी जिसके लिए उन्हें हर समय भोजन करना आवश्यक होगा। बिना भोजन किए वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुई क्षुधा उन्हें हर समय व्याकुल करती रहेगी। ऐसा होने पर श्वेताम्बरी भाइयों का यह कहना ठीक नहीं रहेगा कि केवली भगवान् दिन के तीसरे पहर में एक बार भोजन करते हैं।

इसलिए मानना पड़ेगा कि भूख असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा होने पर लगती है। यदि फिर भी इस विषय में कोई महाशय यह कहे कि वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होने पर ही भूख लगती है। वेदनीय कर्म का जब तक मंद उदय रहता है तब तक भूख नहीं लगती।

तो इसका उत्तर यह है कि भूख लगाने वाले वेदनीय कर्म का उदय केवली भगवान् के तीव्र हो नहीं सकता, क्योंकि वे यथाख्यात चारित्र के धारक हैं तदनुसार उनके परिणाम परम विशुद्ध हैं। विशुद्ध-परिणामों में दुख देने वाले अशुभ कर्मों का उदय मंद रहता है यह कर्म-सिद्धांत अटल है। इसलिए केवली भगवान् के मोहनीय कर्म न रहने से परम पवित्र परिणाम रहते हैं और इस कारण से (आपके कहे अनुसार) भाव पैदा करने वाले अशुभ कर्म का बहुत मंद उदय रहता है। इसलिए भी केवली भगवान् को भूख नहीं लग सकती जिससे कि वे कवलाहार भी नहीं कर सकते।

इसका उदाहरण यह है कि छठे, सातवें, आठवें तथा नवम गुण स्थान में (कुछ स्थानों में स्त्री, पुरुष, नपुंसक भाव वेदों का मंद उदय है, इस कारण उन गुणस्थान वाले मुनियों के विषय सेवन करने की इच्छा नहीं होती है। यदि वेदनीय कर्म के मंद उदय से केवली भगवान् को भूख लग सकती है तो श्वेताम्बरी भाइयों का यह भी कहना पड़ेगा कि वेदों के मंद उदय होने से छठे, सातवें आठवें, नवम, गुणस्थानवर्ती साधुओं के भी विषय सेवन की (मैथुन करने की) इच्छा उत्पन्न होती है। और इसी कारण उनके धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान नहीं है।

## वेदनीय कर्म केवली के भूख उत्पन्न नहीं कर सकता

असाता वेदनीय कर्म के उदय से केवली भगवान् को भूख इसलिए भी नहीं लग सकती कि उनके मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका है। वेदनीय कर्म अपना फल मोहनीय कर्म की सहायता से ही देता है। मोहनीय कर्म के बिना वेदनीय कर्म वेदना उत्पन्न नहीं कर सकता। गोम्मटसार कर्मकांड में लिखा है-

घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं ।

इदि घादीणं मज्जे मोहस्सादिम्मि पढिदंतु ॥२८॥

अर्थात् वेदनीय कर्म घाती कर्मों के समान जीव के अव्याबाध गुण को मोहनीय कर्म की सहायता से घातता है। इसी कारण वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म के पहले एवं घातिया कर्मों के बीच में तीसरी संख्या पर रखा गया है।

जबकि केवली भगवान् के मोहनीय कर्म बिल्कुल नहीं रहा तब वेदनीय कर्म को सहायता भी कहाँ से मिल सकती है? और जब कि वेदनीय कर्म को मोहनीय कर्म की सहायता न मिले तब वह वेदना भी कैसे उत्पन्न कर सकता है? यानी नहीं कर सकता।

मोहनीय कर्म जब रहता है तब साता वेदनीय के उदय से इन्द्रिय जनित सुख होता है जो कि राग भाव से वेदन किया जाता है और असाता वेदनीय कर्म के उदय से जो दुख होता है उसका द्वेष भाव से वेदन किया जाता है। केवली भगवान् के जब कि राग, द्वेष ही नहीं रहा तब इन्द्रिय सुख दुख रूप वेदन ही कैसे होवेंगे? और जब दुःख रूप वेदन नहीं, फिर भूख कैसे लगे? जिससे कि केवली को भोजन अवश्य करना पड़े। भूख का शुद्ध रूप बुभुक्षा है जिसका कि अर्थ ' खाने की इच्छा' होता है। केवली के

जब मोहनीय कर्म नहीं तब उनके खाने की इच्छा भी नहीं हो सकती। खाने की इच्छा उत्पन्न हुए बिना उनके भूख का कहना व्यर्थ तथा असंभव है। इसलिए भी केवली के कवलाहार नहीं बनता है।

भूख लगे दुख होय, अनंतसुखी कहिए किमि केवलज्ञानी ३

अन्य सब बातों को एक ओर छोड़ कर मूल बात पर विचार कीजिये कि अनंत सुख के स्वामी अर्हत भगवान् को भूख लग भी कैसे सकती? क्योंकि भूख लगने पर जीवों को बहुत भारी दुःख होता है। केवलज्ञानी को दुःख लेशमात्र भी नहीं है। इस कारण हमारे श्वेताम्बरी भाई या तो केवली भगवान् को 'अनंत सुखधारी' कहें-भूख वेदना से दुखी न बतलावें अथवा केवली को भूख की वेदना से दुखी होना कहें इसलिए अनन्तसुखी न कहें। बात एक बनेगी दोनों नहीं।

भूख की वेदना कितनी तीव्र दुःखदायिनी होती है इसको किसी कवि ने अच्छे शब्दों में यों कहा है-

आदौ रूप विनाशिनी कृशकरी कामस्य विध्वंसिनी,

ज्ञान भ्रंशकरी तपःक्षयकरी धर्मस्य निर्मूलिनी ।

पुत्र भ्रात कलत्र भेदनकरी लज्जा कुलच्छेदिनी,

सा मां पीडति विश्वदोष जननी प्राणापहारी क्षुधा ।

अर्थात्- क्षुधा पीडित मनुष्य कहता है कि भूख पहले तो रूप बिगाड़ देती है यानी मुख की आकृति फीकी कर देती है, फिर शरीर कृश (दुबला) कर देती है, काम वासना का नाश कर देती है, भूख से ज्ञान चला जाता है, भूख तप को नष्ट कर देती है, धर्म का निर्मूल क्षय कर देती है, भूख के कारण पुत्र, भाई, पत्नी में भेदभाव (कलह) हो जाता है, भूख लज्जा को भगा देती है, अधिक कहाँ तक कहें प्राणों का भी नाश कर देती है। ऐसे समस्त दोष उत्पन्न करने वाली क्षुधा (भूख) मुझे व्याकुलित कर रही है।

भूखे जीव की क्या दशा होती है, इसको एक कवि ने मार्मिक शब्दों में यो प्रगट किया है-

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं,

खादेत्क्षुधार्ता भुजंगी स्वमण्डम् ।

बुभुक्षितः किं न करोति पापं,

क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥

यानी- भूख से तड़फड़ाती हुई माता अपने उदर से निकाले हुए प्रिय पुत्र को छोड़ देती है। भूख से व्याकुल सर्पिणी अपने ही अंडों को खा जाती है। विशेष क्या कहें भूखा मनुष्य कौनसा पाप नहीं कर सकता? (यानी-सभी अनर्थ कर सकता है क्योंकि भूखे मनुष्य निर्दय हो जाते हैं।)

ऐसी घोर दुखदायिनी भूख परिषह यदि केवलज्ञानी को वेदनापन्न करे तो फिर केवली का अनन्तसुख क्या कार्यकारी होगा?

इसका उत्तर श्वेताम्बरी भाई देवें।

भूख अपनी दुखवेदना केवली को भी आपके अनुसार कष्ट तो देती है, क्योंकि आप उनके क्षुधा परीषह नाम मात्र को ही नहीं किन्तु कार्यकारिणी भी बतलाते हैं। फिर जब कि केवली भूख की वेदना से दुखी होते हैं तब उनको पूर्ण सुखी बतलाना व्यर्थ है। वे हमारे तुम्हारे समान अल्पसुखी ही हुए। जैसे हमको भूख, प्यास लगती है, खा पी लेने पर शांत हो जाती है, आपके कहे अनुसार केवली की भी ऐसी ही दशा रही।

खात विलोकन लोकालोक, देखि कुद्रव्य भखे किमि ज्ञानी?

तथा अर्हत भगवान् को समस्त लोक अलोक को हाथ की रेखा समान बिना उपयोग लगाये ही स्पष्ट जानने वाला केवल ज्ञान प्राप्त हो चुका है जिसके कारण वे लोक में भोजन के अन्तराय उत्पन्न करने वाले अनन्त अपवित्र पदार्थों को प्रत्येक समय बिना कुछ प्रयत्न किए साफ देख रहे हैं फिर वे भोजन कर भी कैसे सकते हैं?

साधारण मुनि भी माँस, रक्त, पीव, गीला चमड़ा, गीली हड्डी, किसी दुष्ट के द्वारा किसी जीव का मारा जाना देखकर, शिकारी आततायी आदि द्वारा सताए गए जीवों का रोना-विलाप सुनकर भोजन को छोड़ देते हैं फिर भला उनसे बहुत ऊँचे पद में विराजमान, यथाख्यात चारित्रधारी केवलज्ञानी अपवित्र पदार्थों को तथा दुःखी जीवों को केवलज्ञान से स्पष्ट जान कर भोजन किस प्रकार कर सकते हैं? अर्थात् अंतराय टालकर निर्दोष आहार किसी तरह नहीं कर सकते।

माँस, खून, पीव, निरपराध जीव का निर्दयता से कत्ल (वध) आदि देखकर भोजन करते रहना दुष्ट मनुष्य का कार्य है, क्या केवलज्ञानी सब कुछ जान-देख कर भी भोजन करते हैं? सो क्या वे भी वैसे ही हैं?

केवलज्ञानी के असाता का उदय कैसा है?

कोई भी कर्म हो अपना अच्छा-बुरा फल बाह्य निमित्त कारणों के मिलने पर ही देता है। यदि कर्म की प्रकृति अनुसार बाहरी निमित्त कारण न हों तो कर्म बिना फल दिए झड़ जाता है। जैसे किसी मनुष्य ने विष खाकर उसको पचा जाने वाली प्रबल औषध भी खा ली हो तो वह विष अपना काम नहीं करने पाता है।

कर्म सिद्धांत के अनुसार इस बात को यों समझ लेना चाहिए कि देवगति में (स्वर्गों में) असाता वेदनीय कर्म का भी उदय होता है अहमिन्द्र आदि उच्च पद प्राप्त देवों के भी पूर्व बँधे हुए असाता वेदनीय कर्म का स्थिति अनुसार उदय होता है किन्तु उनके पास बाहर के समस्त कारण-कलाप सुखजनक हैं इस कारण वह असाता वेदनीय कर्म भी दुःख उत्पन्न नहीं करने पाता। साता वेदनीय रूप होकर चला जाता है।

तथा नरकों में नारकी जीवों के समय अनुसार कभी साता वेदनीय कर्म का भी उदय होता है किन्तु वहाँ पर द्रव्य क्षेत्रादि की सामग्री दुःखजनक ही है इस कारण वह साता वेदनीय कर्म नारकीय को सुख उत्पन्न नहीं कर पाता; दुःख देकर ही चला जाता है।

एवं तेरहवें गुण स्थान में यानी केवलज्ञानियों के ४२ कर्म प्रकृतियों का उदय होना जिनमें से अस्थिर, अशुभ, दुःस्वर, अप्रशस्त विहायगति तथा तैजसमिश्र आदि अनेक ऐसी अशुभ प्रकृतियाँ हैं जो कि उदय में तो आती हैं किन्तु बाहरी कारण अपने योग्य न मिल सकने के कारण बिना बुरा फल दिए चली जाती हैं। क्योंकि अस्थिर प्रकृति के उदय से केवलज्ञानी के धातु-उपधातु अपने स्थान से चलायमान होकर शरीर को बिगाड़ते नहीं हैं। (श्वेताम्बरीय सिद्धांत के अनुसार) अशुभ नाम कर्म के उदय से केवलज्ञानी का शरीर खराब हो जाता है और दुःस्वर प्रकृति के उदय से केवलज्ञानी का असुन्दर स्वर हो जाता है। इत्यादि।

इसी प्रकार केवली भगवान् के यद्यपि असाता वेदनीय कर्म का उदय होता है किन्तु केवलज्ञानी के निकट दुःख उत्पन्न करने वाला कोई निमित्त नहीं होता है, सब सुख उत्पन्न करने वाले ही कारण होते हैं। अनन्त सुख प्रगट हो जाता है। इसी कारण वह असाता वेदनीय निमित्त कारणों के अनुसार सातारूप में होकर बिना दुःख दिए चला जाता है।

श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती ने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रंथ की २७३-२७५वीं गाथाओं में कहा है कि-

समयद्धिदगो बंधो सादस्सुदयपिगो जदो तस्स ।  
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥२७४॥  
सादेण कारणेणदु सादसेसव हु णिरंतरो उदओ ।  
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ॥२७५॥

अर्थात्-क्योंकि केवलज्ञानी के सिर्फ साता वेदनीय कर्म का बंध एक समय स्थिति वाला होता है जो कि उस ही समय उदय आ जाता है। इस कारण उस साता वेदनीय के उदय के समय, पहले बंध हुए असाता वेदनीय कर्म का यदि उदय हो तो वह भी साता वेदनीय के निमित्त से साता रूप होकर ही चला जाता है। इसी कारण केवलज्ञानी के सदा साता वेदनीय का उदय रहता है। अतएव असाता वेदनीय के उदय से होने योग्य क्षुधा आदि ११ परीषह नहीं हो पाते हैं।

इस प्रकार कर्मसिद्धांत से भी स्पष्ट हो गया कि केवलज्ञानी को न तो भूख लग सकती है और न वे उसके लिए भोजन ही करते हैं।

## भोजन करना आत्मिक दुःख का प्रतीकार है

केवलज्ञान के प्रगट होने पर अर्हत भगवान् में अनन्त ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होता है जिससे कि केवलज्ञानी अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शन धारी, अनन्तसुखी और अनन्त आत्मिक शक्ति सम्पन्न होते हैं। तदनुसार केवली भगवान् को कवलाहारी मानने वाले श्वेतांबरी सम्प्रदाय के समक्ष यह प्रश्न स्वयमेव खड़ा हो जाता है कि 'जब केवलज्ञानी पूर्णतया अनन्त सुखी होते हैं तो फिर उनको भूख का दुःख किस प्रकार हो सकता है जिसको कि दूर करने के लिए उन्हें विवश (लाचार) होकर साधारण मनुष्यों के समान भोजन अवश्य करना पड़े?

इस प्रश्न का उत्तर यदि कोई श्वेताम्बरीय सज्जन यह दें जैसा कि कतिपय सज्जनों ने दिया भी है कि 'केवली वास्तव में अनन्त सुखी ही होते हैं। उनके आत्मा को लेशमात्र भी दुःख नहीं होता। अतएव वे उस दुःख का अनुभव भी नहीं कर सकते। हाँ केवली भगवान् को असाता वेदनीय कर्म के उदय से भूख अवश्य लगती है किन्तु

वह भूख का दुःख शारीरिक होता है- उनके शरीर को दुःख होता है आत्मा को नहीं। इस कारण भूख लगने के समय भी केवली भगवान् अपने आत्मा के अनन्त सुख का अनुभव करते रहते हैं। जिस प्रकार ध्यान-मग्न साधु के ऊपर असह्य शारीरिक वेदना देने वाला उपसर्ग होता है किन्तु उनको वह दुःख रंचमात्र भी नहीं मालूम होता। वे अपने आत्मा के अनुभव में लीन रहते हैं।'

श्वेताम्बरीय भाइयों का यह उत्तर भी निःसार है अतएव उपहास जनक है। क्योंकि भूख से यदि केवलज्ञानी के आत्मा को असह्य कष्ट न होवे तो उनको भोजन करने की आवश्यकता ही क्या? भोजन मनुष्य तब ही करते हैं जबकि उनका आत्मा व्याकुल हो जाता है। किसी भी कार्य करने में समर्थ नहीं रहता। ज्ञान शक्ति विद्यमान रहने पर भी क्षुधा की असह्य वेदना से किसी विषय का विचार नहीं कर सकते।

इस कारण केवलज्ञानी को कवलाहारी माना जाय तो यह भी निःसन्देह मानना होगा कि उनको भूख का असह्य दुःख उत्पन्न होता है उसको दूर करने के लिए ही वे भोजन करते हैं। यह मानने से वे अनन्त, अविच्छिन्न सुख के अधिकारी नहीं माने जा सकते।

## केवलज्ञानी को भूख कैसे मालूम होती है?

हम सरीखे अल्पज्ञ जीवों को तो भूख लगने पर बहुत भारी व्याकुलता उत्पन्न होती है। इस कारण हमारा मन हमको खबर दे देता है। उसकी सूचना पाते ही हम भोजन सामग्री एकत्र करने में लग जाते हैं। भोजन तैयार हो जाने पर खाना आरंभ कर देते हैं और तब तक खाते-पीते रहते हैं जब तक हमारा मन शांति न पा ले। मन की शान्ति देखकर हम खाना बंद कर देते हैं।

इसी प्रकार केवलज्ञानी को जब भूख लगे तब उन्हें मालूम कैसे हो कि उनको भूख लगी है? क्योंकि उनके मन (भावरूप) रहा नहीं है। इस कारण मानसिक ज्ञान नहीं। यदि वे केवलज्ञान से अपनी भूख को जानकर भोजन करते हैं तो बात कुछ बनती नहीं क्योंकि केवलज्ञान से तो वे सब जीवों की भूख को जान रहे हैं। फिर वे औरों की भूख जानने के समय भी भोजन क्यों नहीं करते हैं क्योंकि दोनों जानने बराबर हैं उनमें कुछ अंतर नहीं, तथा जब उन्हें केवलज्ञान से यह बात मालूम हो कि उन्हें भोजन अमुक घर का मिलेगा; फिर भिक्षा शुद्धि कैसे बनेगी? एवं भोजन ग्रहण करने वे

स्वयं जाते नहीं। दूसरों द्वारा लाए भोजन को पा लेते हैं। फिर उनके भिक्षा शुद्धि कैसे बने? और भिक्षा शुद्धि के बिना निर्दोष आहार कैसे हो?

तथा-भोजन करते-करते केवली की उदरपूर्ति को मन बिना कौन बतलाए? केवलज्ञान तो सभी मनुष्यों के भोजन द्वारा पेट भर जाने को बतलाता है।

## मोह के बिना खाना-पीना कैसे?

मनुष्य अपने लिए कोई भी कार्य करता है वह बिना मोह के नहीं करता है। यदि वह अपने किसी इस लोक-परलोक संबंधी लाभ के लिए कोई काम करता है तो वहाँ उसके राग-भाव होते हैं। और जहाँ जान-बूझकर अपने या दूसरों के लिए कोई बुरा कार्य करता है तो वहाँ द्वेष भाव होता है। तदनुसार जिस समय वह अपनी भूख मिटाने के लिए भोजन करने को तैयार होता है उस समय उसको अपने प्राणों से तथा उन प्राणों की रक्षा करने वाले उस भोजन से राग (प्रेम) होता है। वह समझता है कि यदि मैं भोजन नहीं करूँगा तो मर जाऊँगा। इस कारण मरने के भय से भोजन करता है।

केवलज्ञानी जिनको लेश मात्र भी मोह नहीं रहा है, राग-द्वेष जड़ मूल से दूर हो चुके हैं, उनके फिर भोजन करने की इच्छा किस प्रकार हो सकती है? और बिना इच्छा के अपने प्राण रक्षणार्थ भोजन भी वे कैसे कर सकते हैं?

उन्हें अपने औदारिक शरीर रक्षा की इच्छा तथा मरने से भय होगा तो वे भोजन करेंगे। बिना इच्छा के भोजन को हाथ क्यों लगावें? भोजन का ग्रास (कौर-कवल) बनाकर मुख में कैसे रखें? बिना इच्छा के उसे दांतों से चबाने का श्रम (मेहनत) तथा कष्ट क्यों करें? और बिना इच्छा के उस चबाए हुए मुख के भोजन को गले के नीचे कैसे उतारें? यानी-ये सब कार्य इच्छा-रागभाव से ही हो सकते हैं।

यह तो है नहीं कि विहायोगति कर्म के उदय से तथा अन्य देशवर्ती जीवों के पुण्य विपाक के निमित्त से जैसे उनके गमन होता है या वचनयोग के वश से तथा भव्य जीवों के पुण्य विपाक से जैसे-दिव्यध्वनि होती है उसी प्रकार केवली भगवान् के भोजन भी बिना इच्छा के वेदनीय कर्म के उदय से अपने आप हो जायगा; क्योंकि आकाश गमन और दिव्यध्वनि में एक तो केवली भगवान् का कोई निजी स्वार्थ नहीं

जिससे उनके उस समय इच्छा अवश्य होवे। दूसरे वे दोनों कार्य कर्म के उदय से परवश उन्हें करने पड़ते हैं, नाम कर्म कराता है। परंतु वेदनीय कर्म तो ऐसा नहीं कर सकता।

वेदनीय कर्म यदि आपके कहे अनुसार कार्य भी करे तो अधिक से अधिक यही कर सकता है कि असह्य (न सहने योग्य) भूख वेदना उत्पन्न कर दे किंतु वह भोजन करने की इच्छा तो किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि इच्छा वेदनीय का कार्य नहीं है और न बलपूर्वक (जबरदस्ती) भोजन ही करा सकता है। क्योंकि वह तो (असाता वेदनीय) केवल दुःख उत्पादक है। दुःख हटाने की चेष्टा मोहनीय कर्म कराता है। इस कारण केवली भगवान् भोजन करें तो मोह अवश्य मानना पड़ेगा।

तथा- एक बात यह भी है कि केवल ज्ञानी यदि भोजन करें तो अपनी-अपनी जठराग्नि के (पेट की भोजन पचाने वाली अग्नि के) अनुसार कोई केवली थोड़ा भोजन करेंगे और कोई बहुत करेंगे; क्योंकि ऐसा किए बिना उनके पूर्ण तृप्ति नहीं होगी। पूर्ण तृप्ति हुए बिना उन्हें शांति, सुख नहीं मिलेगा। अतः यदि वे पेट पूरा भरकर भोजन करें तो अन्न लोगों के समान भोगाभिलाषी हुए। यदि भूख से कुछ कम भोजन करें तो दो दोष आते हैं; एक तो यह कि उनका पेट खाली रह जाने से पूरी तृप्ति नहीं होगी अतः सुख में कमी रहेगी। दूसरा यह कि जब से यथाख्यात चारित्र पा चुके हैं तब उन्हें ऊनोदर (भूख से कम खाना) तप करने की आवश्यकता ही क्या रही?

तथा- यदि भोजन कर लेने पर कुछ भोजन शेष रह जाय तो उसे क्या फिकवा देंगे? या किसी को खिला देंगे? यदि फिकवा देंगे तो उस भोजन में सम्मूर्जन जीव उत्पन्न होंगे, हिंसा के साधन बनेंगे। यदि उस बचे हुए भोजन को कोई खा लेगा तो उच्छिष्ट (झूठा) भोजन कराने का दूषण केवली को लगेगा।

सारांशः यह है कि भोजन करने पर केवली भगवान् मोही तथा दोषी अवश्य सिद्ध होंगे। इसी कारण गोम्मटसार कर्मकांड में कहा है-

णट्टा य रायदोसा इंदियणाणं च केवलिस्स जदो।  
तेणदु सातासातज सुहदुक्खं णत्थिं इंदियजं ॥१२७॥

यानी- केवली भगवान् के राग, द्वेष तथा इन्द्रियज्ञान नष्ट हो चुके हैं इस कारण साता वेदनीय तथा असाता वेदनीय के उदय से होने वाला इन्द्रियजन्य सुख या दुःख केवली के नहीं है।

इस कारण मोहनीय कर्म बिलकुल नष्ट हो जाने से भी केवली भगवान् भोजन नहीं करते हैं।

## केवली की भोजन-विधि

### केवली भोजन करें भी क्यों?

मनुष्य भोजन मुख्यतया चार कारणों से करते हैं-१- भूख लगने से दुःख होता है, उस दुःख को दूर करने के लिए भोजन करना आवश्यक है। २- भोजन नहीं करने से भूख के मारे बुद्धि कुछ काम नहीं करती है। ३- भोजन नहीं करने से बल घट जाता है। ४- भोजन न करने से मृत्यु भी हो जाती है। इन चार कारणों से विवश (लाचार) होकर मनुष्य भोजन किया करते हैं।

किन्तु केवली भगवान् में तो ये चारों ही कारण नहीं पाए जाते क्योंकि पहला कारण तो इसलिए उनके नहीं है कि उनके मोहनीय कर्म के अभाव से अनंत सुख (अतीन्द्रिय सुख) प्रगट हो गया है इस कारण उनको किसी प्रकार का लेशमात्र भी दुख नहीं हो सकता। क्योंकि अनंत सुख वह है जिससे कि किसी भी तरह का जरा भी दुख न हो फिर भूख का बड़ा भारी दुख तो उनके होवे ही क्यों? और जब कि उनको भूख का कुछ दुख ही नहीं लगता तब उन्हें भोजन करने की क्या आवश्यकता? यानी कुछ आवश्यकता नहीं।

दूसरा कारण इसलिए नहीं है कि अर्हत भगवान् के ज्ञानावरण कर्म नष्ट हो जाने से अनन्त अविनाशी केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया है। वह कभी न तो कम हो सकता है और न नष्ट हो सकता है जिससे कि उनको भोजन करना आवश्यक हो।

तीसरा कारण इसलिए नहीं है कि अंतराय कर्म न रहने से उनके अनंत बल उत्पन्न हो गया है। इस कारण वे यदि भोजन न भी करें तो उनका बल कम नहीं हो सकता।

चौथा कारण इसलिए नहीं है कि वे आयु कर्म नष्ट होने के पहले किसी प्रकार शरीर छोड़ (मर) नहीं सकते क्योंकि केवली भगवान् की अकाल मृत्यु नहीं होती है। ऐसा आप श्वेताम्बरी भाई भी मानते हैं। फिर जबकि उनकी आयु पूर्ण होने के पहले केवली भगवान् की मृत्यु ही नहीं हो सकती तब भोजन करना व्यर्थ है। भोजन न करने पर भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं।

इस कारण केवली भगवान् को क्वलाहार मानना निरर्थक है। भोजन करने से उन्हें कुछ लाभ नहीं। फिर वे निष्प्रयोजन कार्य क्यों करें? क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोपि न प्रवर्तते' यानी बिना मतलब विचारा मूर्ख (अल्पबुद्धि) आदमी भी किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता है।

श्वेताम्बर भाई कहते हैं कि केवली भगवान् अपने लिए भोजन लेने स्वयं नहीं जाते किन्तु उनके लिए गणधर या इतर कोई मुनि भोजन ले आते हैं। उस भोजन को अर्हत भगवान् दिन के तीसरे पहर यानी १२ बजे के पीछे ३ बजे तक के समय में खाते हैं। अर्हत भगवान् के भोजन करने के लिए 'देवच्छन्दक' नाम का स्थान बना होता है उस पर बैठकर भोजन करते हैं। अतिशय से भोजन करते हुए वे इन्द्र या दिव्यज्ञान धारी मुनि के सिवाय किसी को दिखलाई नहीं देते।

इस प्रकार भोजन करने से केवली के एक तो भोजन करने की इच्छा सिद्ध होती है। जिससे कि वे प्रत्येक दिन तीसरे पहर अपने स्थान (गन्धकुटी) से उठकर उस देवच्छन्दक स्थान पर जाकर बैठते हैं और भोजन करते हैं तथा भोजन करके फिर अपने स्थान पर चले आते हैं।

दूसरे- उनके परिणामों में व्याकुलता आ जाना सिद्ध होता है क्योंकि उनके परिणामों में जब भूख से व्याकुलता होती होगी तभी वे उठकर और कार्य छोड़ भोजन करने जाते हैं।

तीसरे- भोजन करना केवली के लिए इस कारण भी अनुचित सिद्ध होता है कि वे भोजन करते हुए साधारण जनता को दिखाई नहीं देते। जैसे उपदेश देते समय वे सबको दिखलाई देते हैं। जो कार्य कुछ अनुचित होता है वह ही छिपकर किया जाता है। तथा लोग उस देवच्छन्दक स्थान को जानते तो होंगे ही। तदनुसार सिंहासन खाली देखकर समझ भी लेते होंगे कि भगवान् भोजन करने गए हैं।

चौथे - भोजन करने के पीछे साधुओं को भोजन सम्बन्धी दोष हटाने के लिए कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण करना पड़ता है सो केवली स्वयं करते हैं या नहीं? यदि करते हैं तो भोजन करना दोष ठहरा। यदि नहीं करते तो भोजन बनने में जो गृहस्थ से त्रस, स्थावर जीव का घात हुआ तथा भोजन लाने वाले मुनि से जाने-आने में जो हिंसा हुई, वे दोष केवली भगवान् ने कैसे दूर किए?

पाँचवे- भोजन करने से उनको निहार यानी पाखाना और पेशाब भी आता है, ऐसा आप मानते हैं। किन्तु वे पाखाना तथा पेशाब करते दिखलाई नहीं देते।

इस प्रकार भोजन करने से उनके शरीर में टट्टी-पेशाब सरीखे गंदे मैल पैदा हो सकते हैं जिनके कारण अनंतसुखी केवली भगवान् को एक दूसरी घृणित आफत तैयार हो गई।

मुनि आत्मारामजी का उसी ५७१वें पृष्ठ में यह भी कहना है कि 'सामान्य केवलियों के तो विविक्त देश में (एकान्त में) मलोत्सर्ग करने से (टट्टी-पेशाब करने से) दोष नहीं है,' इसलिए यह भी मालूम हुआ कि सामान्य केवलियों के टट्टी-पेशाब करने को मनुष्य उस एकान्त स्थान में जाकर देख भी सकते हैं।

छटे- केवली भगवान् को भोजन कराने के लिए कोई मुनि पास में रहता होगा जो कि केवली भगवान् के हाथ में भोजन रखता जाता होगा क्योंकि केवली पाणिपात्र (हाथ में) भोजन करने वाले होते हैं, पात्रों में भोजन नहीं करते। जैसा कि आत्मारामजी ने तत्त्वनिर्णय प्रासाद के ५६७ पृष्ठ पर लिखा है, 'अर्हत भगवन्तों को पाणिपात्र होने से।' इसलिए भोजन पान कराने वाले एक मनुष्य की आवश्यकता भी हुई।

सातवें- वात, पित्त, कफ के विषम हो जाने से अथवा आहार रूखा, सूखा, टंडा, गर्म आदि मिलने से केवली के पेट में कुछ गड़बड़ भी हो सकती है। जिससे कि केवली भगवान् को पेचिश आदि रोग भी हो सकते हैं। तब फिर उन रोगों को दूर करने के लिए औषध लेने की आवश्यकता भी केवली को होगी जैसे कि आप श्वेतांबरी भाईयों के कहे अनुसार महावीर स्वामी को हुई थी।

आठवें- नगर में या इधर-उधर अग्नि लगने, युद्ध आदि उपद्रव होने से अन्तराय हो जाने के कारण किसी दिन आहार नहीं भी मिल सकता है जिससे कि उस दिन केवली भगवान् भूखे भी रह सकते हैं।

नौवें- वैक्रियक शरीरी देव ३२/३३ पक्ष यानी सोलह साढ़े सोलह मास पीछे थोड़ा सा आहार लेते हैं। औदारिक शरीर वाले भोगभूमिया मनुष्य तीन दिन पीछे बेर के बराबर आहार करते हैं और टट्टी-पेशाब आदि मल-मूत्र नहीं करते। किन्तु केवली भगवान् प्रतिदिन उनसे कई गुना अधिक आहार करते हैं तथा प्रतिदिन टट्टी-पेशाब भी उन्हें करना पड़ता है। इसलिए अनंत सुख वाले केवली भगवान् से तो वे देव और भोगभूमिया ही हजारों गुणे अच्छे रहे। वेदनीय कर्म ने केवली भगवान् को उनकी अपेक्षा बहुत कष्ट दिया।

(१. देखो मुनि आत्मारामजी कृत वि.सं. १०५८ के छपे हुए तत्त्वनिर्णय प्रासाद का ५७१वाँ पृष्ठ "अतिशय के प्रभाव से भगवन्त का निहार भी मांस-चक्षुओं वाले के अदृश्य होने से दोष नहीं है।)

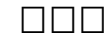
दसवां- एक अनिवार्य दोष यह भी आता है कि केवली भगवान् मल-मूत्र करने के पीछे शौच(गुदा आदि मलयुक्त अंगों को साफ) कैसे करते होंगे? क्योंकि उनके पास कमंडलु आदि जल रखने का बर्तन नहीं होता है जिसमें कि पानी भरा रहे।

इत्यादि अनेक अटल दोष केवली के कवलाहार करने के विषय में आ उपस्थित होते हैं जिनके कारण श्वेतांबरी भाइयों का पक्ष बालू की भीत के समान अपने आप गिरकर धराशायी हो जाता है। हमको दुख होता है कि श्वेताम्बरी प्रसिद्ध साधु आत्मारामजी आदि ने केवली का कवलाहार सिद्ध करने में असीम परिश्रम करके व्यर्थ समय खोया। वे यदि केवली भगवान् के वीतराग पद का तथा उनके अनन्त चतुष्टयों का जरा भी ध्यान रखते तो हमारी समझ से निष्पक्ष होकर इतनी भूल कभी नहीं करते।

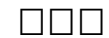


## हाईकू

आज्ञा का देना,  
आज्ञा पालन से है,  
कठिनतम



जितना चाहो,  
जो चाहो जब चाहो  
क्यों कभी मिला



आज्ञा का देना,  
आज्ञा पालन से है,  
कठिनतम

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## सारांश-९

यह सब लिखने का सारांश यह है कि क्षुधा (भूख) एक असह्य दुख है जो कि अनन्त सुखधारक केवली के नहीं हो सकता; क्योंकि या तो वे असह्य दुःखधारी हो सकते हैं या अनन्त सुखधारी ही हो सकते हैं।

तथा-भोजन करना रागभाव से होता है। बिना राग-भाव के भोजन करके अपना उदर तृप्त करना बनता नहीं। केवली भगवान् मोहनीय कर्म को नष्ट कर चुके हैं इस कारण रागभाव उनमें लेशमात्र भी नहीं रहा है। अतः वे रागभाव के अभाव में भोजन भी नहीं कर सकते? इसलिए या तो उनके कवलाहार का अभाव कहना पड़ेगा अथवा वीतरागता का अभाव कहना पड़ेगा।

एवं भोजन न करने पर भी केवली भगवान् का ज्ञान न तो घट सकता है और न बल कम हो सकता है तथा न उनकी भोजन न करने के कारण मृत्यु ही हो सकती है; एवं न उन्हें कोई किसी प्रकार की व्याकुलता ही उत्पन्न हो सकती है। क्योंकि वे ज्ञानावरण, मोहनीय और अंतराय कर्मों का बिल्कुल क्षय करके अविनाशी, अनंतज्ञान, सुख और बल प्राप्त कर चुके हैं। इस कारण केवली को कवलाहार (ग्रासवाला भोजन) करना सर्वथा निष्प्रयोजन है।

वेदनीय कर्म विद्यमान रहता हुआ भी मोहनीय कर्म की सहायता न रहने से केवली भगवान् को कुछ फल नहीं दे सकता। तथा- वेदनीय कर्म में स्थिति, अनुभाग (फल देने की शक्ति) कषाय के निमित्ति से पड़ती हैं सो केवली भगवान् के कषाय बिलकुल न रहने से वेदनीय कर्म में बिल्कुल स्थिति नहीं पड़ती है। पहले समय में आकर उसी समय में कर्म झड़ जाता है। वह एक समय भी आत्मा के साथ नहीं रहने पाता। दूसरे-उसमें अनुभाग शक्ति जरा भी नहीं होगी इस कारण भस्म किए हुए (प्रयोग द्वारा सुधारे हुए) संख्या के समान वह कर्म अपना कुछ भी फल नहीं दे सकता। इसलिए वेदनीय कर्म का उदय कर्मसिद्धांत के अनुसार क्षुधा, तृषा आदि परिषहों को उत्पन्न नहीं कर सकता। श्वेताम्बरीय ग्रंथकार स्वयं केवली के अक्षय, अतीन्द्रिय, अनुपम, अनन्त, अप्रतिहत, स्वाधीन सुख मानते हैं। फिर भला वे ही बतायें कि ऐसा सुख रहते हुए भी उन्हें क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परिषह किस प्रकार कष्ट दे सकते हैं।

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि अपने पक्ष में अटल दूषण आते देखकर भी हमारे श्वेताम्बरी भाई केवली भगवान् के वेदनीय कर्म के उदय से ११ परिषहों का होना हठकर बतलावें तो उन्हें इस बात का भी उत्तर देना होगा कि क्षुधा, तृषा परिषह मिटाने के लिए तो आपने सदोष कवलाहार करने की कल्पना कर ली किन्तु शेष ९ परिषहों का कष्ट केवली भगवान् के ऊपर से टालने के लिए क्या प्रबन्ध कर छोड़ा है?

क्या केवली भगवान् को शीत उष्ण परिषह से सर्दी-गर्मी का कष्ट होता रहता है, उसे हटाने का कोई उपाय नहीं? क्या उन्हें दंशमशक परिषह के अनुसार डांस, मच्छर आदि कष्ट देते रहते हैं, कोई उन्हें बचाता नहीं है? चर्या शय्या परिषह के अनुसार क्या केवली भगवान् को चलने और लेटने का कष्ट सहना पड़ता है? वध परिषह के अनुसार क्या कोई दुष्ट मनुष्य, देव, तिर्यञ्च उन्हें आकर मारता भी है? रोग परिषह क्या उनके शरीर में रोग पैदा कर देता है? तृणस्पर्श परिषह के निमित्त से क्या हाथ-पैरों में तिनके, कटि आदि चुभते हैं, और क्या मल परिषह उनके शरीर पर मैल उत्पन्न करके केवली को दुख देता रहता है?

इन दुखों के दूर करने का भी कोई प्रबंध सोचा होगा। यदि केवली के उक्त ९ परिषहों के द्वारा ९ प्रकार के कष्ट होते हैं तो उनके निवारण का उपाय क्या होता है? यदि इन ९ परिषहों का कष्ट केवली महाराज को होता ही नहीं तो क्षुधा, तृषा का ही क्यों कष्ट उन्हें अवश्य होना माना जाय?

इसी कारण स्वर्गीय कविवर पं. चानतरायजी ने एक सर्वैया में कहा है-

भूख लगे दुख होय, अनन्तसुखी कहिए किमि केवलज्ञानी।  
खात विलोकत लोकालोक देख कुद्रव्य भखे किमि ज्ञानी॥  
खायके नींद करें सब जीव, न स्वामि के नींद की नाम निशानी,  
केवलि कवलाहार करें नहिं सांची दिगम्बर ग्रंथ की वानी॥

यानी- भूख लगने पर बहुत दुःख होता है फिर भूख लगने से केवलज्ञानी अनंतसुखी कैसे हो सकते हैं? तथा केवली भगवान् भोजन करते हुए भी समस्त लोक, अलोक को स्पष्ट देखते हैं फिर वे मल, मूत्र, रक्त, पीव आदि अपवित्र घृणित लोक के पदार्थों को देखकर भोजन कैसे कर सकते हैं? एवं भोजन करने के पीछे सब कोई आराम करने के लिए सोया करते हैं किन्तु केवलज्ञानी सोते नहीं। इस कारण 'केवली भगवान् के कवलाहार नहीं है' यह कथन दिगम्बर जैन ग्रंथों में है, वह बिल्कुल ठीक है।



## केवली भगवान् का स्वरूप

अब हम संक्षेप रूप से केवली भगवान् का स्वरूप उल्लेख करते हैं।

जिस समय दशवें गुण स्थान के अंत में अथवा बारहवें गुणस्थान के आदि में मोहनीय कर्म का और उसके अंत में ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय कर्म का क्षय हो जाता है उस समय साधु तेरहवें गुण स्थान में पहुँच जाते हैं और उनके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य यह अनंतचतुष्टय उत्पन्न हो जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने से उन्हें केवली तथा सर्वज्ञ भी कहते हैं। क्योंकि वे उस समय समस्त काल और समस्त लोक के समस्त पदार्थों को एक साथ जानते हैं।

उस समय उनमें जन्म, जरा, तृषा, क्षुधा, आश्चर्य, पीड़ा खेद, रोग, शोक, मान, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, पसीना, राग, द्वेष, और मरण ये १८ दोष नहीं रहते हैं? तथा १० अतिशय होते हैं। उनके आसपास चारों ओर सौ योजन तक दुर्भिक्ष नहीं होता है, उनके केश नहीं बढ़ते हैं, न उनके नेत्रों के पलक झपकते हैं, उनके शरीर की छाया भी नहीं पड़ती, वे पृथ्वी से ऊँचे निराधार गमन करते हैं। उनके आस-पास रहने वाले जाति विरोधी जीव भी विरोधभाव छोड़कर प्रेम से रहते हैं। इत्यादि।

केवली भगवान् का शरीर मूत्र, पाखाना आदि मल रहित होता है, न उसमें निगोद राशि रहती है और न उसमें रक्त, माँस आदि धातुएँ बनती हैं।

शुद्धस्फटिक संकाशं तेजो मुर्तिमयं वपुः।

जायते क्षीण दोषस्य समधातु विवर्जितम् ॥

यानी- दोषरहित केवली भगवान् का शरीर शुद्ध स्फटिक मणि के समान तेजस्वी और समधातु रहित होता है।

केवली भगवान् यद्यपि कवलाहार (भोजन) नहीं करते हैं किंतु लाभान्तराय कर्म का क्षय हो जाने से उनको क्षायिक लाभ नामक लब्धि प्राप्त हो जाती है इस कारण उनके शरीर पोषण के लिए प्रतिसमय असाधारण, शुभ, अनंत नोकर्म वर्गणाएँ आती रहती हैं। इस कारण कवलाहार न करने पर भी नोकर्म आहार उनके होता है। इसलिए उनका परम औदारिक शरीर निर्बल नहीं होने पाता। आहार ६ प्रकार का ग्रंथों में बतलाया है, उनमें से नोकर्म आहार केवली भगवान् के बतलाया है-

णोकम्म कम्महा रो कवलाहारो य लेप्पमाहा रो।  
उज्झमणोविय कमसो आहारो छब्बिहो णेयो ॥  
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारे य माणसो अमरे।  
कवलाहारो णरपसु उज्झो पक्खीय इगि लेऊ ॥

अर्थात्- अहार ६ प्रकार का है, नोकर्म आहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप्य आहार, ओज आहार, और मानसिक आहार इनमें से नोकर्म आहार केवलज्ञानियों के होता है, कर्म आहार नारकी जीवों के होता है, मानस आहार देवों के, कवलाहार मनुष्य, तिर्यञ्चों के, ओज आहार (माता के शरीर की गर्मी) अंडे में रहने वाले तथा लेप्य (मिट्टी पानी आदि का लेप) आहार वृक्ष आदि ऐकेंद्रिय जीवों के होता है।

इस कारण औदारिक शरीर केवल कवलाहार से ही रह सके यह बात नहीं है किन्तु नोकर्म, लेप्य और ओज आहार के कारण भी औदारिक शरीर पुष्ट होता है। अंडे के भीतर रहने वाले जीवों को उनकी मादा के शरीर की गर्मी से (सेने से) ही पुष्टि मिल जाती है इस कारण उनका वह मादा का सेनेरूप ओज ही आहार है। वृक्षों को मिट्टी, खाद, पानी आदि ही पुष्ट कर देता है, इस कारण उनका वह लेप ही आहार है। साधारण मनुष्यों तथा तिर्यञ्चों का शरीर ग्रास रूप भोजन लेने से पुष्ट होता है। इस कारण उनका कवलाहार ही पोषक है। और केवल-ज्ञानी का परम औदारिक शरीर क्षायिक लाभरूप लब्धि के कारण आने वाली प्रतिसमय शुभ, असाधारण नोकर्म वर्गणाओं से ही पुष्टि पाता है इस कारण उनका नोकर्म आहार ही उनके होता है। इसी कारण कवलाहार न होने पर भी केवलज्ञानी भगवान् का परमौदारिक शरीर नोकर्म आहार से ठहरा रहता है।



## हाईकू

रोगी की नहीं,  
रोग की चिकित्सा हो,  
अन्यथा भोगो।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

# स्त्रीमुक्ति पर विचार

## क्या स्त्री को केवलज्ञान होता है?

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म कलंक मेटकर केवली पद अथवा मुक्तिपद केवल पुरुष ही प्राप्त कर सकता है या स्त्री भी मोक्ष पा सकती है?

सामने आए हुए इस प्रश्न का उत्तर दिगम्बर संप्रदाय तो यह देता है कि मुक्तिपद अथवा केवली पद पुरुष (द्रव्यवेद) ही प्राप्त कर सकता है। स्त्रीलिंग (द्रव्यवेद) से मोक्ष की या केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

इसी प्रश्न के उत्तर में श्वेताम्बर स्थानकवासी सम्प्रदाय का कहना यह है कि पुरुष और स्त्री दोनों समान हैं। जिस कार्य को पुरुष कर सकता है उस कार्य को स्त्री भी कर सकती है इस कारण मोक्ष या केवलज्ञान पुरुष के समान स्त्री भी प्राप्त कर सकती है।

इस कारण यहाँ इस विषय का निर्णय करते हैं कि स्त्री (द्रव्यवेदी यानी-स्त्री शरीर धारण करने वाली) अपने उसी स्त्री शरीर से मुक्ति प्राप्त कर सकती है या नहीं?

तदर्थ- प्रथम ही यदि शक्ति की अपेक्षा विचार किया जाय तो स्त्री के शरीर में मुक्ति प्राप्त करने योग्य वह शक्ति नहीं पाई जाती है जो कि पुरुष के शरीर में पाई जाती है। इस कारण पुरुष तो घोर, कठिन तपस्या करके कर्म जंजाल काट कर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। किन्तु स्त्री उतनी ऊँची कठिन तपस्या तक पहुँच नहीं सकती है, परीषहों का निश्चय रूप से सामना करके शुक्लध्यान प्राप्त नहीं कर सकती। अतएव उसे मोक्ष मिलना असंभव है।

औदारिक शरीर में शक्ति की हीनता, अधिकता का निश्चय संहननों के अनुसार होता है। जिस शरीर में जितना ऊँचा संहनन (हड्डियों का बंधन) होता है उस शरीर में बल भी उतना बड़ा होता है और जिस शरीर का जितना हीन संहनन होता है उस शरीर का बल भी उतना ही कम होता है। कर्मग्रंथों में पुरुषों के ऊँचे संहनन बतलाए हैं, इस कारण कर्म सिद्धांत के अनुसार पुरुषों में अधिक शक्ति होती है और स्त्रियों में कम होती है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कर्मभूमि वाली स्त्रियों के शरीर के संहनन इस प्रकार कहे हैं -

अंतिमतियसंहणणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं ।  
आदिमतियसंहणणं णत्थितत्ति जिणेहिं णिद्धिं ॥३४॥

अर्थात्- कर्मभूमि वाली स्त्रियों के अंत के तीन संहननों (अर्द्धनाराच, कीलक, असंप्रामासुपाटिका) का ही उदय होता है। उनके पहले तीन संहनन (वज्रक्रषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच) नहीं होते हैं।

इस प्रकार सबसे अधिक शक्तिशाली जो वज्रक्रषभनाराच संहनन धारी जीव होता है वह वज्रक्रषभनाराच संहनन पुरुष के ही होता है, कर्मभूमिज स्त्री के नहीं होता। 'मोक्ष कर्मभूमि में उत्पन्न होने वालों को ही मिल सकता है, भोगभूमिवालों को नहीं।' यह बात दिगम्बर सम्प्रदाय के समान श्वेताम्बर संप्रदाय भी सहर्ष स्वीकार करता है। तदनुसार उन्हें यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि जिस कर्म-भूमि में उत्पन्न होने वालों में मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता है उस कर्मभूमि की स्त्रियों के शरीर वज्रक्रषभनाराच संहनन वाले नहीं होते।

मोक्ष वज्रक्रषभनाराच संहनन वाले को ही प्राप्त हो सकता है ऐसा प्रवचन सारोद्धार के (चौथा भाग) संग्रहणीसूत्र नामक प्रकरण की १६०वीं गाथा में ७५ पृष्ठ पर स्पष्ट लिखा है-

‘पढमेणं जाव सिद्धीवि’ ॥१६०॥

अर्थात्- पहले वज्रक्रषभनाराच संहनन से देव, इन्द्र, अहमिंद्र आदि ऊँचे स्थान प्राप्त होते हुए मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है।

इस कारण अपने आप सिद्ध हो जाता है कि स्त्री मोक्ष नहीं पाती क्योंकि मोक्ष पद प्राप्त करने का कारण वज्रक्रषभनाराच संहनन उसके नहीं होता है। (स्त्री शब्द का अभिप्राय इस प्रकरण में कर्मभूमि की स्त्री से है।)

स्त्री के वज्रक्रषभ नाराच संहनन नहीं होता यह बात निम्नलिखित श्वेताम्बरीय ग्रंथों के प्रमाणों से भी स्वतः सिद्ध हो जाती है। प्रकरण रत्नाकर (चौथा भाग) के संग्रहणीसूत्र नामक प्रकरण की २३६वीं गाथा में ऐसा लिखा है-

दो पढम पुढवि गमणं छेवठ्ठे कीलियाइ संघयणे ।  
इक्किक्व पुढवि घुडडी वाइ तिलेस्साउ नरएसुं ॥२३६॥

यानी- असंप्रामासुपाटिका संहनन वाला जीव पहले दूसरे नरक तक जा सकता है आगे नहीं। कीलक संहनन वाला तीसरे नरक तक, अर्द्धनाराच संहननधारी चौथे नरक

तक, नाराच संहनन वाला पाँचवे नरक तक, ऋषभनाराच संहननधारी छठे नरक तक और वज्रऋषभनाराच संहनन-वाला जीव सातवें नरक तक जा सकता है।

इस गाथा से यह सिद्ध हुआ कि वज्रऋषभनाराच संहनन जीव ही इतना भारी घोर पापकर्म कर सकता है कि वह सातवें नरक में भी चला जावे। जिस जीव के शरीर में वज्रऋषभनाराच संहनन नहीं वह सातवें नरक जाने योग्य तीव्र अशुभ कर्म बंध भी नहीं कर सकता।

प्रकरण रत्नाकर (चौथा भाग) के संग्रहणी सूत्र में १००वें पृष्ठ पर उल्लेख है:

असन्नि सरिसिव पक्खी ससीह उरगिंच्छि जंति जा छट्ठि।

कमसो उक्कोसेणं सत्तम पुढवी मणुय मच्छा ॥२३४॥

यानी- असैनी जीव पहले नरक तक, साँप, गोह, न्योला आदि जीव दूसरे नरक तक, गिद्ध, बाज आदि माँसाहारी पक्षी तीसरे नरक तक, सिंह, चीता, भेडिया दुष्ट चौपाये पशु चौथे नरक तक, काला सर्प, दुष्ट अजगर आदि नाग पाँचवे नरक तक, स्त्री छठे नरक तक और पुरुष तथा मत्स्य (जलचर जीव) सातवें नरक तक, जा सकते हैं।

पहले लिखी हुई गाथा के अनुसार इस गाथा से स्पष्ट सिद्ध हो गया कि स्त्री के वज्रऋषभनाराच संहनन नहीं होता। इसी कारण वह ऐसा प्रबल शक्तिशाली अशुभ कर्मबन्ध करने में समर्थ नहीं जिसके कारण वह सातवें नरक जा सके। किन्तु पुरुष के वज्रऋषभनाराच संहनन होता है इसी कारण वह अपनी भारी शक्ति से इतना घोर पाप कार्य कर सकता है जिससे कि सातवें नरक में भी चला जावे।

इसी बात को दूसरे मार्ग से यों विचारिये कि श्वेतांबरिय ग्रंथों में १६ स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्ग ही माने हैं। ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, सतार ये चार स्वर्ग नहीं माने हैं। उनमें उत्पन्न होने का क्रम संहननों के अनुसार प्रवचन सारोद्धार ग्रंथ के (चौथा भाग) संग्रहणी सूत्र में ७५ वें पृष्ठ पर १६०वीं गाथा में ऐसा लिखा है-

छेवट्टेणउ गम्मइ चउरोजा कप्प कीलियाइसु।

चउसु दु दु कप्प वुद्धो पढमेणं जाव सिद्धी वि ॥१६०॥

अर्थात्-असंप्रामा सृपाटिका संहनन वाला जीव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा चौथे स्वर्ग तक के देवों में जन्म ले सकता है। कीलक संहननधारी पाँचवें-छठे स्वर्गतक, अर्द्धनाराच संहननवाला सातवें-आठवें स्वर्ग तक, नाराच संहननवाला नौवें-दशवें स्वर्ग तक तथा ग्यारहवें-बारहवें स्वर्ग तक ऋषभनाराच संहननधारी जीव जा सकता

है। इसके आगे अहमिन्द्र, नौ ग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तर विमानों में और यहाँ तक मोक्ष में भी वज्रऋषभनाराच संहनन वाला जीव ही जा सकता है।

इसके अनुसार यह सिद्ध हुआ कि कल्पातीत यानी-अहमिन्द्र विमानों में उत्पन्न होने योग्य पुण्यकर्म का संचय वज्रऋषभनाराच संहननधारी ही कर सकता है। अर्थात् वज्रऋषभनाराच संहनन के सिवाय अन्य किसी संहनन से उतना घोर तपश्चरण नहीं बन सकता जिससे अन्य किसी संहनन से उतना घोर योग्य पुण्यकर्म का संचय हो सके।

किन्तु स्त्री अपनी शक्ति के अनुसार घोर तपस्या करने पर भी मरकर बारहवें (दिगम्बर सम्प्रदाय के सिद्धांतानुसार सोलहवें) स्वर्ग से आगे नहीं जाती है। स्वर्गों में देव जब सर्वार्थसिद्धि विमान तक उत्पन्न होते हैं तब देवियाँ केवल पहले दूसरे स्वर्गों में उत्पन्न होकर बारहवें (दिगम्बरी सिद्धांत से सोलहवें) स्वर्ग तक जाती हैं। उसके आगे ग्रैवेयक, अनुत्तर आदि विमानों में नहीं जाती हैं। देखिए प्रवचन सारोद्धार चौथा भाग के ७८वें पृष्ठ पर लिखा है।

उववाओ देवीणं कप्पदुगं जा परो सहस्सारा।

गमणागमणं नच्छी अच्चुय परओ सुराणंपि ॥१६॥

यानी- देवियों की उत्पत्ति सौधर्म, ऐशान स्वर्गों में ही होती है। अपरिगृहीता देवियाँ अपने-अपने नियोग के अनुसार अच्युत स्वर्ग तक देवों के साथ रहती हैं उससे ऊपर नहीं। सहस्रार स्वर्ग तक की देवी मध्य लोक आदि में आती-जाती हैं। और देव अच्युत स्वर्ग तक के आते-जाते हैं। उससे ऊपर वाले देव अपने विमानों के सिवाय अन्य कहीं नहीं जाते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि स्त्रियों के शरीर में वह शक्ति नहीं होती है जिसके कारण अच्युत स्वर्ग से आगे कल्पातीत विमानों में जाकर उत्पन्न हो सकें। इसी से यह भी सिद्ध होता है कि निश्चल रूप से घोर, उत्कृष्ट तपश्चरण करने का कारण भूत वज्रऋषभनाराच संहनन (कर्मभूमिज) स्त्रियों के नहीं होता है। इसी कारण वे उतना कठिन तप नहीं कर पातीं जिससे २२ सागर से अधिक आयु वाले (स्त्रीलिंग छेद कर) पुरुष लिंग प्राप्त करने की अपेक्षा देवों में उत्पन्न हो सकें।

स्वर्गों में उत्कृष्ट आयु देवों की ही होती है, देवियों की नहीं। अच्युत स्वर्ग में जो उत्कृष्ट आयु २२ सागर की है वह पुरुषलिंगधारी देवों की ही है। स्त्रीलिंग धारी देवियों की उस अच्युत स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु केवल पचपन पल्य की ही होती है।

ऐसा ही प्रवचन सारोद्धार चौथा भाग के ७वें पृष्ठ पर लिखा है-

अच्युत देवाण पणवन्ना ॥१७३॥

यानी- अच्युत स्वर्ग वासी देवों की देवियों की आयु पचपन पल्य की होती है।

इससे भी यह प्रमाणित होता है कि स्त्रियों का शरीर उतना अधिक बल धारक नहीं होता है जिसके द्वारा कठिन तपस्या करके देव गति में उच्च पद तथा उत्कृष्ट आयु का बंध किया जा सके।

इस तरह से कर्म सिद्धांत के अनुसार स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा हीन शक्ति वाली ठहरती हैं। इस कारण निर्बल स्त्रियाँ, जब कि संसार में सबसे उत्कृष्ट सुख का स्थान सर्वार्थ सिद्धि आदि विमान और सबसे अधिक दुख के स्थान सातवें नरक को पाने योग्य शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध नहीं कर सकती, फिर वे मोक्ष को किस प्रकार प्राप्त कर सकती हैं? अर्थात् कदापि नहीं प्राप्त कर सकतीं।

पुरुष तथा स्त्री की शक्ति का विचार यह तो कर्म सिद्धांत के अनुसार हुआ। अब यदि हम व्यावहारिक दृष्टि से दोनों की शक्ति का विचार करने बैठें तो भी यह ही निश्चय होता है कि स्त्री जाति पुरुष जाति से बल में हीन होती है।

देखिए पुरुषों में पहले बाहुबली, रावण, हनुमान, भीम, अर्जुन, कर्ण, द्रोणाचार्य, आदि प्रख्यात वीर पुरुष हुए हैं जिनकी शूर वीरता को ऋषभनाथपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण(महाभारत) आदि ग्रंथ प्रगट कर रहे हैं। चन्द्रगुप्त, खारवेल, अमोघवर्ष, पृथ्वीराज, प्रतापसिंह, शिवाजी आदि प्रतापी शूरवीर राजा भी पुरुष ही थे जिनके कारण शत्रुओं की सेनाएँ भय से थरथरती थीं। यद्यपि कोई-कोई स्त्री भी शूरवीर हुई हैं किन्तु शूरवीर पुरुषों की अपेक्षा वे भी बलहीन ही थीं इसी कारण वे अंत में पराजित हुई हैं।

सेनाओं के नायक सेनापति सदा पुरुष ही होते आये हैं। राज सिंहासन पर बैठकर राज्य शासन करने वाले राजा भी सदा पुरुष ही हुए हैं। शासन करने की वास्तविक शक्ति स्त्रियों में होती ही नहीं। यदि कभी कहीं पर किसी स्त्री ने किसी कारणवश राज्य भी किया है तो वीर पुरुषों के सहारे से ही किया है। केवल अपने बाहुबल से नहीं किया है।

पुरुषों के समान स्त्रियों में बड़े-बड़े पहलवान भी नहीं हुए हैं। तथा पुरुष जिस प्रकार नीति से स्वीकार की हुई ९६-९६ हजार तक स्त्रियों को अपनी पत्नी बनाकर

उनका उपभोग करते रहे हैं, अब भी किसी-किसी देश में राजा के कई-कई सौ स्त्रियाँ विद्यमान हैं। इस प्रकार स्त्रियों ने पुरुषों के ऊपर अपना बल प्रगट नहीं किया है। इसी प्रकार निन्दनीय रूप से जैसे पुरुषों ने बलात् (जबर्दस्ती) स्त्रियों का अपहरण किया तथा बलात्कार (जबर्दस्ती विषयसेवन) किए तथा अब भी करते हैं, ऐसा पुरुषों पर स्त्रियों का बलप्रयोग आज तक नहीं हुआ। पशुओं में भी हम देखते हैं कि एक सांड अनेकानेक गायों के झुंड का शासन करता है।

जिन कठिन से कठिन कार्यों को पुरुष कर सकता है वे कार्य स्त्री से नहीं बन पाते। चक्रवर्ती नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि उत्कृष्ट बलधारक पद पुरुषों को ही प्राप्त होते हैं स्त्रियों को नहीं, ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रंथ स्वीकार करते हैं। देखिए प्रवचन सारोद्धार के (तीसरा भाग) ५४४-५४५ वें पृष्ठ पर लिखा है कि-

अरहंत चक्कि केसब बल संभिन्नेद्धा चारणे पुव्वा।

गणहर पुलाय आहारगं च नहु भविय महिलाणं ॥५२०॥

यानी- भव्य स्त्रियों के अर्हत, (तीर्थकर) चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, संभिन्नश्रोता, चारणक्रद्धि, पूर्वधारी, गणधर, पुलाक, आहारक क्रद्धि ये दश पद या लब्धियाँ नहीं होती हैं।

इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में निर्बलता सिद्ध होती है। स्त्रियों की इस निर्बलता से यह भी अपने आप सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ कठिन परीषहों को सहन करती हुई निश्चल रूप से घोर तपस्या नहीं कर सकती, इसी से शुक्ल ध्यान प्राप्त कर वे मोक्ष भी नहीं पा सकतीं।

निर्बलता के कारण ही स्त्रियों में पुरुषों के समान उच्च कोटि की निर्भयता, आदर्श पराक्रम, प्रबल साहस और प्रशंसनीय धैर्य भी नहीं होता है। उनका शरीर स्वभाव से पुरुषों की अपेक्षा कोमल, सुकुमार, नाजुक होता है। इसी कारण उन्हें अबला कहते हैं। अतएव स्त्रियाँ पर्वत, वन, गुफा, श्मशान आदि भयानक स्थानों में अटल, निर्भय रूप से ध्यान, तपश्चरण नहीं कर सकतीं। उनसे आतापन योग, प्रतिमा योग आदि नहीं बन सकते हैं।

सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार, पांडव, आदि मुनीश्वरों के समान असह्य परीषहों का सहन भी स्त्रियों से नहीं हो सकता। बाहुबली के समान कठिन आतापन योग भी उनके शरीर से नहीं बन सकता। इसलिए शुक्ल ध्यान पाकर उन्हें मुक्ति प्राप्त होना असंभव है।

## स्त्रियाँ पुरुषों से हीन होती हैं

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ हीन होती हैं इसलिए भी वे पुरुषों के समान मोक्ष नहीं पा सकती। स्त्रियों में पुरुषों से हीनता अनेक अपेक्षाओं से हैं।

प्रथम तो इसलिए कि वे समान पदधारी पुरुषों से वन्दनीय नहीं होती। लोक में देखा जाता है कि समान रूप में रहने वाले पति-पत्नि में से पत्नी नमस्कार करने योग्य नहीं होती किन्तु पति(पत्नि के लिए) वन्दनीय होता है। इसलिए स्त्री अपने पति को नमस्कार करती हैं, पति अपनी पत्नी को नमस्कार नहीं करता है।

परमार्थ दृष्टि में भी पुरानी आर्यिका भी (महाव्रत धारिणी) नवीन मुनि को भी नमस्कार करती हैं। साधु वह चाहे एक दिन का दीक्षित ही क्यों न हो, पुरानी भी आर्यिका को नमस्कार नहीं करता। कृतिकर्म कल्प का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कल्प सूत्र के दूसरे पृष्ठ पर लिखा है।-

### क्षितोपि

‘साध्वीभिश्च चिरदीक्षिताभिरपि नवदी

साधुरेव वन्द्यः प्रधानत्वात् पुरुषस्य इति।’

गु.टी. ‘साध्वी यदि चिरकालीन होय तो पण तेनाथी नवो दीक्षित साधु वंद्य छे कारण के धर्म पुरुषप्रधान छै।’

अर्थात्- साध्वी (आर्यिका) बहुत समय पहले की दीक्षित भी हो तो भी उस साध्वी द्वारा नया दीक्षित साधु वन्दनीय है। क्योंकि धर्म में पुरुष प्रधान होता है।

महाव्रतधारी साधुओं में यह नियम होता है कि जो पुराने समय का दीक्षित मुनि होता है उसको उससे पीछे दीक्षा लेने वाले साधु वन्दनीय मानकर नमस्कार करते हैं। किन्तु आर्यिका यदि पुराने समय की भी दीक्षित हो तो भी उसको नया मुनि नमस्कार नहीं करेगा किन्तु वह आर्यिका ही उस नवीन मुनि की वंदना करेगी। इससे सिद्ध होता है कि पुरुष जाति स्त्रियों की अपेक्षा ऊँचे दर्जे की हैं।

प्रकरण रत्नाकर (प्रवचन सारोद्धार तीसरा भाग) के २५६वें पृष्ठ पर लिखा है कि-

‘साधुओं पोताथी जे पर्याय वृद्ध साधु होय तेने वंदन करे अने साध्वीओ पर्याय ज्येष्ठ छ जे पण आजनां दीक्षित यतिने पुरुष ज्येष्ठ धर्मपणा थकी वांदि।’

यानी- साधु अपने से पहले दीक्षा लेने वाले साधु की वंदना करें और साध्वी (आर्यिका) पुरानी दीक्षित होने पर भी आज के दीक्षित साधु की वंदना करे क्योंकि पुरुष में बड़प्पन धर्म रहता है।

इस श्वेतांबरीय शास्त्रवाक्य से भी यह सिद्ध हुआ कि पुरुष स्वभावतः स्त्रियों से अधिक महत्त्व रखता है। इस स्वाभाविक महत्त्व के कारण ही पुरुष सबसे ऊँचे पद मोक्ष को पा सकता है, स्त्री नहीं।

दूसरे- स्त्री पर्याय श्वेतांबरीय सिद्धांतकारों के लेखानुसार पापरूप है और पुरुष की पर्याय पुण्यरूप है। देखिए श्वेतांबरीय तत्त्वार्थसूत्र जिसको श्वेतांबरीय भाई तत्त्वार्थाधिगम सूत्र कहते हैं। (इसमें तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के मान्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में अनेक सूत्रों में कमी वेशी भी है) उसके आठवें अध्याय का अंतिम सूत्र यह है-

‘सद्वेद्य सम्यक्त्व हास्य रति पुरुषवेद शुभायुर्नाम गोत्रणि पुण्यम्

यानी- साता वेदनीय, सम्यक्त्व प्रकृति, हास्य, रति, पुरुष वेद, शुभ आयु, शुभ नाम कर्म और ऊँच गोत्र ये आठ पुण्यकर्म हैं।

इसी सूत्र के सूत्रकार विरचित भाष्य में लिखा है कि-

‘इत्यै तदष्ट विधं कर्म पुण्यम्, अतोऽन्यत पापम्॥

यानी- ये आठ प्रकार के कर्म पुण्य रूप हैं और इनके सिवाय- शेष सब कर्म पापरूप हैं। इस कारण स्त्री शरीर का मिलना पापरूप है- पापकर्म का फल है इसलिए भी स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है। पुरुष कर्म सिद्धांत के अनुसार पुण्य रूप होता है इस कारण मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

तीसरे- सम्यग्दर्शन वाला जीव मर कर स्त्री पर्याय नहीं पाता पुरुष का शरीर ही धारण करता है। इस कारण भी स्त्री पुरुष से हीन ठहरती है। क्योंकि स्त्री शरीर हीन है तब ही सम्यग्दृष्टि जीव परभव में सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्त्री शरीर नहीं पाता। शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि-

छसु द्विद्विमासु पुढविसु जोइसवण भवण सव्व इत्थीसु।

वारसु मिच्छुववादे सम्माइट्टीण उप्पपज्जादि॥

यानी- सम्यग्दृष्टि जीव मरकर पहले नरक के सिवाय छह नरकों में, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवों में तथा सब प्रकार की (देवी, नारी, पशु मादा) स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता।

इसलिए भी स्त्री, पुरुष की अपेक्षा हीन होती है।

चौथे- इंद्र, चक्रवर्ती, मंडलेश्वर, प्रतिवासुदेव, बलभद्र, नारद, रुद्र आदि जग प्रसिद्ध पदधारक पुरुष ही होते हैं स्त्रियाँ नहीं होती। इस कारण भी पुरुष स्त्रियों से उच्च होते हैं और स्त्रियाँ उनसे हीन होती हैं।

पाँचवें- आनत आदि विमान वासी देव मरकर श्वेताम्बरीय शास्त्रों के अनुसार भी पुरुष पर्याय ही पाते हैं, अतः पुरुष उच्च होते हैं और स्त्रियाँ हीन होती हैं यह बात इससे भी सिद्ध होती है। देखिए प्रकरण रत्नाकर (चौथा भाग) के ७७-७८ वें पृष्ठ पर लिखा है कि-

आयणपमुहा चविउं मणुऐसु चेव गच्छंति ॥१६५॥

यानी- आनत आदि स्वर्गों के देव मरकर पुरुषों में ही उत्पन्न होते हैं। जबकि ग्रैवेयक, अनुत्तर विमानवासी देव मरकर मनुष्य ही होते हैं स्त्री नहीं होते तो मानना ही होगा कि मनुष्य स्त्रियों की अपेक्षा उच्च होते हैं- स्त्रियों से अधिक महत्त्वशाली होते हैं, इसी कारण मुक्ति भी वे ही प्राप्त कर सकते हैं। स्त्रियाँ मोक्ष नहीं पा सकतीं।

## स्त्रियों में ज्ञानशक्ति अल्प होती है

कर्म जाल को नष्ट करके मुक्ति पद पाने के लिए पर्याप्त ज्ञान की परम आवश्यकता है। जिसमें (स्त्री पर्याय टटि से) ज्ञान शक्ति विद्यमान नहीं अथवा पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता नहीं वह शुक्ल ध्यान करके मुक्ति भी कैसे पा सकता है? शुक्ल ध्यान करने के लिए द्वादश अंगों का ज्ञान हासिल करने की योग्यता होनी आवश्यक है, तदनुसार बारह अंगों का ज्ञान पुरुषों को तो प्राप्त हो जाता है, इस कारण पुरुष में तो श्रुतकेवली होने की तथा उस श्रुत ज्ञान के निमित्त से शुक्ल ध्यान प्राप्त करने की योग्यता है किन्तु स्त्री में पूर्ण श्रुत ज्ञान धारण करने की योग्यता नहीं है। जब उसको बारह अंगों वाले श्रुत ज्ञान को धारण कर श्रुतकेवली बनकर ध्यान करने की योग्यता नहीं तो मानना पड़ेगा कि उसको शुक्ल ध्यान भी नहीं हो सकता और न केवलज्ञान हो सकता है।

जो बकरी, घोड़े के उठाने योग्य भार उठाने के लिए भी असमर्थ है वह भला हाथी का भार कैसे उठा सकती है। इसी प्रकार स्त्रियों को जब पूर्ण श्रुतज्ञान धारण करने की योग्यता नहीं तो वे सकल प्रत्यक्ष, पूर्ण निरावरण, लोक-अलोक प्रकाशक केवल-ज्ञान को किस तरह प्राप्त कर सकती है?

स्त्रियों को १२ अंगों का ज्ञान तो एक ओर रहा किन्तु दृष्टिवाद अंग के एक भाग रूप चौदह पूर्वों का भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रंथ भी स्पष्ट बतलाते हैं। देखिए प्रकरण रत्नाकर (चौथा भाग) के कर्म ग्रंथ नामक प्रकरण में 'जोगोवओग लेस्सा' इत्यादि ५५वीं गाथा की टीका में ५९१वें पृष्ठ पर लिखा है कि-

'तथा प्रमत्त साधु ने आहारक तथा आहारक मिश्र ए वे योगें वर्ततां स्त्री वेदनों उदय न होय, जे भणी आहारक मिश्र योग चौदह पूर्वधर पुरुष नेज होय स्त्री ने तो चौदह पूर्वनुं भणवुं निषेधुं छे ज भणी सूत्रें कशु छे के-

तुच्छा गारव बहुला च जिंदिया दुब्बला अधीइए।

इअ अश्वसेस झयणा भूअ वा ओ अनोच्छीणं ॥

अर्थ- दृष्टिवाद जे वारमुं अंग ते स्त्री नें न भणाववुं जे भणी स्त्री-जाति स्वभावे तोछडी होय छे ते माटे गर्व घणो करे, विज्ञा जीववी न शके, इंद्रिय चंचल होय, बुद्धि ओछी होय ते मोटे ए अतिशय पाठ भणी स्त्री ने निषेधुं छे। ते दृष्टिवाद माँहें चौथे अधिकारें पूर्वट्टे माटे पूर्व भण्या बिना स्त्री आहारक शरीर न करे।

अर्थात्- प्रमत्त गुण स्थान वर्तिनी स्त्री को आहारक तथा आहारक मिश्र नहीं होता है क्योंकि आहारक, आहारक मिश्र चौदह पूर्वधारी पुरुष के ही होता है, स्त्री के तो चौदह पूर्व का पढ़ाना निषेध किया है। क्योंकि सूत्र में बतलाया है कि-

तुच्छा गारव बहुला च लिंदिया दुब्बला अधीइए।

इअ अइवसेस झयणा भूअ बा ओअ न च्छीणं ॥

यानी- दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग स्त्री को पढ़ाना चाहिए। क्योंकि स्त्री जाति स्वभाव से तुच्छ (हलकी) होती है, इसलिए गर्व (अभिमान घमंड) बहुत करती है, विद्या को पचा नहीं सकती, उसकी इन्द्रियाँ चंचल होती हैं, बुद्धि ओछी (हलकी) होती है। इसलिए अतिशय पाठ स्त्रियों को पढ़ाना निषिद्ध है। दृष्टिवाद अंग के पाँच अधिकारों में से चौथा अधिकार चौदहपूर्व है। इस कारण पूर्व पढ़ाये बिना स्त्री आहारक शरीर नहीं कर सकती है।

प्रकरण रत्नाकर के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री की प्रकृति स्वभाव से तुच्छ होती है। उसमें अधिक, अतिशय वाला ज्ञान पचाने की शक्ति नहीं होती। क्योंकि उसकी बुद्धि हीन होती है, इन्द्रियाँ चंचल होती हैं और उसको अभिमान बहुत होता है। इसलिए उसको चौदह पूर्व धारण करने की शक्ति नहीं। जबकि श्वेताम्बरीय कर्म ग्रंथ ऐसा स्पष्ट कहता है तो निर्णय अपने आप हो जाता है कि स्त्री में चौदह पूर्व

धारण करने की शक्ति कहाँ से आ सकती है? अर्थात् वह केवल ज्ञान भी धारण नहीं कर सकती। अतएव उसको मोक्ष भी नहीं हो सकता।

यह तो रहा कर्म सिद्धांत का अटल नियम, जिसको कि कोई मिटा नहीं सकता और न कम, अधिक या कुछ का कुछ कर सकता है। किन्तु इसके सिवाय हम यदि स्त्रियों के ज्ञान की दृष्टि से देखें तो भी मालूम होता है कि पुरुषों की सी प्रबल ज्ञान शक्ति स्त्रियों के नहीं होती है। संसार में जितने भी सिद्धांत, धार्मिक, लौकिक तथा राजनैतिक नियम बनकर प्रचलित हुए हैं वे सब पुरुषों की प्रखर बुद्धि-बल का ही फल हैं। समस्त दर्शनों की रचना पुरुषों ने ही की है। मन्त्र, यंत्र, योग, जादूगरी, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, संगीत आदि विषय पुरुष ने ही प्रचलित किए हैं। रेल, तार, टेलीफोन, ग्रामोफोन, जहाज, वायुयान, तोप, बंदूक, मोटर आदि अनगिनत प्रकार के उपयोगी यन्त्र पुरुषों ने ही बनाए हैं। आज तक जितने भी आविष्कार हुए हैं तथा हो रहे हैं वह सब पुरुषों की बुद्धि के ही मधुर फल हैं। ऐसा कोई आश्चर्यजनक पदार्थ नहीं दिख पड़ता है जो कि स्त्रियों ने अपनी बुद्धि से तैयार किया हो।

इसलिए लौकिक दृष्टि से भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ बुद्धि में हीन यानी थोड़े ज्ञानवाली ठहरती हैं। और जबकि वे हीन ज्ञानवाली होती हैं तो फिर उनमें केवलज्ञान का विकास कैसे हो सकता है? और बिना केवलज्ञान हुए वे मुक्ति भी कैसे पा सकती हैं?

अतएव सिद्ध हुआ कि स्त्रियों में अल्पज्ञान शक्ति होने के कारण उनको मोक्ष नहीं हो सकता।

## स्त्रियों में संयम की पूर्णता नहीं होती

मोक्ष प्राप्त करने का प्रधान साधन सम्यक् चारित्र की पूर्णता है। सम्यक् चारित्र पूर्ण हुए बिना कर्मों का क्षय नहीं होता। वैसे तो सम्यक् चारित्र चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है किन्तु मोहनीय कर्म नष्ट हो जाने से बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र प्राप्त हो जाने पर पूर्ण चारित्र कहा जाता है। परंतु स्त्रियों को देशचारित्र ही होता है, सकलचारित्र भी नहीं होता। इसी कारण उनके पाँचवें गुणस्थान से आगे कोई गुणस्थान नहीं होता। इसलिए सम्यक् चारित्र पूर्ण न हो सकने के कारण स्त्रियों को मोक्ष मिलना असंभव है।

स्त्रियों को सकलचारित्र क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्त्रियाँ ठीक तौर से महाव्रत धारण नहीं कर सकतीं। आर्यिकाओं के (साध्वी) जो महाव्रत कहे जाते हैं वे उपचार से कहे जाते हैं वास्तव में उनमें महाव्रत नहीं होते। स्त्रियों को महाव्रत न हो सकने का कारण यह है कि वे पूर्णरूप से परिग्रह का त्याग नहीं कर पाती हैं। उनके पास पहनने के कपड़े रूप परिग्रह अवश्य होता है। उत्कृष्ट जिन कल्पी श्वेताम्बरों के माने हुए साधु के समान वे समस्त वस्त्र त्याग कर नग्न होकर नहीं रह सकतीं। इस कारण उनके परिग्रह त्याग महाव्रत नहीं होता है और उसके न होने से अहिंसा महाव्रत भी नहीं होता। तथा बिना महाव्रत पालन किए छात्र प्रमत्त गुणस्थान भी कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं होता।

स्त्रियाँ पुरुषों के समान लज्जा परीषह नहीं जीत सकतीं, न वे नग्न परीषह सहन कर सकती हैं क्योंकि उनकी शारीरिक रचना ऐसी है कि जिससे उन्हें अपने गुह्य अंग वस्त्र से अवश्य छिपाने पड़ते हैं उनको छिपाए बिना उनका ब्रह्मचर्य व्रत स्थिर नहीं रह सकता। उनके खुले हुए गुम अंग उनके तथा अन्य पुरुषों के काम विकार उत्पन्न कराने के कारण हैं। अतः वस्त्र पहन कर उन अंगों को ढकना उनका प्रधान कार्य है। इस कारण स्त्रियों के आचेलक्य (वस्त्र रहितपना) नामक पहला कल्प नहीं होता और न मोक्ष के कारण भूत उत्कृष्ट जिन कल्पी साधु की नग्न दशा ही स्त्रियों से सध सकती है इस कारण उनके परिग्रह-त्याग महाव्रत नहीं हो सकता।

आचारांग सूत्र (श्वेताम्बरीय ग्रंथ) के आठवें अध्याय के सातवें उद्देश्य के ४३४ वें सूत्र में १२६वें पृष्ठ पर लिखा है कि-

‘अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंती, सीयफासा फुसंती तेउ फासा फुसंति, दंसम सग फासा, फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरुवरुवे फासा अहिंसा सेति अचले लाघवियं आगम माणे। तवेसे अभिसमन्नागए भवति। जहेतं भगवया पवेदियं तमेव अभियमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ॥४३४ ॥

अर्थात्- जो साधु लज्जा जीत सकता हो वह वस्त्र रहित नग्न ही रहे। नग्न रहकर तृणस्पर्श, सर्दी, गर्मी, दंशमशक तथा और भी अनुकूल प्रतिकूल जो परिषह आवें उन्हें सहन करे। ऐसा करने से साधु को अल्पचिन्ता (थोड़ी फिर) रहती है और तप भी प्राप्त होता है। इस कारण भगवान ने जैसा कहा है वैसा जानकर जैसे बने तैसे रहे।

आचारांग सूत्र के इस कथन से स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बरीय ग्रंथकार भी कपड़ों को परिग्रह मानते हैं। उसके कारण साधु के चित्त पर चिन्ता भार का होना स्वीकार करते हैं तथा इसकी कमी का भी अनुभव करते हैं। यानी श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों के मत से भी वस्त्र एक परिग्रह है। बिना उसका त्याग किए साधु की कपड़ों के संभालने, रखने, उठाने, रक्षा करने, धोने आदि संबंधी मानसिक चिन्ता दूर नहीं होती है और न तप पूर्ण होता है। इस कारण अभिप्राय यह साफ प्रगट होता है कि वस्त्र छोड़े बिना साधु का चारित्र पूर्ण नहीं होता और चारित्र पूर्ण न होने से वस्त्र रखते हुए साधु को मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिए स्त्रियों के श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों के मत वस्त्र पहनने वाली स्त्रियों के चारित्र की पूर्णता नहीं हो सकती।

इसी आचारांग सूत्र के ९५वें पृष्ठ पर सबसे नीचे पहली टिप्पणी में लिखा हुआ है कि- 'जिन कल्पिक होय तो सर्वथा वस्त्र रहित बनी अने स्थविर कल्पित होय तो अल्प वस्त्र धारण करी'। यानी- यदि साधु जिनकल्पी हो तो बिल्कुल वस्त्ररहित नग्न बने और यदि स्थविरकल्पी हो तो थोड़े वस्त्र पहने।

आचारांग सूत्र के टीकाकार की इस टिप्पणी से स्पष्ट होता है, कि साधु का ऊँचा वेश तो नग्न (नंगा) है। जो साधु नग्न न रह सकता हो वह विवश (लाचार) होकर थोड़े कपड़े पहनता है। मुक्ति ऊँचा आचरण पालन करने से ही होता है, इस कारण साधु जब तक नग्न न हो तब तक उसको मुक्ति मिलना असंभव है।

वस्त्र न रखने से साधु की मानसिक भावना कितनी पवित्र हो जाती है इस पर आचारांग सूत्र के छठे अध्याय के ३६०वें सूत्र में ९७वें पृष्ठ पर ऐसा प्रकाश डाला है-

'जे अचले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्सणो एवं भवई-परिजिन्ने मे वत्थे, वत्थे जाइस्सामि, सूत्रं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि, पाउणिस्सामि ॥ ३६० ॥

अर्थात्- जो मुनि वस्त्र रहित नग्न होता है उसको यह चिन्ता नहीं रहती कि मेरा कपड़ा फट गया है, मुझे दूसरा नया कपड़ा चाहिए, सीने का धागा चाहिए, सुई चाहिए, मुझे अपना कपड़ा जोड़ना है, सीना है, बढ़ाना है, फाड़ना है, पहनना है तथा उसकी तह करनी है।

आचारांग सूत्रकार जो स्वयं श्वेताम्बरीय आचार्य हैं, कपड़ा रखने के निमित्त से मुनियों की मानसिक चिन्ता का उसके वस्त्र सम्बंधी हर्ष विषाद का, राग द्वेष का अच्छा अनुभव करते हैं। इसी कारण बतलाते हैं कि जो साधु या साध्वी (आर्यिका) कपड़े

पहनते हैं उनको अपने कपड़ों के सीने, फाड़ने, जोड़ने, पहनने, रखने, उठाने, सुरक्षित रखने आदि की चिन्ता रहती है तथा नया कपड़ा गृहस्थ के यहाँ से माँगने की आकुलता रहती है। विचारने की बात है कि वस्त्र रखने से साधु के चित्त से ऐसी दुश्चिन्ता दूर नहीं हो सकती और जब तक मुनि के हृदय से दुश्चिन्ता दूर न हो तब तक वह अंतरंग - बहिरंग परिग्रह का त्यागी कैसे हो सकता है? तथा परिग्रह का त्याग हुए बिना छोटा गुणस्थान और उसके बहुत दूर आगे की मुक्ति भी कैसे हो सकती है?

स्त्री उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु के समान वस्त्र त्याग कर नग्न हो नहीं सकती क्योंकि प्रथम तो वह लज्जावश ऐसा कर नहीं सकती, दूसरे श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों ने भी स्त्री को नग्न रहने का निषेध किया है।

उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि-

'णो कप्पदि लिंग थीए अचेलाए होंताए।'

यानी - स्त्री को अचेल (नग्न-वस्त्र रहित) रहना योग्य नहीं है।

वस्त्र रखने से साधु को कितनी आपत्तियों का सामना करना पड़ता है इसका चित्र श्री शुभचन्द्राचार्य ने अच्छा खींचा है। वे लिखते हैं,

म्लाने क्षालयतः कुतः कृत जलाद्यारंभतः संयमो,  
नष्टे व्याकुल चित्तताथ महता मप्यन्यतः प्रार्थनम्।  
कोपीनेपि हते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते,  
तन्नित्यं शुचि राग हृत्शामवतां वस्त्रं ककुब्मंडलम्॥

अर्थात्- मुनि का कपड़ा मैला हो जाय तो उसे धोने की आवश्यकता होती है और वस्त्र धोने पर पानी का आरंभ होता है जिससे त्रस स्थावर जीवों की हिंसा के कारण संयम कैसे रह सकता है? यदि मुनि के वस्त्र खो जावें तो उसके मन में व्याकुलता होती है तथा स्वयं उच्चपद धारी होकर भी साधु को निम्न पदस्थ गृहस्थों से कपड़े माँगने पड़ते हैं। यदि कोई चोर, डाकू आदि दूसरा मनुष्य मुनि की कोपीन (चोलपट्ट-लंगोटी) भी छीन लेवे तो साधु को झट उस पर क्रोध भाव हो जायगा। इस कारण साधु के लिए ये वस्त्र हितकर नहीं हैं किन्तु पवित्र और राग भाव को हटाने वाले दिशारूपी वस्त्र यानी नग्न रहना ही ठीक है।

वस्त्र रखने के विषय में यदि थोड़ा भी विचार किया जावे तो मालूम हो जाता है कि जब शरीर से राग भाव न हो तब शरीर ढकने के लिए कपड़े पहने ही क्यों जावे?



अपने लिए कपड़े गृहस्थों से मांगना- यह तभी बन सकता है जबकि कपड़े से थोड़ा बहुत राग भाव होवे। साधु या आर्यिका अपने पास वस्त्र रखे तो उसे उनकी रक्षा के लिए भी सावधान रहना होगा क्योंकि उन कपड़ों के बिना उसका किसी तरह काम नहीं चल सकता। वस्त्र एक आत्मा से जुदा अन्य पदार्थ है। उसकी रक्षा के लिए सावधान होना यह ही मूर्छा है, पर-वस्तु का राग है, मोह है और लोभ कषाय है, ममत्व है। इसके रहते स्त्री महाव्रत धारिणी कैसे हो सकती है?

यदि कोई आर्यिका (साध्वी) ध्यान कर रही है उसका कपड़ा उस समय वायु आदि से उसके शरीर से उतर गया तो उस समय उसको उस कपड़े को संभालने के लिए ध्यान छोड़ना होगा। इस रीति से भी यदि देखा जावे तो वस्त्र संयम को बिगाड़ने का साधन है।

कपड़ों में शरीर के पसीने से जूं, लीख आदि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं तथा चींटी, खटमल, मच्छर आदि जीव-जंतु इधर-उधर से कपड़ों में आकर रह जाते हैं। उन जीवों का शोधना शरीर से उतारकर झाड़े-फटकारे आदि बिना नहीं हो सकता। और झाड़ने-फटकारने से उन जीवों का घात होता है। इस कारण कपड़ों के उठाने, रखने, सुखाने, धोने, फाड़ने, फटकारने आदि कार्यों से असंयम होता है। अतएव स्त्री को वस्त्रों के कारण निर्दोष संयम नहीं हो सकता और निर्दोष संयम हुए बिना मोक्ष नहीं मिल सकता।

संयमी की उच्च दशा वस्त्र रहित नमन रूप है। उस दशा को बिना प्राप्त किए अंतरंग शुद्धि नहीं होती है। अतएव वस्त्र त्याग किए बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इस कारण स्त्री को यथाख्यात चारित्र तथा मुक्ति होना असंभव है।

वस्त्रों के कारण साध्वी का परिग्रह त्याग महाव्रत तथा अहिंसा महाव्रत नहीं बन सकता है। इसका अच्छा खुलासा, गुरु का स्वरूप नामक प्रकरण में आगे करेंगे। इस कारण इसके यहीं समाप्त करते हैं।

## स्त्रियों की शारीरिक रचना

स्त्रियों के शरीर की रचना भी उनको मुक्ति प्राप्त करने में बाधक कारण है। उनकी शारीरिक रचना उनके हृदय में परम पवित्रता नहीं आने देती जिससे कि स्त्रियों को अप्रमत्त आदि गुणस्थान तथा सकल चारित्र, यथाख्यात चारित्र हो सके, तथा उनके अंगोपांग भी ऐसे हैं कि उनके कारण ध्यान में दृढ़ता नहीं रह सकती, वे क्षोभ उत्पन्न करा देते हैं, इस कारण उनको शुक्ल ध्यान होना कठिन नहीं किन्तु असंभव है।

प्रथम तो स्त्रियों के अंगों में (योनि, स्तन, और काँख में) सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं। श्वेताम्बरीय सिद्धांत के अनुसार केवलज्ञान हो जाने पर भी औदारिक शरीर में कुछ अंतर नहीं आता। समस्त धातु-उपधातु पहले जैसे ही रहते हैं। तदनुसार (श्वेताम्बर व सिद्धान्तानुसार) स्त्रियों के केवली होने पर भी उन अंगों में सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति, मरण होता ही रहेगा। इस तरह स्त्री का शरीर स्वभाव से हिंसा का स्थान है। इस हिंसा को दूर करना स्त्रियों की शक्ति से बाहर है। अतः उनके शरीर से संयम की शुद्धता पूर्ण नहीं हो सकती।

दूसरे- स्त्रियों का शरीर बाह्य शुद्धि नहीं रख सकता क्योंकि उनके अंग से अशुद्ध मल बहता रहता है। प्रति मास और कभी बीच-बीच में भी रजस्त्राव (रज निकलना) हुआ करता है जिससे कि वे अपवित्र रहती हैं। उस समय उनको किसी मनुष्य, स्त्री का शरीर, शास्त्र आदि स्पर्श करने की आज्ञा नहीं है और उस अपवित्रता में ध्यान नहीं बन सकता है। यह सदाकालीन अशुचिता भी मानसिक पवित्रता में बाधक है।

तीसरे- कम से कम प्रतिमास मासिक धर्म (रजस्वला) हो जाने के पीछे स्नान करने के लिए साध्वी को (आर्यिका को) जल की आवश्यकता होती है। इस कारण आरंभ का दोष उनसे नहीं छूट सकता। बिना आरंभ छूटे महाव्रत भी कैसे पल सकते हैं?

चौथे- साध्वी स्त्री को रजस्वला हो जाने के पीछे अपनी साड़ी आदि बदलने की भी आवश्यकता होती रहती है। इस कारण विवश (लाचार) होकर उन्हें गृहस्थ से वस्त्रों की याचना करनी पड़ती है क्योंकि बिना दूसरा वस्त्र बदले उनके शरीर तथा हृदय में पवित्रता नहीं आती। इस कारण वस्त्र रूप परिग्रह से उनका छुटकारा नहीं होता। अतएव उनके महाव्रत होना असंभव है।

पाँचवे : ध्यान करते समय यदि कोई दुष्ट पुरुष स्त्रियों के गुण अंगों को छू ले तो उसी समय उनके मन में विकार उत्पन्न होकर ध्यान छूट जाता है। इस कारण स्त्रियों के अपने शारीरिक अंगों के कारण निश्चल ध्यान भी नहीं बन सकता।

इत्यादि अनेक दोष आ जाने के कारण स्त्रियों का शरीर मोक्ष प्राप्ति का बाधक कारण है, इसलिए उन्हें मुक्ति मिलना असंभव है।

## सारांश

ऊपर बतलाए हुए कारणों से श्वेताम्बर सम्प्रदाय का स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी कथन असत्य प्रमाणित होता है क्योंकि ज्ञान, चारित्र, शक्ति, शुचिता आदि जिस किसी दृष्टि से भी विचार करते हैं यह ही सिद्ध होता है कि स्त्री को महाव्रत, शुक्ल ध्यान होना, यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति तथा मोक्ष का मिलना असंभव है। इस स्त्री मुक्ति के विषय में श्री शुभचन्द्राचार्य यों लिखते हैं।

स्त्रीणां निर्वाणसिद्धिः कथमपि न भवेत्सत्य शौर्याद्यभावात्

माया शौच प्रपंचान्मल भय क्लुषा न्नीच जातेरशक्ते।

साधूनां नत्य भावाः प्रबल चरणता भावातः पुरुषतो न्य

भावाद्धिं साङ्गकत्वात् सकल विमल सद्ग्रहान हीनत्वत च ॥

अर्थात्- स्त्रियों में सत्य, शूरता आदि गुणों का अभाव होता है। मायाचार, अपवित्रता उनमें अधिकतर पाई जाती है। रज मल, भय और क्लुषता उनमें सदा रहती है, उनकी जाति निम्न नीच होती है, उनमें उत्कृष्ट बल नहीं होता, साधु उनको नमस्कार नहीं करते, उत्कृष्ट चारित्र उनके नहीं होता है, वे पुरुषों से भिन्न स्वभाव वाली होती हैं, उनमें संपूर्ण निर्मल ध्यान की हीनता होती है। इस कारण स्त्रियों को कदापि मुक्ति नहीं हो सकती।

**द्रव्य पुरुषवेद से ही मुक्ति होती है।**

संसार का नाश और मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य गति से होती है यह निर्विवाद सिद्ध है। क्योंकि नरक गति में रोने, मारने, पीटने आदि दुःखों में जीवन व्यतीत होता है। देव गति में विषय भोगों से विराग ही नहीं होने पाता और पशु गति में ज्ञान की कमी से ध्यान, संयम, रत्नत्रय आदि सामग्री नहीं मिल पाती। मनुष्य गति में सब प्रकार की

सामग्री मिल जाती है इस कारण मनुष्य गति से स्वर्ग, नरक, तिर्यच, मुक्ति आदि सभी गतियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

किन्तु मनुष्य गति पाकर भी नपुंसकों को शक्ति के अभाव से तथा प्रबल काम वेदना से वीतराग भाव नहीं हो पाते। इसलिए उनको मुनि दीक्षा ग्रहण करने का भी अधिकार नहीं है। अतः उनको मोक्ष नहीं होता है। स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त करने योग्य साधनों का अभाव है यह सिद्ध कर ही चुके हैं।

अतः शेष रहे उनको ही सब प्रकार के साधन प्राप्त हैं। वज्र ऋषभनाराच संहनन, वस्त्र रहित नग्न वेश, कठिन से कठिन परीषह सहन करने योग्य अनुपम धैर्य, उच्च कोटि का ज्ञान महाव्रत आदि कर्मनाश करने के समस्त कारण मनुष्यों को मिल जाते हैं। इस कारण योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मिल जाने पर जो मनुष्य मुनिव्रत धारण कर ध्यान करता है वह भव्य पुरुष कर्मनाश करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

श्वेताम्बर मुनि आत्मारामजी ने जो तत्त्वनिर्णय प्रासाद के ६१८वें पृष्ठ निम्नलिखित त्रिलोकसार की गाथा लिखकर दिगम्बरीय शास्त्रों से स्त्री मुक्ति सिद्ध करनी चाही है वह उनकी हास्य जनक मोटी भूल है। क्योंकि उसमें स्त्री शरीर धारी जीव को मुक्ति नहीं बतलाई है किन्तु द्रव्य पुरुष वेदी को ही ९वें गुणस्थान के पहले भावों की अपेक्षा स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद बतलाए हैं। वह गाथा यह है-

बीस नपुंसयवेया इत्थीवेया य हुंति चालीसा।

पुंवेया अडयाला सिद्धा इक्काम्मि समयम्मि ॥

अर्थात्- भाव वेद की अपेक्षा एक समय में अधिक से अधिक बीस नपुंसकवेदी चालीस स्त्री वेदी, और ४८ पुरुष वेदी ऐसे १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि त्रिलोकसार के रचयिता श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती द्रव्यस्त्री तथा द्रव्य नपुंसक को भी मोक्ष होना बतलाते हों। किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि श्रेणी चढ़ते समय किसी मुनि के भाव स्त्री वेद का उदय होता है किसी के नपुंसक भाववेद का उदय होता है और किसी के पुरुष भाववेद का उदय होता है। द्रव्य से सब पुरुषधारी ही होते हैं। भावों की अपेक्षा वेद नोकषाय के उदय से केवलज्ञानि गम्य उनके भिन्न-भिन्न वेद हो सकते हैं।

श्वेताम्बर मुनि आत्मारामजी यदि श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती की लिखी हुई गाथा का ठीक अभिप्राय समझने का कष्ट उठाते तो वे कभी ऐसी मोटी भूल नहीं करते;

क्योंकि जो श्री नेमिचन्द्राचार्य गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखते हैं कि:

अंतिमतियसंहणणस्सुदओ पुण कम्म्यमूभिमहिलाणठ।

आदिमतियसंहणणा यत्थित्ति जिणेहिं णिद्धिट्ठं॥३४॥

यानी- कर्म भूमिज स्त्रियों के (जो चारित्र धारण कर सकती है) अंतिम तीन संहनन होते हैं। उनके वज्र ऋषभनाराच आदि तीन उत्तम संहनन नहीं होते हैं।

इस गाथा द्वारा वे स्त्रियों के वज्रऋषभनाराच संहनन का स्पष्ट निषेध करते हैं जिनके बिना मोक्ष प्राप्त होना असंभव है।

दिगम्बरीय ग्रंथों में द्रव्य स्त्री को पाँचवें गुणस्थान से आगे का कोई गुणस्थान नहीं बतलाया है, परिग्रह त्याग महाव्रत का अभाव बतलाया है। फिर भला, उनको मुक्ति होना वे कैसे बतला सकते हैं। दिगम्बर जैन ग्रंथकारों का यह जग प्रसिद्ध सिद्धांत है कि नग्न वेश धारण किए बिना छटा आदि गुणस्थान नहीं होता है। स्त्रियाँ नग्न हो नहीं सकतीं। अतः उनको छटा गुणस्थान भी नहीं हो सकता। मुक्ति तो चौदहवें गुणस्थान से भी आगे होगी।

अतः सारांश यह है कि पुरुष का शरीर होने पर भी भाव पलटने से मनुष्य के स्त्री, नपुंसक वेद का उदय हो आता है। इस बात को श्वेताम्बरीय ग्रंथकार भी स्वीकार करते हैं। इसी भाव वेद परिवर्तन के अनुसार पुरुषलिंग शरीरधारी को भावों की अपेक्षा स्त्री, नपुंसक बतलाया है और उस अन्य भाव वेदधारी साधु को श्रेणी पर चढ़कर मुक्त होना बतलाया है।

किंतु यहाँ इतना ध्यान और रहे कि नौवें गुणस्थान के आगे यह कोई भी भाववेद नहीं रहता, केवल द्रव्य पुरुष वेद ही रहता है। इस कारण 'वीस नपुंसक वेद' आदि गाथा का कथन भूत प्रज्ञापन भाव वेद की अपेक्षा से है। अतः सिद्ध हुआ कि पुरुष को ही मुक्ति होती है। यदि स्त्री पर्याय ही इस वेद का अर्थ होता तो वह वेद नौवें गुणस्थान के आगे सर्वथा नष्ट हो जाना जो बताया है वह कैसे बन सकता है?

## क्या श्री मल्लिनाथ तीर्थकर स्त्री थे?

इस हुंडावसर्पिणी युग के चौथे काल में जो श्री ऋषभदेव, अजितनाथ आदि २४ तीर्थकर हुए हैं जिन्होंने क्रम से अपने-अपने समय में जैन धर्म का उद्धार, प्रचार किया है उनमें से १९वें तीर्थकर का नाम श्री मल्लिनाथ था। इन १९वें तीर्थकर के विषय में

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का यह कहना है कि ये पुरुष नहीं थे, स्त्री थे। उनका नाम यद्यपि श्वेताम्बरीय ग्रंथों में 'मल्लिनाथ' ही लिखा है। अन्य प्राचीन श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों की बात तो एक ओर रहे किन्तु उसके नवीन प्रसिद्ध ग्रंथकार मुनि आत्मारामजी ने जैन तत्त्वादर्श ग्रंथ के २१वें पृष्ठ पर तीर्थकरों के ५२ बावन बोल बतलाते हुए इन १९वें तीर्थकर का नाम 'श्री मल्लिनाथ' ऐसा लिखा है। जिस शब्द के अंत में 'नाथ' शब्द होता है पुल्लिंग ही समझा जाता है। इस कारण उनके लिखे अनुसार भी श्री मल्लिनाथ तीर्थकर पुरुष ही थे।

किन्तु कुछ ग्रंथकारों ने कहीं-कहीं उनका नाम 'मल्लि कुमारी' लिखा है।

नियम विरुद्ध असत्य बात को 'अच्छेरा' कह कर टाल दिया है। 'अच्छेरा' शब्द का अर्थ एक तो आश्चर्य है। यानी ऐसी बात जो कि विस्मय (अचम्भा) उत्पन्न करने वाली हो। दूसरा इस 'अच्छेरा' शब्द का अर्थ यह भी किया जाता है कि 'अच्छेरा' यानी- ऐसी न हो सकने योग्य बातें जिनके विषय में कोई प्रश्न ही न छेड़ो। शंका रूप में ही रहने दो।

किन्तु ये सब बातें अपना दोष छिपाने के लिए हैं। बुद्धिमान पुरुष को प्राकृतिक नियमों के सामने प्रत्येक बात की सत्यता, असत्यता का निर्णय किए बिना मिथ्यात्व नहीं हट सकता, और सच्चा श्रद्धान नहीं हो सकता और इसी कारण सम्यग्दर्शन होना असंभव है।

उवसग्ग गुब्भहरणं इच्छी तिथ्थं अभाविआ-परिसा।

कण्हस्स अवरकंका अवयरणं चंदसूराणं॥८९२॥

अर्थात्- श्री महावीर स्वामी तीर्थकर पर उपसर्ग होना, महावीर स्वामी का गर्भहरण, स्त्री तीर्थकर मल्लि कुमारी, महावीर स्वामी की अभाविता परिषत् यानी उनका कुछ समय के लिए उपदेश व्यर्थ हुआ, कृष्ण का धातकी खंड की अपर कंका नगरी में जाना, चन्द्र सूर्य का अपने विमान सहित पृथ्वी पर उतरना ये अच्छे हैं।

इसके आगे ३५६वें पृष्ठ पर लिखा है-

'तीर्थ' शब्द द्वादशांगी अथवा चतुर्विध संघ ते त्रिभुवनने अतिशायी निरूपम महिमाना धणी एवा पुरुष थकीज प्रवर्तवु जोइये। ते आ वर्तमान चौबीसीमाँ कुंभ राजानी प्रभावती राणीनी पुत्री श्री मल्ली एवं नामे कुमरी थई तेणेज उगणीसमो तीर्थकर थइने तीर्थ प्रवर्ताव्यु ए पण त्रीजुं आश्चर्य जाणवुं।'

अर्थात्- 'तीर्थ' शब्द का अर्थ द्वादशांग अथवा श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका ये चार प्रकार का संघ है। इस द्वादशांग अथवा चतुर्विध संघ को चलाने वाला तीन लोक का अतिशयधारी, अनुपम महिमा का स्वामी ऐसा पुरुष ही होना चाहिए। किन्तु इस वर्तमान चौबीसी में कुंभ राजा की प्रभावती रानी की पुत्री श्रीमल्ली नाम की कुमारी हुई उसी ने उन्नीसवां तीर्थकर होकर तीर्थ चलाया। यह तीसरा आश्चर्य है।

यद्यपि स्त्री तीर्थकर होना, केवली होकर मोक्ष जाना आगम, अनुमान आदि प्रमाणों से विरुद्ध है जो कि हम पीछे सिद्ध कर आए हैं। किन्तु यहाँ पर इस श्री मल्ली कुमारी तीर्थकरी की बात को श्वेताम्बरीय शास्त्रों से भी प्रमाण विरुद्ध ठहराते हैं।

प्रकरण रत्नाकर अपर नाम प्रवचन सारोद्धार तीसरा भाग के ५४४वें पृष्ठ की अंतिम पंक्ति में एक गाथा यह है-

अरहंत चक्कि केसव बलसंभिन्नेय चारणे पुव्वा।

गणहर पुलाय आहारंग च न हु भविय महिलाणं॥५२०॥

यानी- अर्हंत, अर्थात् तीर्थकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, संभिन्न श्रोता, चारणऋद्धि, पूर्वधारित्व, गणधर, पुलाक और आहारक ऋद्धि ये दश पद भव्य स्त्रियों के नहीं होते हैं।

प्रवचन सारोद्धार नामक श्वेताम्बरीय सिद्धांत ग्रंथ के इस नियम के अनुसार स्त्री का तीर्थकर होना निषिद्ध है। फिर श्री मल्लिनाथ तीर्थकर को स्त्री कहना श्वेताम्बरीय आगम प्रमाण से बाधित है अतएव असत्य है। प्रवचन सारोद्धार की उक्त गाथा को प्रमाणिक स्वीकार करने वाले पुरुष को ऐमाता में बन्ध्या' यानी मेरी माता बंध्या (बांझ) है इस कहावत के अनुसार गलत है इसलिए श्वेताम्बरीय भाइयों के लिए इन दो बातों में से एक ही मान्य हो सकती है या तो वे श्री मल्लिनाथ तीर्थकर को पुरुष मानें-स्त्री न कहें, अथवा प्रवचन सारोद्धार को अप्रामाणिक कह दें।

दूसरे- मल्लिनाथ तीर्थकर का जीव तीसरे अनुत्तर विमान जयन्त से चयकर आया था ऐसा ही मुनि आत्मारामजी अपने जैन तत्त्वादर्श ग्रंथ के ३१ में पृष्ठ पर तीर्थकरों के बावनबोल में लिखते हैं। तदनुसार जयन्त विमान से आया हुआ श्रीमल्लिनाथ तीर्थकर का जीव स्त्री हो भी नहीं सकता, पुरुष ही हो सकता है ऐसा कर्म सिद्धांत का नियम है।

प्रकरण रत्नाकर के (चौथा भाग) संग्रहणी नामक प्रकरण के ७६वें पृष्ठ पर यह लिखा है कि,

आणयपमुहा चमिउं मणुएसु चेव गच्छंति॥१६५॥

अर्थात्- आनत आदि स्वर्गों के देव मरकर मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।

तदनुसार अनुत्तर विमानों में केवल देव ही होते हैं, देवी नहीं होती हैं। इस कारण वहाँ से आया हुआ जीव 'स्त्री' किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। फिर जयन्त विमान से आया हुआ श्री मल्लिनाथ तीर्थकर का जीव स्त्री कैसे हो सकता है? प्रवेयक के ऊपर सभी देव होते हैं और वे सभी पुरुष होते हैं, स्त्री कोई भी नहीं होता।

और सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्री होता नहीं ऐसा अटल नियम है। यदि सम्यग्दृष्टि जीवने मनुष्य आयु बांधली हो तो वह पुरुष ही होगा; स्त्री, नपुंसक कदापि न होगा। अनुत्तर विमानवासी सभी देव सम्यग्दृष्टि होते हैं और तीर्थकर प्रकृति वाला जीव तो कहीं भी क्यों न हो, सम्यग्दृष्टि ही होता है। फिर जयन्त विमान से चयकर आया हुआ श्री मल्लिनाथजी तीर्थकर का सम्यग्दर्शन धारक जीव स्त्री क्यों होवे? इसका उत्तर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पास कुछ नहीं है।

प्रकरण रत्नाकर के (चौथा भाग) छठे कर्मग्रन्थ की 'जोगोव-ओग लेस्सा' इत्यादि ५५वीं गाथा की टीका में यों लिखा है - (८-९वीं पंक्ति)

'अविरतिसम्यग्दृष्टि वैक्रियिक मिश्र तथा कार्मण कार्ययोगी ए बेहुने स्त्री वेदनों उदय न होय जे भणी वैक्रिय काययोगी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री वेदमाँहे न उपजे।'

अर्थात्- अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवाले वैक्रियिकमिश्र और कार्मणयोगधारी जीवके स्त्रीवेद का उदय नहीं होता है। क्योंकि वैक्रियिक काययोगवाला अविरत सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री नहीं होता है।

इससे यह सिद्ध हो गया कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवी नहीं होता है। इसके आगे इसी पृष्ठ में २६ से २८वीं तककी पंक्तियों में यों लिखा है-

'तथा औदारिकमिश्र काययोगीने चौथे गुणठाणे स्त्री वेद अने नपुंसकवेदनो उदय न होय, ते माँहे औदारिक मिश्र योगी सम्यग्दृष्टि ने उपजवुं नथी ते भणी ए चौथे गुणठाणे आठचौवी शीने स्थान के केवल पुरुषवेद विकल्पना औदारिक मिश्रयोगों आठ अष्टक भांगा होय, अहीआं वे वेदना शोल भांगा प्रत्येक चौवीशी मध्ये थी टालवा।'

अर्थात्- औदारिक मिश्र योगवाले के चौथे गुणस्थान में स्त्रीवेद, नपुंसक वेद का उदय नहीं होता है। इन स्त्री, नपुंसक वेदों में औदारिक मिश्रवाला मिश्रवाला सम्यग्दृष्टि नहीं उत्पन्न होता है। इस कारण चौथे गुण स्थान में आठ चौबीशीके स्थानक में केवल पुरुषवेद विकल्प का औदारिक मिश्र योग में आठ अष्टक भंग होता है।

इस प्रकार यह कर्मग्रंथ भी सम्यग्दृष्टि जीव का स्त्री शरीर पाना स्पष्ट निषेध करता है। फिर अनुत्तरविमानवासी सम्यग्दृष्टि देव मरकर मल्लीकुमारी नामक स्त्री कैसे हो सकता है? कर्मग्रंथ का नियम तो कदापि पलटता नहीं। इस कारण श्रीमल्लिनाथ तीर्थकर को स्त्री कहना कर्मग्रंथ विरुद्ध है। अतएव असत्य है। तीर्थकर का अवर्णवाद है और यह कर्म की रेख पर मेख मारना है।

तथा- श्रीमल्लिनाथ तीर्थकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कथानुसार स्त्री थे इस कारण उन्होंने अपने पहनने के लिए तपस्या करते समय साड़ी अवश्य रखी होगी। उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु के समान समस्त वस्त्र परिग्रह छोड़कर नग्न हो तपश्चरण न किया होगा। केवल देवदृष्ट वस्त्र से जो कि कंधे पर रखा रहता है काम न चला होगा। इस कारण परिग्रह सहित तपस्या की होगी।

वैसे तो श्रीमल्लिनाथ तीर्थकर की प्रतिमा श्वेताम्बरी भाई भी स्त्री के रूप में बनाते नहीं हैं। कहीं भी कोई प्रतिमा स्त्री आकार में देखी नहीं। किन्तु यदि वह सत्य रूप देने के लिए स्त्री आकार में बनाई भी जावे तो उस प्रतिमा की वस्त्र आभूषण आदि परिग्रह बिना वीतरागदशा रखने से नग्न शरीर में कुच आदि अंग दिख पड़ेंगे।

यदि उस स्त्रीरूपधारिणी श्री मल्लिनाथ की प्रतिमा को वस्त्र आभूषण आदि से ढक्कर रखा जायगा तो लक्ष्मी, पार्वती, राधा आदि मूर्तियों के समान वह दर्शन करने वाले मनुष्य को वीतराग भाव उत्पन्न न कराकर रागभाव ही उत्पन्न करावेगी।

इस प्रकार श्री मल्लिनाथ तीर्थकर को स्त्री कहना असत्य है।



## अर्हत पर उपसर्ग और अभक्ष्यभक्षण का दोष

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा बतलाए हुए श्री महावीर तीर्थकर के चरित्र में बहुत अंतर है। उसमें एक मोटा और भारी अंतर यह है कि दिगम्बर सम्प्रदाय तो यह कहता है कि केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर केवली का आत्मा इतना प्रभावशाली हो जाता है कि उन पर कोई भी देव, मनुष्य तथा पशु किसी प्रकार का उपद्रव नहीं कर सकता। तदनुसार श्रीमहावीर स्वामी के ऊपर केवली हो जाने पर कोई भी उपसर्ग नहीं हुआ।

किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथ केवली पर उपसर्ग न होने रूप प्रभावशाली नियम को स्वीकार करते हुए भी श्रीमहावीर स्वामी के ऊपर केवलज्ञान हो जाने के पीछे गोशाल नामक मनुष्य से उपसर्ग हुआ बतलाते हैं। उस उपसर्ग से महावीर स्वामी को ६ मास तक पेचिस के दस्त होते रहे। इस बात को कल्प सूत्र के १८वें पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा गया है कि-

महावीर स्वामी के पास छद्मस्थ साधु दशा में एक मंखली ग्वाले का लड़का 'गोशाल' शिष्य बनकर रहने लगा। उसने एक बार एक अजैन साधु के पास तेजोलेण्या(जिसके प्रभाव से किसी जीव को जला सके) देखी जो कि उसने गोशाल के ऊपर छोड़ी थी और महावीर स्वामी ने उस तेजोलेण्या की अग्नि को अपनी छोड़ी हुई शीतलेण्या से शांत कर दिया था।

यह देखकर गोशालने महावीर स्वामी ने पूछा कि महाराज! यह तेजोलेण्या कैसे सिद्ध होती है? महावीर स्वामी ने उसको तेजोलेण्या सिद्ध करने की विधि बतला दी। तदनुसार गोशालने वह लेण्या सिद्ध भी कर ली। तेजोलेण्या सिद्ध हो जाने पर गोशाल महावीर स्वामी से अलग रहने लगा और अपने आपको 'जिनेन्द्रभगवान्' कहने लगा तथा अपने अनेक शिष्य भी उसने बना लिए।

महावीर स्वामी को जब केवलज्ञान हो गया तो वे एक दिन उस श्रावस्ती नगरी में आये जहाँ गोशाल ठहरा हुआ था। नगरी में गोशाल को जनता के मुख से 'जिनेन्द्रभगवान्' सुनकर महावीर स्वामी की सभा के लोगों ने महावीर स्वामी से पूछा कि भगवान्! यहाँ दूसरा जिनेन्द्र भगवान् कौन सा आ गया? महावीर स्वामी ने कहा

कि मंखली ग्वाले का पुत्र गोशाल मुझसे कुछ विद्या सीख कर व्यर्थ अपने आपको 'जिनेन्द्र' कहकर यहाँ ठहरा हुआ है।

महावीर स्वामी के मुख से निकली हुई यह बात गोशाल ने किसी मनुष्य से सुनली। उसको अपनी निंदा सुनकर महावीर स्वामी के ऊपर बहुत क्रोध आया। उसने भोजनार्थ निकले हुए महावीर स्वामी के शिष्य 'आनंद' मुनि से यों कहा कि आनंद! महावीर स्वामी ने मेरी निन्दा की है सो यह बात ठीक नहीं। तू जाकर अपने स्वामी से कह दे कि यदि वे मेरी निन्दा करेंगे तो मैं उनको जला दूँगा।

आनंद मुनि ने यह बात आकर महावीर स्वामी से कही।

तदनंतर क्या हुआ? उस वृत्तान्त को संस्कृत टीकाकारने कल्पसूत्र के २४वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

ततो भगवता उक्तंभो आनंद शीघ्र त्वं गच्छ गौतमादीन् मुनीन् कथय यत एव गोशाल आगच्छति न केनाप्यस्य भाषणं कर्त्तव्यं इतस्ततः सर्वेपसरन्तु।.... भगवत्तिरस्कारं असहमानौ सुनक्षत्रसर्वानुभूती अनगारौ मध्ये उत्तरं कुर्वाणौ तेन तेजोलशयया दग्धौ स्वर्गं गतौ ...एवं च प्रभुणा यथास्थितेमहिते स दुरात्मा भगवदुपरि तेजोलेश्यां मुमोच सा च भगवन्तं त्रिःप्रदक्षिणी कृत्य गोशालकशरीरं प्रविष्टा, तथा च दग्धशरीरो विविधां वेदनां अनुभय सममरात्रौ मृतः।'

भावार्थ- तब भगवान् महावीर स्वामी ने आनंद से कहा कि तू गौतम गणधर आदि सब मुनियों से जाकर कह दे कि गोशाल यहाँ पर आ रहा है सो कोई भी उसके साथ बातचीत न करे। समस्त, साधु इधर-उधर चले जावें।

आनंद ने जाकर सबसे वैसा ही कह दिया,

तदनन्तर वहाँ पर गोशाल आया। उसने आकर क्रोध से महावीर स्वामी से कहा कि तुम मेरे लिए यह क्या कहते हो कि यह मंखली ग्वाले का पुत्र गोशाल है। गोशाल तो कभी का मर गया। मैं दूसरा ही हूँ।

इस प्रकार भगवान् महावीर का तिरस्कार होते देखकर सुनक्षत्र और सर्वानुभूति नामक साधुओं से न रहा गया और उन्होंने उसको कुछ उत्तर दिया कि झट गोशालने उन दोनों पर तेजोलेश्या चलाकर उन्हें वहीं पर उसी क्षण भस्म कर दिया।

तब फिर महावीर स्वामी ने भी उससे कहा कि तू वह ही मेरा शिष्य गोशाल है दूसरा कोई नहीं है। मेरे सामने तू नहीं छिप सकता।

इस प्रकार अपनी सच्ची निन्दा सुनकर गोशाल ने महावीर स्वामी के ऊपर भी तेजोलेश्या चला दी। किन्तु तेजोलेश्या महावीर स्वामी की तीन प्रदक्षिणा देकर उस गोशाल के शरीर में ही घुस गई। जिससे वह जलकर सातवीं रात मर गया। परंतु उस तेजोलेश्या की गर्मी से महावीर स्वामी को भी छह मास पेशिश के दस्त होते रहे।

इस रोग को दूर करने का वृत्तान्त भगवती सूत्र में १२६वें से १२७वें तक के पृष्ठों पर यों लिखा है कि-

महावीर स्वामी के पित्तज्वर पीड़ित शरीर को देखकर सब साधु महावीर स्वामी के पास आकर रोने लगे। तब महावीर स्वामी ने उनसे कहा कि तुम मेरे भद्रपरिणामी शिष्य 'सिंह' नामक साधु को बुलाओ। तब उन्होंने 'सिंह' नामक साधु से कहा कि तुम को महावीर स्वामी बुला रहे हैं।

तब सिंहमुनि महावीर स्वामी के पास आया। महावीर स्वामी ने उससे कहा कि सिंह! तू मुझे छह मास तक ही जीवित मत समझे। मैं अभी सोलह वर्ष तक और हाथी के समान विहार करूँगा।

इससे आगे १२६वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

'तं गच्छहणं तुमं सीहा मिदियगामं णयरं रेवतीए गाहावइणीए गिहे, तत्थणं रेवतीए गाहावईए मम अइहाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अइहो अत्थि। से अण्णे परियासि मज्जार कडए कुक्कुडमंसए तमाहाराहि, तेणं अट्ठो।

इसकी संस्कृतच्छाया इसके नीचे यों लिखी हैं-

तद्रच्छ त्वं सिंह! मंडिकग्रामे नगरे रेवत्याः गृहपतिपत्न्याः गृहे, तत्र रेवत्या गृहपतिपत्न्या ममार्थं द्वे कपोतकशरीरे उपस्कृते ताभ्यां नैवात्थीस्ति, अथान्यं परिवासितं मार्जार- कृतं कुक्कुटमांसकंतमाहर (आनय) तेनार्थोस्ति।

अर्थात्- इसलिए हे सिंह मुनि! मंडिकगाँव नामक नगर में रेवती गृहस्वामिनी के घर तू जा। उस रेवती ने मेरे लिए दो कबूतरों का शरीर पकाया है उससे कुछ प्रयोजन नहीं किन्तु उसके यहाँ अपनी बिल्ली के लिए बनाया हुआ बासा (एक रात का रखा हुआ) मुर्ग का (कुक्कुट का) मांस भी रखा है उसको ले आ। उससे काम है।

यह सुनकर सिंह मुनि प्रसन्न हुआ और वहाँ से चलकर मंडिक गाँव में रेवती के घर पहुँचा। रेवती सिंह मुनि को अपने घर आया देखकर प्रसन्न हुई और उठकर कुछ आगे चलकर उसने सिंह मुनि से पूछा कि आप क्यों पधारे हैं?

तब सिंह मुनि १२७० तथा १२७१ पृष्ठ पर यों कहता है-

‘तुहां देवाणुप्पिए! समणस्स भगवओ महावीरस्स अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहि णो अट्ठो, अत्थि ते अण्णे परिवासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहारहि तेण अड्ढो।’

संस्कृतच्छाया- ‘त्वया देवानुप्रिये! श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यार्थ द्वे कपोतकशरीरे उपकृते, ताभ्यां नैवार्थः। अस्ति तवान्यं परिवासितं मार्जारकृतं कुक्कुटमांसकं तमाहर तेनार्थः।’

यानी- हे देवानुप्रिये! तूने भगवान् महावीर स्वामी के लिए दो कबूतर बनाए हैं उनसे मुझे कुछ मतलब नहीं किंतु तेरे पास बिल्ली के लिए बना हुआ दूसरा कुक्कुट का (मुर्गे का) बासा माँस है उससे मतलब है, उसे तू ले आ।

तदनंतर रेवती को यह सुनकर आश्चर्य हुआ। उसने पूछा तुमने मेरे घर की बात कैसे जानी? तब सिंहमुनि ने रेवती से कहा कि मैंने जैसा तुझसे कहा है वैसा मैं सब जानता हूँ। तब रेवती प्रसन्न होकर उसको वह सब दे दिया। इस दान के प्रभाव से रेवती ने देवायुका बंध किया।

सिंह मुनि ने वह भोजन लाकर महावीर स्वामी के हाथ में छोड़ दिया और महावीर स्वामी ने उस भोजन को खाकर पेट में पहुँचा दिया।

तदनन्तर १२७२ वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

‘तएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं आहारियस्स समणस्स विपुले रोगायं के खिप्पामेव उपसंते। हट्ठे जाए आरोग्गे वलियसरीरे तुड्ढा समणा’ इत्यादि।

संस्कृत- ‘तदा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य तमाहारमाहार्यमाणस्य विपुलो रोगातङ्ग क्षिप्रमेवोपशान्तः, हृष्टो जात आरोग्गो बलवच्छरीरः तुष्टः श्रमणाः’ इत्यादि।

यानी- तब उस आहार को करने वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का प्रबल रोग व्याधि तुरंत शान्त हो गई। भगवान् प्रसन्न हुए, उनका शरीर नीरोग हुआ, सब साधु संतुष्ट हुए।

भगवती सूत्र के उल्लिखित कपोत, कुक्कुट, मार्जार शब्दों के अर्थ कबूतर, मुर्गा और बिल्ली ही हैं। इसके लिए हम जगत्प्रसिद्ध संस्कृत शब्दों के भंडार अमरकोश का प्रमाण उपस्थित करते हैं।

अमरकोश के दूसरे काण्ड सिंहादि वर्ग के १४वें श्लोक में लिखा है कि-

‘पारावतः कलरवः कपोतोऽथ शशादनः’ ॥१४॥

अर्थात्- पारावत, कलरव और कपोत ये तीन नाम कबूतर के हैं।

इससे सिद्ध हो गया कि रेवती ने महावीर स्वामी के दो कबूतर ही पकाए थे। कुक्कुट शब्द का अर्थ अमर कोश के इसी द्वितीय कांड के सिंहादि वर्ग के १४वें श्लोक में यों लिखा है-

कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः ॥१७॥

यानी- कृकवाकु, ताम्रचूड, कुक्कुट, चरणायुध ये चार नाम मुर्गा के हैं।

इससे यह प्रमाणित हुआ कि रेवती के घर उसकी बिल्ली के लिए मुर्गे का माँस बना रखा था जिसको सिंह मुनि ने महावीर स्वामी के लिए माँगा और रेवती ने उसको उसे दे दिया।

मार्जार शब्द का अर्थ अमरकोश के उक्त दूसरे कांड के सिंहादिवर्ग में यह लिखा है-

ओतुर्विडालो मार्जारो वृषदंशक आखुभुक् ॥६॥

अर्थात्- ओतु, विडाल, मार्जार, वृषदंशक, आखुभुक् ये ५ नाम बिल्ली के हैं।

इससे यह साबित हुआ कि भगवती सूत्र में आए हुए ‘मार्जार’ शब्द का अर्थ ‘बिल्ली’ ही है। इस प्रकार भगवती सूत्र में जो महावीर स्वामी को माँस भक्षण करके रोग शांत करनेवाला लिखा है इसके विषय में क्या लिखा जाय? जो माँस गृहस्थ श्रावक के लिए अभक्ष्य है उसको तीर्थप्रवर्तक श्री महावीर स्वामी मँगाकर खावें इससे बढ़कर हीन बात और क्या हो सकती है? भगवती सूत्र के ऐसे उल्लेख से जैन धर्म और विशेषतया श्वेताम्बर जैन धर्म का कितना भारी और गंदा अपवाद हो सकता है?

उक्त तीनों शब्दों का अर्थ अन्य प्राचीन कोष भी इसी प्रकार करते हैं। विश्वलोचन कोष टान्त वर्ग, ३८वां श्लोक, ५०वां पृष्ठ-

कुक्कुटस्ताम्रचूडे स्यात कुक्कुभे वाग्निक्कुक्कुटे।

निषादशूद्रयौश्चैव तनये त्रिषु कुक्कुटः ॥

यानी- कुक्कुट शब्द के तीन वाच्य हैं मुर्गा अग्निक्कुक्कुट, भीलजाति, शुद्रजाति, तथा पुत्र।

कपोतः स्यात् कलरवे कवकाख्ये विहङ्गमे,  
कलितं विदिताप्यामे स्वीकृतेऽप्यभिपत् ॥१०२॥

विश्वलोचन १३६ पत्र तान्तवर्ग १०२ श्लोक.

अर्थात्- कपोत शब्द कलरव, कवक (कबूतर) का वाचक है तथा सूक्ष्म शब्द के लिए भी कपोत शब्द आता है।

मार्जार ओतौ खट्वाशे मुदिरः कामुकेऽम्बुदे।

विश्वलोचन रान्तवर्ग २०८ वां श्लोकं,

अर्थात्- मार्जार, ओतु, खट्वाश, ये नाम बिल्ली के हैं।

मेदिनी कोष में भी ऐसा लिखा है-

कपोतः स्याच्चि चक्रकंठपारावतविहङ्गयोः ।२

पृष्ठ२३

अर्थ- कपोत, चित्रकंठ, पारावत ये कबूतर के नाम हैं।

इस प्रकार प्रायः सभी प्राचीन कोषों में कपोत, कुक्कुट, मार्जार शब्दों का अर्थ कबूतर, मुर्गा और बिल्ली लिखा हुआ है। भगवती सूत्र के इन शब्दों का अर्थ टीकाकारों ने बदलकर कुछ और किया है किन्तु वह अर्थ असंगत तथा निराधार बैठता है। दो, एक विद्वानों के मुख से यह भी मालूम हुआ कि कुछ श्वेताम्बरीय विद्वानों ने कोष बनाकर इन शब्दों के अर्थ अन्य और कर दिए हैं। परंतु भगवती सूत्र के इस उल्लेख के अर्थ का निर्णय उन कोषों से नहीं माना जा सकता क्योंकि इस दोष को बचाने के लिए ऐसा किया होगा। कोष इस विषय में वे निर्णय दे सकते हैं जो कि श्वेताम्बरीय न हों अथवा जो श्वेताम्बरीय कोष भी हों तो भगवती सूत्र की रचनाकाल से पहले समय के बने हों।

\* \* \*

केवलज्ञानी महावीर स्वामी पर उपसर्ग होना यह भी सिद्धांत- विरुद्ध बात है अतएव असत्य है। प्रकरण रत्नाकर (प्रवचनसारोद्धार) तीसरा भाग ११७वें पृष्ठ पर केवल ज्ञान हो जाने पर प्रगट होने वाले ११ अतिशयों में से तीसरा अतिशय यों लिखा है-

पुव्वभवरोगादि उवसमंति नय होइ वेराइ ॥४४९॥

यानी- केवली के पहले उत्पन्न हुए रोग शांत हो जाते हैं और नया कोई रोग उत्पन्न नहीं होता।

मुनि आत्मरामजी ने अपने जैनतत्त्वादर्श ग्रंथ में ३४ अतिशयों का वर्णन करते हुए ४थे पृष्ठ पर चौथा पाँचवाँ अतिशय यों लिखा है-

‘साढे पच्छीस योजनप्रमाण चारोपासैं उपद्रव रूप ज्वरादि रोग न होवे तथा वैर (परस्पर विरोध) न होवे।’

केवली तीर्थकर भगवान् के ये अतिशय जब नियम से होते हैं तो क्या वे महावीर स्वामी के नहीं हुए थे? यदि नहीं तो वे तीर्थकर केवली कैसे? यदि उनके भी वे अतिशय थे तो उनके पास गोशालने प्राणघातक उपसर्ग कैसे किया?

दोनों बातों में से एक ही सत्य हो सकती है कि या तो महावीर स्वामी पर उपसर्ग ही नहीं हुआ या केवलज्ञानी के उक्त अतिशय ही नहीं होते।

सारांश- केवलज्ञानधारी श्री महावीरस्वामी पर उपसर्ग हुआ मानने से निम्नलिखित दोष आते हैं।

- १- श्री महावीर स्वामी केवलज्ञानी थे। उनके ११ अतिशय प्रगट हो चुके थे। इस कारण श्वेताम्बरीय सिद्धांत के अनुसार भी उनपर तथा उनके समीप बैठे हुए दो साधुओं पर गोशाल की तेजोलेश्या द्वारा प्राण-घातक उपसर्ग हो ही नहीं सकता। क्योंकि जिनके अलौकिक प्रभाव से जन्मविरोधी जीव भी जिनके चारों ओर २५/२५ योजन तक बैर-विरोध छोड़ जाते हैं, फिर गोशाल उनके ऊपर अपना कोप कैसे चला सकता था?
- २- महावीर स्वामी के पास शीतलेश्या भी थी जिससे उन्होंने कल्पसूत्र के ७३वें पृष्ठ के लेखानुसार कूर्म ग्राम में वैश्वायन तापसी द्वारा गोशाल के ऊपर छोड़ी गई तेजोलेश्या को शांत कर दिया था। उसी शीतलेश्या से श्री महावीर स्वामी गोशाल की छोड़ी हुई तेजोलेश्या से अपने समीपवर्ती दो साधुओं को तथा गोशाल को भस्म होने से बचाते। कम से कम अपने ऊपर तो कुछ असर न होने देते।
- ३- केवलज्ञान हो जाने पर जब भय(डर) नष्ट हो जाता है तो आनंद साधु द्वारा गोशाल की बात सुनकर गोशाल के साथ कुछ न बोलने के लिए महावीर स्वामी ने क्यों निषेध करवाया?
- ४- केवलज्ञानी को जब राग द्वेष नहीं रहता तब महावीर स्वामी ने अपने कष्टपीडित शरीर के विषय में साधुओं का रोना सुनकर सिंहमुनि को बुलवा कर उससे अपने १६ वर्ष तक और जीवित रहने की बात क्यों कही?



- ५- जब अल्पज्ञानी साधु को भी प्रेरणा करके अपने लिए विशेष भोजन मँगाकर खाने का निषेध है तो फिर सर्वज्ञ, वीतराग महावीर स्वामी ने अपने लिए विशेष आहार लाने के लिए सिंह मुनि को रेवती के घर क्यों भेजा?
- ६- केवलज्ञानधारी महावीर स्वामी सर्वत्र थे, फिर उन्होंने गोशाल के भयानक उपसर्ग को पहले ही क्यों नहीं जानकर उसका उचित उपाय कराया? तथा अपने रोग शांति का उपाय भी पहले मालूम हो गया, फिर उसको दूर करने का भी उपाय पहले से क्यों नहीं किया।
- ७- भगवान् महावीर स्वामी को घातिया कर्म नष्ट हो जाने के कारण अनंतज्ञान, अनंतदर्शन तथा अनंतसुख और अनन्तवीर्य प्राप्त हो गए थे फिर उपसर्ग का दुख क्यों हुआ? जिसको दूर किए बिना उन्हें शान्ति न मिली?
- ८- भगवान् महावीर स्वामी सर्वज्ञ थे। वे गोशाल की दुष्ट प्रकृति को साफ समझते थे। फिर उन्होंने उसको क्रोध उत्पन्न करने वाला उत्तर क्यों दिया? जिससे उनके ऊपर उसने तेजोलेण्या छोड़ी।

इत्यादि अनेक दोष आ जाने से सिद्ध होता है कि केवली दशा में महावीर स्वामी पर उपसर्ग होने की बात असत्य है।



## हाईकू

परिचित भी,  
अपरिचित लगे,  
स्वस्थ ध्यान में (बस हो गया।



मद का तेल,  
जल चुका सो बुझा,  
विस्मय दीप।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## श्री महावीर स्वामी का गर्भहरण

अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध श्वेताम्बरीय ग्रंथों में एक यह बात लिखी है कि महावीर स्वामी पहले नीचगोत्र के उदय से देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में आए थे। फिर इन्द्र ने हरिणगमेसी देव को भेजकर गर्भस्थ भगवान् महावीर स्वामी को ८२ दिन पीछे देवानंदा के पेट में से निकालकर त्रिशालारानी के पेट में रखवा दिया और उसकी गर्भस्थ पुत्री को देवानंदा के पेट में रखा दिया।

श्री महावीर स्वामी के गर्भ में आने के पहले देवानंदा को १४ शुभ स्वप्न दिखे थे और ८२ रात पीछे त्रिशाला रानी के पेट में पहुँचने के पहले वैसे ही १४ शुभ स्वप्न त्रिशाला रानी को भी दिखलाई दिए थे।

इस वृत्तान्त को कल्पसूत्र के १० वें पृष्ठ पर यों लिखा गया है-

‘जे भगवंत ब्राह्मण कुंड नामना नगरमाँ कोडाल गोत्री एवां ऋषभदत्त ब्राह्मणनी स्त्री देवानंदा ब्राह्मणी के जे जालंधर गोत्री छे तेनी कुक्षिमां गर्भपणा थी उत्पन्न गया हता। ते क्यारे उत्पन्न थया हता के, पूर्वरात्र अने अपररात्रना समयमां अर्थात् मध्यरात्रे उत्तराफल्गुनी नक्षत्र चन्द्रना योगने प्राप्त थतां, दिव्य आहार, दिव्यभव अने दिव्य शरीरनो त्याग करवाथी ज्यारे भगवंत गर्भमां उत्पन्न थया त्यारे ते ऋण ज्ञान थी युक्त हता।... ते रात्रे श्रमण भगवंत श्री महावीर प्रभु देवानंदा ब्राह्मणीनी कुक्षिमाँ उत्पन्न थया ते रात्रि ए.... चौद महास्वप्नो ने जोड़ ते देवानंदा ब्राह्मणी जागी गयां।

यानी- भगवान् महावीर ब्राह्मणकुंड नगर में कोडाल गोत्रवाले ऋषभदत्त ब्राह्मण की स्त्री देवानंदा ब्राह्मणी जो जालंधर गोत्रवाली थी उसके उदर में गर्भरूप से उत्पन्न हुए। वे कैसे गर्भ में आये? कि (आषाढ शुक्ला षष्ठी) आधी रात के समय जबकि उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र चन्द्रमा के योग को प्राप्त हुआ था, दिव्य (स्वर्ग के) आहार, देव पर्याय और देवशरीर को छोड़कर जब गर्भ में आये तब भगवान् मति, श्रुत, अवधिज्ञान सहित थे। जिस रात को श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में आये उस रात को देवानंदा ब्राह्मणी चौदह बड़े शुभ स्वप्न देखकर जाग गई।

दिगम्बर सम्प्रदाय में जो तीर्थंकर की माता को १६ स्वप्न दिखलाई देना बतलाया गया है उनमें से श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने १ मीनयुगल (मछलियों का जोड़ा) २ सिंहासन ३ धरणीन्द्रका विमान इन तीन स्वप्नों को नहीं माना है तथा ध्वजा का स्वप्न अधिक माना है। शेष १३ स्वप्न दोनों सम्प्रदायों एक सरीखे हैं। उनमें अंतर नहीं है।

इस प्रकार जब महावीर स्वामी देवानंदा के गर्भ में आ गये तब सौधर्म इन्द्र ने उनको अपने सिंहासन से उतरकर परोक्ष नमस्कार किया। इस बात को कल्पसूत्र के १७वें पृष्ठ पर यों लिखा है।

‘ते श्रमण भगवंत श्रीमहावीर प्रभु के ने आदिकर सिद्धिगति नामना स्थान प्रत्येक जवानी इच्छा वाला छे तेमने नमस्कार हो।..... ते देवानंदा ब्राह्मणीनी कुक्षिमां रहेला ते वीर प्रभुने हुं वंदना करूँ छुं हुं अहीं रह्यो छुं अने ते प्रभु कुक्षिमां रह्या छे.....ते करीने इन्द्र पूर्वाभिमुखे सिंहासन उपर बेठो’

अर्थात्- वह श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी जो सिद्धशिला जाने की इच्छा रखने वाला है उसको नमस्कार हो। उस देवानंदा ब्राह्मणी के पेट में रहने वाले श्री वीर प्रभु को मैं वंदना करता हूँ। मैं यहाँ हूँ और वह भगवान् देवानंदा के पेट में है। ऐसा नमस्कार करके इन्द्र पूर्व दिशा में मुखकर सिंहासन पर बैठ गया।

इस प्रकार सौधर्म इन्द्र को महावीर स्वामी के देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में आने का वृत्तान्त पहले से ही मालूम था। तदनुसार अन्य तीर्थकरों के समान श्री महावीर स्वामी का गर्भकल्याणक शायद इसी देवानंदा के घर हुआ होगा जिसका कि कुछ भी उल्लेख कल्पसूत्र में नहीं दिया है। तीर्थकर के माता-पिता के घर गर्भावतार से छह मास पहले जो रत्नवर्षा होती है उसका भी यहाँ कुछ उल्लेख नहीं है। इस तरह कल्पसूत्र तथा अन्य भी श्वेतांबरीय ग्रंथों के अनुसार श्री महावीर स्वामी ने ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानंदा ब्राह्मणी के यहाँ अवतार लिया।

इसके आगे का वृत्तांत कल्पसूत्र के २२वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

‘व्यांथी चवीने पूर्वे मरीचिभवमां बांधेला अने भोगववाने बाकी रहेला नीचैगोत्रना कर्मथीसत्यावीशमे भवे ब्राह्मणकुंड उगाममां ऋषभदत्त ब्राह्मणीनी देवानंदा ब्राह्मणीनी कुक्षिमां ते उत्पन्न थयां तेथी शक्र इन्द्र आ प्रमाणे चिंतवें चे-के एवी री ते नीच गोत्र कर्मना उदयथी अर्हत चक्री वासुदेव बिगरे अंत प्रमुख नीच कुलोमां आव्या छे आवे छे अने आवशे पण जन्म लेवाने माटे ते आवुं योनिमांथी निकलवुं थंतु नथी नीकलता नथी अने नीकलशे नहीं। भावार्थ एवो छे के कदाचित् कर्मना उदयथी ते अर्हत विगरेनो अवतार तुच्छ प्रमुख नीचगोत्रमां थाय पण योनिथी जन्म थयुं नथी अने थशे नहीं।’

अर्थात्- उस बीस सागर आयु वाले प्राणत स्वर्ग से चयकर भगवान् महावीर स्वामी का जीव पहले मरीचि भव में बाँधे हुए और भोगने के लिए शेष रहे नीच गोत्र

कर्म के उदय से २७वें भव में ब्राह्मण कुंड ग्रामनिवासी ऋषभदत्त ब्राह्मण की स्त्री देवानंदा के पेट में आये हैं। इस कारण इन्द्र सोचता है कि इस प्रकार नीच गोत्र कर्म के उदय से तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि अन्त्यज (मेहतर) इत्यादि नीच कुलों में गर्भरूप से आए हैं। आते हैं। और आवेंगे। किन्तु जन्म लेने के लिए उनकी (नीच कुलीन माताओं की)योनि में से निकलना नहीं होता है। अब तक उन नीच कुलीन माताओं की योनि से वे तीर्थकर आदि न तो निकले हैं न निकलते हैं और न निकलेंगे। सारांश यह है कि कदाचित् कर्म के उदय से अर्हत आदि का अवतार नीच कुल में हो जावे किन्तु उनकी योनि में से जन्म न तो हुआ है और न होगा।

इस प्रकार सोच-विचार कर इन्द्र ने जो किया सो कल्पसूत्र के २३ वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

‘शक्र इन्द्र पोतानुं चिंतवेलुं हरिणेगमेषी देवने कहे छे। बली कहे छे हे देवानुप्रिय- इन्द्रोनों आचार छे ते कारण माटे तुं जा अने देवानंदा ब्राह्मणीनी कुक्षिमांथी भगवंत त्रिशला क्षत्रियाणीनी कुक्षिमइ मुकी दे अने त्रिशलानों जे गर्भ छे तेना देवानंदानी कुक्षिमां मुकी दें।’

अर्थात्- इन्द्रने हरिणेगमेषी देव को बुलाकर अपनी चिन्ता कह सुनाई और कहा कि हे देवानुप्रिय! इन्द्र का कर्तव्य (तीर्थकर के गर्भ को उच्चकुलीन स्त्री के पेट में पहुँचवाना) है इसलिए तू जा और देवानंदा ब्राह्मणी के पेट में से भगवान् को निकालकर त्रिशला क्षत्रियाणी के उदर में रख आ तथा जो त्रिशला का गर्भ है उसको देवानंदा के पेट में रख आ।

इन्द्र की आज्ञा अनुसार हरिणेगमेषी देवने भगवान् महावीर स्वामी का गर्भ किस दिन परिवर्तन किया इस विषय में कल्पसूत्र के २४वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

‘ते समये श्रमण भगवंत महावीर वर्षाकाल संबंधी त्रीजा पाहमुं पखबाडीयु जे आश्वीन मासनुं कृष्णपक्ष त्रयोदशीनो पक्ष पाछा लनो अर्ध अर्थात् रात्री एकंदर वाशी अहोरात्र अतिक्रान्त थया पछी त्राशीमा अहोरात्रनो अन्तराकाल एटले रात्रिनो काल प्रवर्तता ते हरिणेगमेषी देवताए त्रिशला मातानी कुक्षिमांते भगवंतनो गर्भ संस्त्रो... जे रात्रे श्रमण भगवंत महावीर देवानंदानी कुक्षिमांथी त्रिशलानी कुक्षिमांसं हरणथी आव्या से रात्रे ते देवानंदाए पुर्वे कहेला चौद स्वप्नों त्रिशलाए हरी लीधेला जोया’

यानी-उस समय श्रमण भगवान् महावीर ८३ दिन के हो गए थे वर्षाकाल संबंधी

तीसरा महीना या पाँचवाँ पक्ष जो आसोज महीने की कृष्णपक्षवाली त्रयोदशी को ८३वाँ दिन था उस रात्रि के समय हरिणगमेषी देवने त्रिशला माता के पेट में भगवान् को पहुँचाया। जिस रात को श्रमण भगवान् महावीर देवानंदा ब्राह्मणी के पेट में से त्रिशला रानी के पेट में संहरण रूप से आए उस रात को त्रिशला को वे १४ शुभ स्वप्न दिखाई दिए जो कि पहले देवानंदा ने देखे थे।

सारांश यह है कि भगवान् महावीर आषढ सुदी ६ से आसोज वदी त्रयोदशी की आधी रात तक देवानंदा ब्राह्मणी के पेट में रहे और उसके पीछे फिर त्रिशला रानी के गर्भ में रहे।

श्री महावीर स्वामी के गर्भहरण की यह कथा श्वेतांबरीय शास्त्रों में प्रायः इसी प्रकार समान रूप से है। इस गर्भहरण की बात को भी श्वेतांबरीय ग्रंथकारों ने 'अच्छे' कहकर टाल दिया है। किंतु बुद्धिमान पुरुष असंभव बात को इतनी टाल मटूल से नेत्र मींचकर स्वीकार नहीं कर सकता।

भगवान् महावीर स्वामी के गर्भहरण का यह कथन कितना अस्वाभाविक व बनावटी है, इसी लिए असत्य है। इसको प्रत्येक साधारण पुरुष भी समझ सकता है। जिस तीसरे मास में गर्भाशय के भीतर शरीर का आकार भी पूर्ण नहीं बन पाता है उस अधूरे गर्भ को एक पेट से निकाल दूसरे पेट में किस प्रकार रखा जा सकता है। शारीरिक शास्त्र, वैद्यक शास्त्र तथा विज्ञान शास्त्र के अनुसार तीन मास का गर्भ पेट से निकलने पर कभी जीवित ही नहीं रह सकता। दूसरे पेट में जाकर जमकर वृद्धि पावे यह तो एक बहुत दूर की बात ठहरी। इस कारण यह गर्भ हरण की बात सर्वथा असत्य है।

महावीर स्वामी के गर्भहरण की असत्य बात को सच्चा रूप देने के लिए 'भगवान् ऋषभदेव के पौत्र ने अपने उस मरीचि के भव में अपने पिता(भरत) पितामह के (बाबा-भगवान् ऋषभदेव) चक्रवर्ती तथा तीर्थकर होने का तथा आगामी समय में अपने तीर्थकर होने का गर्व किया था इस कारण महावीर स्वामी के जीवने उस मरीचि भव में जो नीच गोत्र कर्म का बंध किया उसका उदय असंख्यात वर्ष पीछे इस अंतिम तीर्थकर होने के भव में आया जिससे कि ब्राह्मणी के पेट में अवतार लिया' यह कल्पित कथन कर्मसिद्धांत तथा चरणानुयोग के विरुद्ध है।

प्रथम तो यह कि ब्राह्मणवर्ण शास्त्रों ने तथा संसार में कहीं किसी ने भी नीच कुल नहीं बतलाया है। द्विज वर्णों में भी उत्तम बतलाया है। अतएव नीच गोत्र के उदर से ब्राह्मण कुल में जन्म हो नहीं सकता। यदि महावीर स्वामी के

जीव ने नीच गोत्र का बंध ही किया था तो उनका जन्म किसी शूद्र कुल में होना था। विशुद्ध कुल में जन्म तो उच्च गोत्र के उदय से होता है जिसमें कि इन्द्र को चिंतातुर होने की कोई आवश्यकता नहीं थी। श्री महावीर स्वामी के गौतम आदि ब्राह्मण कुलीन जो गणधर थे सो क्या कल्पसूत्र के इस कथनानुसार नीचकुली थे?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य आत्मारामजी ब्राह्मण ही थे। उन्होंने अपने जैनतत्त्व के ५०९वें पृष्ठ पर तथा तत्त्वनिर्णयप्रसाद के ३६५वें तथा ३७८वें पृष्ठ पर ब्राह्मणवर्ण को उच्चवर्ण बतलाया है। भरत चक्रवर्तीने सर्वोत्तम पुरुषों को ही ब्राह्मण वर्ण बनाया था। अतएव महावीर स्वामी का देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में अवतार लेने को नीच गोत्र का फल कहना बड़ी भारी मोटी भूल है।

दूसरे- कर्मसिद्धांत इस कल्पित बात को बहुत बलपूर्वक सर्वथा असत्य सिद्ध करता है। क्योंकि देखिए, नीचगोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागर है। यदि मरीचिने अधिक से अधिक संक्लेश परिणाम रखे थे तो उसने २० कोडाकोडी सागर की स्थिति वाला नीच गोत्र कर्म बाँधा होगा। यह बीस कोडाकोडी सागर की स्थितिवाला कर्म कर्मसिद्धांत के नियमानुसार दो हजार वर्ष पीछे ही अपना आबाधा काल टालकर उदय में अवश्य आना चाहिए। और तदनुसार दो हजार वर्ष पीछे ही मरीचिका जन्म नीचगोत्र कर्म के उदय से बराबर लगातार २० कोडाकोडीसागर तक नीचकुल में ही होता रहना चाहिए था।

किन्तु ऐसा हुआ नहीं क्योंकि जिस समय उसके नीचगोत्र का बंध हुआ बताया जाता है उस समय से लेकर करोड़ों वर्ष तक तो केवल उसी उच्चकुलीन मनुष्य शरीर में रहा। दो हजार वर्ष के स्थान पर दो वर्ष समझ लीजिए। उसके नीचगोत्र का उदय हुआ ही नहीं। उसके पीछे २७ स्थूल भवों में भी वह उच्चगोत्री ही होता रहा। कभी किसी स्वर्ग का देव, कभी किसी स्वर्ग का देव, कभी कहीं का राजा, कभी कहीं ब्राह्मण हुआ। इस प्रकार उच्च कुलों में ही उत्पन्न होता रहा। यदि मरीचिकुल में उसने महावीर स्वामी के भव तक रह सकने योग्य बड़ी स्थिति वाले नीचगोत्र कर्म का बंध किया था तो बीच-बीच में ऐसे उच्चगोत्री भव कदापि नहीं मिलने थे 'बीच-बीच के भवों में तो नीचगोत्र का उदय आया नहीं किन्तु महावीर स्वामी के भव में उस नीचगोत्र का उदय आ गया' यह बात स्वयं श्वेताम्बरीय कर्मग्रंथ रचयिता विद्वानों के लेख से ही बिलकुल असत्य साबित होती है।

तीसरे- इन्द्र ने भी कठिन परिश्रम उठाकर क्या किया? श्वेताम्बरीय ग्रंथों के कथनानुसार महावीर स्वामी के आत्मा का शरीरपिंड तो ब्राह्मण के वीर्य तथा ब्राह्मणी के रज से बन गया। अब उस बने हुए तथा ८२ दिन रात तक ब्राह्मणी के रस रक्त से वृद्धि पाए हुए पिंड को इन्द्र चाहे जहाँ उठाकर रख देवे, पिंड बदल नहीं सकता। इस कारण इन्द्र का परिश्रम भी व्यर्थ समझना चाहिए। चौथे, इन्द्र महावीर स्वामी के नीचगोत्र कर्म को मेट भी कैसे सकता है। यदि इन्द्र में अशुभ मेटने की शक्ति हो तो वह स्वयं कभी इन्द्रपर्याय से मरना ही नहीं चाहिए, न उसको अपनी इन्द्राणी का मरण होने देना चाहिए। जिस बात को तीर्थंकर तथा सर्व कर्मरहित सिद्धपरमेष्ठी में भी करने की शक्ति नहीं उसे इन्द्र कर दे तब तो यों समझना चाहिए कि इन्द्र सबसे बड़ा परमात्मा है। फिर श्वेताम्बर भाइयों को इन्द्र के सिवाय अन्य किसी का पूजन भी क्यों करना चाहिए?

पाँचवें- इन्द्र को जब देवानंदा ब्राह्मणी के पेट में महावीर स्वामी के अवतार लेने का समाचार पहले (शुरू) से ही मालूम था तो फिर उसने इतने दिन ब्राह्मणी के गर्भ में उनको क्यों रहने दिया? उसी समय उनको वहाँ से क्यों नहीं हटा दिया?

छठे- हरिणेगमेषी देवने महावीर स्वामी का गर्भ देवानंदा ब्राह्मणी के मुख से निकाला? या उदर से निकाला? अथवा योनिमार्ग से निकाला? मुख से तो इस कारण नहीं निकल सकता कि गर्भ औदारिक शरीर के रूप में था, उस स्थूल औदारिक शरीर को बिना उदर आदि फाड़े उदर तथा मुख मार्ग से निकालना असंभव है। यदि उस गर्भ को योनि मार्ग से निकाल तो कहना चाहिए कि ब्राह्मणी के यहाँ ही महावीर स्वामी ने जन्म ग्रहण किया क्योंकि गर्भस्थ बालक का अपनी माता की योनि से बाहर निकलना ही जन्म लेना कहलाता है।

सातवें- लोक में किसी साधारण मनुष्य को भी दो पिताओं का पुत्र कहना अपमानजनक समझा जाता है। फिर भी महावीर स्वामी तीर्थंकर सरीखे लोकवन्दनीय महापुरुष को ऋषभदत्त ब्राह्मण और सिद्धार्थ राजा का पुत्र कहना कितना घोर पापजनक वचन है।

आठवें- देवानंदा ब्राह्मणी के पेट से निकालते समय महावीर स्वामी के शरीर पिंड के नाभितंतु वहीं पर टूट गए होंगे। तब फिर नाभितन्तु टूट जाने पर वह पिंड जीवित कैसे रहा? नाभितन्तु टूट जाने पर अवश्य मृत्यु हो जाती है।

नौवें- देवानंदा ब्राह्मणी के पेट में महावीर स्वामी के आते समय देवानंदा को १४ स्वप्न दिखाई दिए थे तदनुसार उसके घर गर्भ कल्याणक हुआ होगा। और त्रिशला

रानी के पेट में पहुँचने पर उसको १४ स्वप्न दिखाई दिए होंगे तो उसके यहाँ भी गर्भकल्याणक हुए होंगे। यदि किसी एक स्थान पर ही गर्भकल्याणक हुआ तो प्रश्न यह है कि दूसरे स्थान पर क्यों नहीं हुआ क्योंकि माता के पेट में आने पर ही गर्भ कल्याणक होता है यदि गर्भकल्याणक दोनों स्थानों पर नहीं हुआ तो यों कहना चाहिए कि श्री महावीर स्वामी के चार कल्याणक ही हुए, पाँच नहीं।

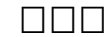
इत्यादि अनेक प्रबल अनिवार्य दोष उपस्थित होने से निष्कर्ष निकलता है। कि श्री महावीर स्वामी का गर्भहरण नहीं हुआ था। गर्भहरण की बात कल्पित तथा सर्वथा असत्य है, एवं श्री महावीर स्वामी पर पापजनक असत्य कलंक का टीका लगाना है।

श्री महावीर स्वामी ने स्वर्ग से चलकर सिद्धार्थ राजा की रानी त्रिशला के उदर में जन्म लिया था तदनुसार इन्द्र आकर उनका गर्भकल्याणक भी त्रिशला रानी तथा सिद्धार्थ राजा के घर ही किया था और गर्भावतार से ६ मास पहले कुबेर द्वारा रत्नवृष्टि भी सिद्धार्थ राजा के घर ही हुई थी।



## हाईकू

इष्ट-सिद्धि में,  
अनिष्ट से बचना,  
दुष्टता नहीं।



उनसे मत डरो,  
जिन्हें देख के,  
पारा न चढ़े।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

# अन्यलिंग मुक्ति समीक्षा

## क्या अजैन मार्ग से भी मुक्त होती है?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एक बात और भी विचित्र बतलाई गई है कि अन्यलिंगी साधु भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए उसको जैन लिंग धारण करने की आवश्यकता नहीं। यह बात ऐसी है कि जिसको श्वेताम्बर मत के सिवाय अन्य किसी भी मत ने स्वीकार नहीं किया। सभी मत यह कहते हैं कि हमारे बतलाए हुए सिद्धांतों के अनुसार चलने से ही मुक्ति होगी। अन्यथा नहीं। किन्तु श्वेताम्बर संप्रदाय अपने आपको सत्यधर्म धारक सम्प्रदाय समझता हुआ भी कहता है कि मनुष्य चाहे जिस मत का अनुयायी क्यों न हो, आत्मा की भावना करने से मुक्ति पा लेता है।

वीर सं. २४४७ में श्री माणिकचंद्र दिगम्बर जैनग्रंथ माला के १७वें पुष्परूप प्रकाशित षट्प्राभृत ग्रंथ के १२वें पृष्ठ पर किसी श्वेताम्बर ग्रंथ की यह गाथा लिखी है।

सेयंवरो आसांवरोय बुद्धोय तहय अण्णोय।

समभावभाघियप्पा लहेइ सिद्धि ण संदेहा ॥

अर्थात्- मनुष्य चाहे तो श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो अथवा अन्य लिंगधारी ही क्यों न हो; अपनी आत्मा की भावना करने से मुक्ति प्राप्त कर लेता है इसमें संदेह नहीं है।

तदनुसार- प्रकरण रत्नाकर (प्रवचनसारोद्धार) तीसरे भाग के १२७ वें पृष्ठ पर यों लिखा है कि-

इह चउरो गिहिलिंगे दसन्नलिंगे सयंच अट्टहियं।

विन्नेयंच सलिंगे समयेणं सिद्धमाणाणं ॥४८२॥

अर्थात्- एक समय में अधिक से अधिक गृहस्थ लिंग से चार मनुष्य सिद्ध होते हैं, दश अन्य तापस आदि अजैन लिंगधारी मोक्ष पाते हैं और एक सौ आठ जैन साधु मुक्ति प्राप्त करते हैं।

यदि ग्रंथकार के इस लिखने को श्वेताम्बरी भाई सत्य प्रामाणिक समझते हैं तो उन्हें अजैन जनता में जैन धर्म का प्रचार कदापि नहीं करना चाहिए क्योंकि जैन धर्म धारण करने का प्रयोजन तो यह ही है कि साक्षात् रूप से या परम्परा से वह जैन धर्म ग्रहण करने वाला पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेवे। सो मोक्ष प्राप्ति तो जिस किसी भी धर्म में वह रहेगा वहाँ से ही उसको मुक्ति मिल सकती है। मुक्ति से ऊँचा कोई और स्थान नहीं जहाँ पर कि आपके कथनानुसार अन्य लिंगधारी साधु न पहुँच सके।

यदि अन्य लिंगी साधु को भी मुक्ति हो जाती है तो तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

यानी- सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीनों की पूर्णता मोक्ष का मार्ग है।

यह सूत्र व्यर्थ है क्योंकि कुरु, कुदेव, कुधर्म का श्रद्धालु, मिथ्या शास्त्रों के ज्ञान से परिपूर्ण और तापस आदि के रूप में मिथ्या तप आचरण करने वाला अन्य लिंगी साधु भी जब आपके श्वेतांबरीय ग्रंथों के अनुसार मुक्ति प्राप्त कर लेता है तब फिर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को ही मुक्ति मार्ग बतलाने में क्या तथ्य जाता रहता है।

अनेक श्वेतांबरीय ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों के कुरु की तथा मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या चारित्र की बहुत विस्तार से निंदा की है सो भी निरर्थक है क्योंकि जिनको उन्होंने 'कुरु' कहा है वे तो मुक्ति प्राप्त करने के पात्र हैं उसी अपनी कुरु अवस्था से मुक्ति पा सकते हैं। तथा वे ग्रंथकार जिन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र को त्याज्य बतलाते हैं वे मिथ्या दर्शनादिक कुरु में विद्यमान रहते हुए उसे मोक्ष पहुँचा देते हैं। फिर वे कुरु अवंदनीय क्यों कर हुए? और वे मिथ्या दर्शनादिक त्याज्य क्यों हुए?

श्वेताम्बरीय साधु आत्मारामजी ने अपने जैन तत्त्वादर्श, तत्त्व निर्णयप्रासाद ग्रंथ में कुरु तथा मिथ्यादर्शनादिक की बहुत निन्दा की है सो उन्होंने भी बहुत भारी भूल की है क्योंकि जो कुरु अपनी इच्छानुसार श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण करने से मुक्ति पा सकते हैं उनकी निन्दा करना सर्वथा अनुचित है।

तथा श्वेताम्बरीय शास्त्रों में जो गुणस्थानों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिखाया है, एक प्रकार से वह सब भी व्यर्थ है क्योंकि उस गुणस्थान प्रणाली के अनुसार जब कि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती अन्य लिंगी साधु अपनी दशा में ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है तो आगे के गुणस्थानों से और क्या विशेष लाभ होगा?

श्वेताम्बरी भाइयों को अन्यलिंगी साधुओं को भी अपना गुरु मानकर वंदना करना चाहिए क्योंकि वे भी श्वेताम्बरीय साधुओं के समान मोक्ष सिद्धि कर सकते हैं। मोक्ष सिद्धि करने वाला ही परम गुरु होता है।

इस प्रकार अन्य लिंगी साधुओं को मुक्ति प्राप्त कर लेने वाला मान लेने से श्वेताम्बरीय शास्त्रों का सम्पूर्ण उपदेश भी व्यर्थ है उससे कुछ भी विशेष सार नहीं मिल सकता।

श्वेताम्बरीय भाई यदि स्वतंत्र रूप से विचार करें तो उनको मालूम होगा कि अन्य लिंग से मुक्ति की प्राप्ति मानना इस कारण ठीक नहीं कि मुक्ति आत्मा की पूर्ण शुद्धता हो जाने पर प्राप्त होती है। आत्मा की शुद्धता पूर्ण वीतरागता में मिलती है क्योंकि जब तक आत्मा के साथ राग-द्वेष आदि मल लगे हुए हैं तब तक आत्मा को अपनी शांत शुद्ध दशा नहीं मिलने पाती। वीतरागता का मुख्य साधन सम्यक्चारित्र है। महाव्रत, समिति, गुमि, अनुप्रेक्षा आदि क्रियाओं का पालन करना ही सम्यक्चारित्र कहलाता है और इसी सम्यक्चारित्र से कर्मास्त्रव के कारण नष्ट होते हैं, कषायें शांत होने से वीतरागता प्राप्त होती है।

सम्यक्चारित्र उस समय प्रगट होता है जब कि पहले सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हो जाता है। बिना सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान प्रगट हुए कठिन से कठिन आचरण भी सम्यक्चारित्र नहीं कहलाता है। जैसे द्रव्यलिंगी साधु का चारित्र। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र के यथार्थ श्रद्धान से तथा जान लेने से होता है। वीतराग सर्वज्ञ देव के कहे हुए तत्त्व, द्रव्य आदि का निःशंक, निश्चय रूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। अन्य लिंगी साधुओं को वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र होते नहीं हैं क्योंकि यदि उनको इन तीनों की प्राप्ति हो जावे तो वे अन्य लिंगी ही क्यों रहे जैन लिंगी न हो जावें? इस कारण अन्य लिंग से मुक्ति मानना बड़ी भारी गहरी भूल है।

अन्य लिंगी साधुओं को न तो अपने आत्म-स्वरूप का पता है, न वे परमात्मा का यथार्थ स्वरूप समझते हैं, न उनको संसार, मोक्ष का यथार्थ ज्ञान है। अतएव मुक्ति हासिल करने के साधनों से भी वे पूर्ण परिचित नहीं। इसी कारण उनकी अमली कार्यवाही (आचरण) और उनका उद्देश्य गलत है। कोई आत्मा को कल्पित रूप से मानना है, कोई आत्मा को ज्ञान आदि गुणों से शून्य मानता है, कोई आत्मा को ब्रह्म का एक अंश समझते हैं। इसी प्रकार परमात्मा को कोई अवतारधारी, संसार में आकर संसारी

जीवों के समान कार्य करने वाला मानते हैं, कोई अवतारधारी तो नहीं मानते किंतु उसको संसार का कर्ता-हर्ता मानते हैं, कोई परमात्मा मानते ही नहीं। इत्यादि।

यह ही दशा उन अन्य लिंगी साधुओं की मुक्ति मानने के विषय में है। कोई परमात्मा की सेवा में उसके पास पहुँचने को मुक्ति मानता है, आर्य समाजी साधु मुक्ति में जाकर कुछ समय पीछे फिर वहाँ से लौट आना मानते हैं। बौद्ध साधु आत्मा के सर्वथा नाश को मुक्ति मानते हैं, वेदांती ब्रह्म में लीन हो जाने को मुक्ति कहते हैं, नैयायिक मतानुयायी ज्ञान आदि गुण आत्मा से हट जाने पर आत्मा की मुक्ति समझते हैं। इत्यादि।

अन्य लिंगी साधुओं की जब कि श्रद्धान, समझ तथा आचरण की यह अवस्था है तब उन्हें किस प्रकार तो सम्यग्दर्शन है और किस प्रकार सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ही हो सकते हैं? और किस प्रकार बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र उत्पन्न हुए उन अन्य लिंगधारी साधुओं को मुक्ति प्राप्त हो सकती है?

तथा एक बात बड़े भारी कौतूहल की यह है कि प्रकरण रत्नाकर के तीसरे भाग में पहले लिखे अनुसार अन्य लिंग से मुक्ति होना बतलाया है और इसी प्रकरणरत्नाकर चौथे भाग के संग्रहणी सूत्र नामक प्रकरण में ७३वें पृष्ठ पर यों लिखा है कि-

तावस जा जोईसिया चरग परिब्वाय वंभलोगो जा।

जा सहस्सारी पंचिदि तिरियजा अच्चुओ सद्दा ॥१५२॥

अर्थात्- तापसी साधु अपनी उत्कृष्ट तपस्या के प्रभाव से भवनवासी आदि से लेकर ज्योतिषी देवों में उत्पन्न हो सकते हैं। और चरक तथा परिवाजक साधु ब्रह्म स्वर्ग तक जा सकते हैं। सम्यक्त्वी पंचेन्द्रिय पशु सहस्रार स्वर्ग तक जा सकते हैं तथा देशव्रती श्रावक अच्युत स्वर्ग तक जा सकते हैं।

इस उल्लेख के अनुसार अन्य लिंगी साधु ब्रह्म स्वर्ग से भी आगे नहीं पहुँच सकते। मुक्ति पहुँचना तो बहुत दूर की बात ठहरी। इस प्रकार प्रकरणरत्नाकर अपनी पहली बात को अपने आप आगे चलकर छिन्न-भिन्न कर देता है।

थोड़ा विचार करने की बात है कि यदि अन्य लिंग से भी मुक्ति सिद्ध हो जाती तो तीर्थंकर देव जैन मार्ग का क्यों उपदेश देते? और क्यों यह बात बतलाते कि रागद्वेष आदि दूर करने के लिए इसी प्रकार अहिंसा समिति आदि रूप से चारित्र पालन करो? अन्य लिंग से अथवा अन्य लिंग के श्रद्धान, ज्ञान, आचरण से आत्मा की शुद्धि नहीं हो पाती है, इसलिए तो वीतराग जिनेन्द्र देव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्राप्त करने का उपदेश दिया है।

अतएव सिद्ध हुआ कि जैन लिंग के सिवाय अन्य लिंग से मुक्ति नहीं होती है।

# गृहस्थमुक्ति परीक्षा

## क्या गृहस्थ मुक्ति पा सकता है?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों में 'अन्य लिंग से मुक्ति' के समान ही गृहस्थ अवस्था से भी मुक्ति का प्राम होना बतलाया है। प्रकरण रत्नाकर (प्रवचनसारोद्धार) के तीसरे भाग के १२७वें पृष्ठ पर पूर्वोक्त लिखी है-

‘इह चउरो गिहिलिंगे’ इत्यादि ४८२

यानी- गृहस्थ लिंग से एक समय में अधिक से अधिक चार मनुष्य मुक्त होते हैं।

प्रकरण रत्नाकर का जैसा यह लेख है उसी प्रकार श्वेताम्बरीय प्रथमानुयोग के कथा ग्रंथों में गृहस्थ अवस्था से मुक्ति प्राप्त करने की कथाएँ भी विद्यमान हैं। एक बुद्धिया उपाश्रय में (साधुओं के ठहरने के मकान में) बुहारी देते-देते केवलज्ञान धारिणी होकर मुक्त हो गई। एक नट बाँस के ऊपर खेलते-खेलते केवली होकर मोक्ष चला गया, इत्यादि कथाओं का परिचय तो हमको किसी श्वेताम्बरीय ग्रंथ से नहीं मिल पाया है। हाँ २-४ अन्य कथाओं का परिचय अवश्य है। एक कथा तो कल्पसूत्र में १०१ पृष्ठ पर भी ऋषभदेव तीर्थकर की माता मरुदेवी की है। जो कि इस प्रकार है-

भरतचक्रवर्ती मरुदेवी माता को हाथी पर चढ़ाकर भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में गए वहाँ पहुँचकर समवसरण के बाहर से ही भरतचक्रवर्ती ने आठ प्रातिहार्यसहित, समवसरण के बीच में विराजमान भगवान् ऋषभदेव को मरुदेवी माता को दिखलाया। तदनन्तर भरतचक्रवर्ती ने यों कहा-

‘तमारा पुत्रनी ऋद्धि, जुओ। एवं रीते भरतनुं बचन सांमली ने हर्षथी रोमांचित अंगवालांथएलां एवं मरुदेवी मातानी आंसुओं पडवा लाग्या; तता तेथी तेमनां नेत्रों पण निर्मल थयाँ। तथा प्रभुनी छत्र, चामर आदिक प्रतिहारोनी शोभा जोइने विचारवा लाग्यां के अहो! मोहथी विव्हल थएला एवा प्राणी ओना धिक्कार छे। सघला प्राणीओ स्वार्थ माटै स्नेह करे छे, मारो ऋषभ दुःखीहोशे एवी रीतनां

दुःखथी सर्वदा रुदन करवाथी मारी तो आंखो पण गइउं। अने ऋषभ तो आवी रीते सुरासुरथी सेवातो थको मारी खबर अंतर माटे तो कई संदेशो पण मोकलतो नथी। धिक्कार छे आस्नेहने। इत्यादि विचार करतां केवलज्ञान उत्पन्न थयुं अने तेज वखते आयुर्कर्मनां क्षयथी ते मोक्षे गयां।’

अर्थात्- (भरत ने मरुदेवी से कहा कि) अपने पुत्र ऋषभदेव की ऋद्धि को देखो। भरत का ऐसा वचन सुनकर हर्ष से रोमांचित अंग होकर मरुदेवी माता के नेत्रों से हर्ष के आँसू निकल पड़े और उन आँसुओं से उसकी आँखें निर्मल हो गई तथा भगवान् ऋषभदेव की छत्र, चामर आदि प्रातिहार्यों की शोभा देखकर मरुदेवी विचारने लगीं कि मोह से विव्हल हुए जीवों को धिक्कार है। समस्त जीव अपने मतलब के लिए ही दूसरों से प्रेम करते हैं।-‘मेरा पुत्र ऋषभनाथ वन में रहने से दुखी होगा’ ऐसे दुख से रुदन करते-करते मेरी तो आँखें थक गईं किन्तु ऋषभनाथ तो सुर-असुरों द्वारा सेवित होकर इस प्रकार ऋद्धि को भोगता हुआ मेरी खबर के लिए कोई संदेश भी नहीं भेजता है। इस कारण इस स्नेह भाव को धिक्कार है। इत्यादि विचार करते-करते(हाथी पर बैठे हुए वस्त्र आभूषण आदि पहने हुए ही) मरुदेवी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और उसी समय आयुर्कर्म के क्षय हो जाने से वह मोक्ष चली गई।

इस प्रकार मरुदेवी तो बिना कुछ परिग्रह आदि का परित्याग किए हाथी पर चढ़ी हुई ही मोक्ष चली गई। किन्तु रतिसार कुमार अपने राजमहल के भीतर अपनी स्त्रियों के बीच में बैठे हुए ही अपनी सौभाग्य सुंदरी नामक स्त्री के मस्तक पर खिंचे हुए तिलक को मिटा देने पर उसकी सुंदरता घटते हुए देख कर विरक्तचित्त हो गया। इस वैराग्य के कारण ही उस रतिसार कुमार को उसी महल में स्त्रियों के बीच बैठे-बैठे केवलज्ञान हो गया।

तदनन्तर क्या हुआ? सो रतिसार कुमार चरित्र नामक पुस्तक के (सन् १९२३ में पं. काशीनाथजी जैन कलकत्ता द्वारा प्रकाशित) ६७वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

‘उस समय शासन देवता ने उन्हें (रतिसार को) मुनिवेश धारण कराया और सुवर्ण कमल के आसन पर पधराया। तदनंतर सभी सुरासुर फूल बरसाते हुए उन्हें प्रणाम करने लगे। यह अद्भुत चरित्र देख, राजा के अंतःपुर के सभी मनुष्य चकित हो गए और स्त्रियाँ ‘हे नाथ यह क्या मामला है?’ यह पूछती हुई, हाथ जोड़े, उत्तर की प्रतीक्षा करने लगीं।’

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का यह सिद्धांत भी बहुत निर्बल आगम प्रमाण और युक्तियों से शून्य है। देखिए जिस प्रकरण रत्नाकर तीसरे भाग में गृहस्थ अवस्था से मुक्ति का विधान है उसी प्रकरण रत्नाकर चौथे भाग के ७३वें पृष्ठ पर यह उल्लेख है कि-

तिरिय जा अच्युओ सदृढा ॥१५२॥

अर्थात्- श्रावक यानी जैन गृहस्थ अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग तक जा सकता है उससे आगे नहीं।

अच्युत स्वर्ग से ऊपर जाने के लिए समस्त घरबार परिग्रह छोड़कर मुनि होने की आवश्यकता है। जब कि ऐसा स्पष्ट सिद्धांत विद्यमान है फिर यह किस मुख से कहा जा सकता कि बिना परिग्रह का त्याग किए और बिना साधु पदवी धारण किए मुक्ति मिल जावे। मुक्ति ऐसा कोई कारखाना नहीं जिसमें चाहे जो कोई पहुँचकर भर्ती हो जावे। न वह कोई ऐसा खेल खेलने का मैदान है जिसमें कि बिना कुछ संयम पालन किए, बिना कुछ आरंभ परिग्रह त्याग किए चाहे जो कोई पहुँच जावे।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी यह बात स्वीकार करता है कि पूर्ण वीतराग हो जाने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। जब तक जीव में लेशमात्र भी राग-द्वेष आदि मोह भाव हैं तब तक वीतरागता की पूर्णता नहीं है। मोह का अभाव अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग करने पर होता है। जब तक जीव के पास अंतरंग या बहिरंग परिग्रह विद्यमान रहेगा तब तक मोहभाव नहीं हट सकता। इसी कारण मुक्ति की साधना करने के लिए समस्त परिग्रह रहित, परम वीतराग जिनेन्द्र देव को उद्देश्य करके समस्त बहिरंग परिग्रह छोड़कर साधुदीक्षा ग्रहण की जाती है।

श्वेताम्बरीय ग्रंथ आचारांग सूत्र में (नग्न जिन कल्पी) साधु को इसी कारण उत्कृष्ट साधु माना गया है कि,

वह वीतरागता का सच्चा आदर्श होता है, समस्त बहिरंग परिग्रह का त्यागी होता है। बहिरंग परिग्रह, धन, मकान, वस्त्र, आभूषण, पुत्र, स्त्री आदि पदार्थ अंतरंग परिग्रह के कारण हैं। यह मनुष्य के पास जब तक मौजूद रहते हैं तब तक मनुष्य के आत्मा में उनके निमित्त से मोह उत्पन्न होता रहता है। जिस समय वह उन पदार्थों का परित्याग करके महाव्रतधारी साधु हो जाता है उस समय अंतरंग परिग्रह रागद्वेष आदि परिणाम भी हटने लग जाते हैं। क्योंकि बहिरंग निमित्त नष्ट हो जाने पर उसका नैमित्तिक कार्य राग द्वेष आदि भी नहीं होने पाते।

मनुष्य के पास जब तक घरबार विद्यमान है, तब तक किसी अच्छे पदार्थ के निमित्त से इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त होने से उस पदार्थ में राग(प्रेम) उत्पन्न होता है और किसी बुरे पदार्थ के संसर्ग से जिसके निमित्त से कि उसके इन्द्रिय सुख में बाधा पड़ती है, उस पदार्थ में द्वेषभाव उत्पन्न होता रहता है। जिस समय उन घरबार संबंधी पदार्थों से संसर्ग छूट जाता है उस समय वह कुत्सित राग द्वेष भी अपने आप दूर हो जाता है।

यद्यपि यह बात ठीक है कि बाह्य पदार्थों का त्याग मानसिक उदासीनता के कारण हुआ करता है। किन्तु वहाँ पर इतना भी अवश्य है कि उस मानसिकता उदासीनता या वैराग्य को स्थिर रखने के लिए बाह्य पदार्थों का त्याग करना ही परम आवश्यक है। बिना उन बाहरी गृह संबंधी पदार्थों का संसर्ग छोड़े वह वैराग्यभाव ठहर नहीं पाता। जैसे गृहस्थ लोग अपने किसी प्रिय बन्धु की मृत्यु होते देखकर कुछ समय के लिए श्मशान भूमि में वैराग्य की तरह झुक जाते हैं। वहाँ पर संसार की अनित्यता, उसकी असारता का अनुभव करने लगते हैं। किन्तु घर में आकर अपनी स्त्री, पुत्री, बहिन, माता, पुत्र, दुकान आदि को देखकर उनके संसर्ग से फिर जैसे तैसे हो जाते हैं वैराग्य न जाने किधर विदा हो जाता है। इस कारण इस बात का खुलासा अपने आप हो जाता है कि मानसिक वैराग्य को स्थिर रखने वाला तथा उसको पुष्ट करने वाला बाह्य परिग्रह का संसर्ग त्याज्य है। मनुष्य जब तक उसका पूर्णतया परित्याग न करे तब तक राग-द्वेष पर विजय नहीं पा सकता।

इसी कारण अन्य साधारण मनुष्यों की बात तो एक ओर रहे किंतु तीर्थंकर सरीखे मुक्तिरमणी के निश्चित भर्तार भी जब तक समस्त बहिरंग परिग्रह छोड़ साधु दीक्षा ग्रहण नहीं कर लेते हैं तब तक उनको वीतरागता प्राप्त नहीं होने पाती। चौबीस तीर्थंकरों में से कोई भी ऐसा तीर्थंकर नहीं हुआ जिसने परिग्रह का त्याग किए बिना ही केवलज्ञान पा लिया हो। जब तीर्थंकर सरीखे उत्कृष्ट चरम शरीरी के लिए यह बात है तो फिर क्या रतिसार कुमार सरीखे साधारण मनुष्यों को वीतरागता पाने के लिए परिग्रह त्याग देना आवश्यक नहीं?

यदि गृहस्थ अवस्था में भी मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो सकती है तो फिर साधु बनने, बनाने, उपदेश करने, प्रेरणा करने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि ऐसा कोई बुद्धिमान मनुष्य नहीं जो कि घर में मिल सकने वाले पदार्थ को प्राप्त करने के लिए अनेक कष्ट उठाता हुआ जंगलों की धूल छानता फिरे। यदि गृहस्थ मनुष्यों का विराट् परिग्रह मुक्ति प्राप्त करने में बाधा नहीं डाल सकता तो फिर स्थविरकल्पियों के वस्त्र, पात्रादिक



पदार्थ भी वीतरागता में क्या विघ्न उत्पन्न कर सकते हैं? फिर समस्त वस्त्र पात्रत्यागी नग्न जिन कल्पी साधु उनसे ऊँचे क्यों माने गए हैं?

यहाँ कोई मनुष्य यह कुतर्क उपस्थित करे कि 'मूर्च्छा परिग्रहः' तत्त्वार्थधिगम सूत्र के इस सूत्रानुसार धन-धान्य, घर, पुत्रादि का नाम परिग्रह नहीं है किन्तु उन पदार्थों में ममत्व भाव (मोहभाव) रखने का नाम परिग्रह है। इस कारण जिस मनुष्य के हृदय से बाह्य पदार्थों का प्रेम दूर हो गया है वह वस्त्र, आभूषण आदि पहने हुए भी घर के भीतर स्त्री पुत्रादि के बीच में बैठा हुआ भी परिग्रही नहीं कहा जा सकता।

इस तर्क का उत्तर यह है कि बाह्य पदार्थों में उस मनुष्य को मोहभाव नहीं रहा है, यह बात उसके किस कार्य से मान ली जावे। यदि वह बाह्य पदार्थों को अपने नहीं समझता है, अन्य ही समझता है तो उसका पहला कार्य होना चाहिए कि वह उनका साथ छोड़ दे। क्योंकि जो मनुष्य सचमुच में विष को प्राणघातक समझ लेता है, वह फिर उस विष को कभी नहीं खाता है। तदनुसार जो मनुष्य परिग्रह को दुःखदायक समझ जाता है, वह फिर उनको छोड़ भी अवश्य देता है। यदि वह उनको न छोड़े तो समझना चाहिए कि उसने परिग्रह को दुःखदायक समझा ही नहीं।

यदि बाह्य पदार्थ परिग्रह त्याज्य नहीं है तो फिर तत्त्वार्थधिगमसूत्र के सातवें अध्याय के २४वें सूत्र 'क्षेत्र वास्तु हिरण्यसुवर्णधनधान्यदासी-दासकुप्यप्रमाणतिक्रमाः' इस सूत्र में धन धान्यादिक बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में परिग्रहत्याग व्रत के अतीचार (दोष) क्यों माने गए हैं?

यदि बाह्य पदार्थों का बिना त्याग किए भी कोई मनुष्य अपरिग्रही (परिग्रहत्यागी) हो सकता है तो कोई मनुष्य स्त्रियों के साथ भोग-विलास करते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचारी क्यों नहीं हो सकता? यहाँ जो आक्षेप समाधान हों वे ही आक्षेप समाधान उक्त पक्ष में समझने चाहिए।

एवं-गृहस्थलिंग से मुक्ति प्राप्त होने में कर्म सिद्धांत भी बाधक है, क्योंकि गृहस्थ के अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम रहता है तथा प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन कषाय का उदय रहता है। इसी कारण गृहस्थ पंचमगुणस्थानवर्ती होता है। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक जब तक प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन कषायों का क्षयोपशम तदनन्तर क्षय न करे तब तक वह यथाख्यातचारित्र धारी, वीतराग भी नहीं हो सकता है।

श्री आत्मनंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल आगरा द्वारा दामोदर यंत्रालय से प्रकाशित पहले कर्म ग्रंथ के ४८वें पृष्ठ पर अनंतानुबंधी आदि कषायों के विषय में क्रम से लिखा हुआ है कि-

'सम्माणुसव्वविरई अहाखायचरित्तघायकरा ' ||१२ ||

यानी- अनंतानुबंधी सम्यग्दर्शनका, अप्रत्याख्यानावरण देश व्रत का, प्रत्याख्यानावरण मुनिव्रत का तथा संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करने वाली है।

तदनुसार गृहस्थ के महाव्रत होना भी असंभव है और जबकि उसको महाव्रत भी नहीं हो सकते तो यथाख्यात चारित्र और उसके आगे उसको मुक्ति मिलना आकाश के फूल के समान असंभव है।

समझ में नहीं आता कि कर्म सिद्धांत के विरुद्ध इस 'गृहस्थ मुक्ति' की कल्पना निराधार रूप से श्वेताम्बरीय ग्रंथों ने कहाँ से करली? थोड़ा सा विचार करने की बात है कि यदि गृहस्थ दशा से ही मुक्ति मिल सकती है तो उच्च त्याग की और साधु बनकर वननिवास करने तथा कायक्लेश, दुर्द्धर-परीषह सहने, आतापनादिक योग करने की क्या आवश्यकता है?

जैसे मरुदेवी माता हाथी पर चढ़े-चढ़े बिना कुछ त्याग किए मुक्त हो गई, रतिसार स्त्रियों के बीच बैठा हुआ ही मुक्ति चला गया उसी प्रकार 'कोई मनुष्य यदि अपनी स्त्री के साथ विषय सेवन करते हुए वैराग्य भावों की वृद्धि से मुक्त हो जावे' तो ऐसे कथन का निषेध हमारे श्वेताम्बरीय भाई किन आधार से कर सकते हैं? क्योंकि वे जो-जो विघ्न बाधाएँ यहाँ खड़ी करेंगे वे ही उनके पक्ष में खड़ी होंगी।

फिर एक और आनंद की बात यह है कि रतिसार को तो केवलज्ञान हो जाने पर देवों ने आकर उसके वस्त्र आभूषण उतार उसका साधुवेश बनाया। अर्थात् रतिसार केवलज्ञानी तो हो गया किन्तु वस्त्र आभूषण पहने ही रहा। इस मोटी ऋटि को अल्पज्ञ देवों ने आकर दूर किया। इस वृत्तान्त से भी बुद्धिमान मनुष्य तो यह अभिप्राय निकाल ही सकता है कि बिना बाह्य परिग्रह त्याग किए मुक्ति नहीं हो सकती। अतएव गृहस्थ अवस्था से मुक्ति मानना ठीक नहीं। मोटी भूल है।

इस कारण सारांश यह है कि प्रथम तो गृहस्थ समस्त परिग्रह का त्यागी नहीं इस कारण उसको मुक्ति नहीं हो सकती।

दूसरे- गृहस्थ पंचम गुणस्थानवर्ती होता है मुक्ति चौदहवें गुण स्थान के अनंतर होती है इसलिए गृहस्थ अवस्था से मुक्ति नहीं होती।

तीसरे- प्रत्याख्यानवरण और संज्वलन कषाय का गृहस्थ के उदय रहता है इस कारण गृहस्थ को यथाख्यात चारित्र न होने से मुक्ति नहीं हो सकती है।

चौथे- गृहस्थ कर्म सिद्धांत के अनुसार अपनी सर्वोत्कृष्ट तपस्या से भी अच्युत स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकता।

पाँचवें- कर्मों का क्षय करने वाला शुक्ल ध्यान गृहस्थ के होता नहीं है इस कारण गृहस्थ को मुक्ति नहीं हो सकती।

छठे- गृहस्थ अवस्था से ही यदि मुक्ति हो जाती तो तीर्थकर देव ने उनको साधुदीक्षा ग्रहण करने का उपदेश क्यों दिया?

सातवें- यदि इतर साधारण पुरुष गृहस्थ दशा से मुक्त हो सकते हैं तो फिर तीर्थकर भी गृहस्थ अवस्था से मुक्त क्यों नहीं होते? वे तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान में अन्य गृहस्थ पुरुषों से बहुत बड़े - चढ़े भी होते हैं?

## पैर दाबते-दाबते केवलज्ञान

श्वेताम्बरीय कथा ग्रंथों में अधिकांश ऐसी कथाएँ हैं जिनके कल्पित रूप बहुत शीघ्र स्पष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु उन कथाओं की घटना में सिद्धांत के नियमों से भी बहुत भारी बाधा आ उपस्थित होती है। हम इस बात को यहाँ केवल चंदना तथा मृगावती के केवलज्ञान उत्पन्न होने वाली कथा को दिखलाकर ही समाप्त करेंगे।

चंदना तथा मृगावती के केवलज्ञान उत्पन्न होने की घटना कल्पसूत्र के ११६वें पृष्ठ पर यों लिखी है-

‘एक दहाडो श्री वीरप्रभु ने वादंवा माटे सूर्य अने चन्द्र पोतानां विमानसहित आव्या। ते वखते दक्ष एवी चंदना अस्त समय जाणी ने पोताने स्थान के गई: अने मृगावती सूर्य चन्द्रमा जावा बाद अंधकार थये छते, रात्री जाणीने बीती थकी, उपाश्रये आवी ने, ईर्या वही पडीकभीने चंदना प्रते कहेवा

लागी के, मारो अपराध आप क्षमा करो। त्यारे चंद नाए पण कह्युं के तने कुलीन ने आवुं करवु युक्त नथी; त्यारे तेणोए कह्युं के, फरीने हुं तेम करीश नहीं; एम कही तेणी ने पगे ते पडी। एटलामां चंदना ने निद्रा आवी गइ। अने मृगावती ने तेग खमावतां थका केवलज्ञान उपज्युं;पद्दी सर्पपासेथी तेणीनो हाथ खसेडवावडे कराने जगाडेली प्रवर्तनीये पुछ्युं, ते सर्पनें शी रीते जाणयो? पछी तेणीने केवलज्ञान थएल्लुं जाणीने पोते पण खमावती तकी केवलज्ञान पामी।’

अर्थात्- एक दिन कौशाम्बी नगरी में श्री महावीर स्वामी की वंदना करने के लिए सूर्य और चन्द्रमा अपने मूल विमानों सहित आये। उस समय चतुर चंदना दिन छिपता जानकर अपने स्थान पर चली गई और मृगावती नामक साध्वी (आर्यिका) सूर्य चन्द्रमा के चले जाने पर जब रात्रि हो गई तब उपाश्रय में चंदना के सामने प्रतिक्रमण (लगे हुए दोषों का पश्चाताप) करते हुए चंदना से कहने लगी कि मेरा अपराध क्षमा करो। तब चंदना ने उससे कहा कि हे भद्रे! तुम कुलीन स्त्री हो, रात के समय बाहर रहना तुमको योग्य नहीं। तब मृगावती ने चंदना से कहा कि फिर ऐसा कार्य नहीं करूँगी। ऐसा कहकर वह चंदना के पैरों पर गिर पड़ी। इतने में चंदना को नींद आ गई। और मृगावती को उसी प्रकार चंदना के पैरों पर पड़े हुए अपना अपराध क्षमा कराते हुए केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। तदनंतर उस उपाश्रय में एक सर्प आया, उस सर्प को मृगावती ने अपने केवलज्ञान से जान लिया। सर्प के जाने के मार्ग में सोती हुई चंदना का हाथ रखा हुआ था सो मृगावती ने केवलज्ञान से जान उसका हाथ एक ओर हटा दिया। हाथ हटाने से चंदना जाग गई और उसने अपने हाथ हटाने का कारण पूछा। तब उसको मृगावती के कहने से मालूम हुआ कि यहाँ एक सर्प आया था उससे बचाने के लिए मृगावती ने मेरा हाथ एक ओर हटा दिया था। तब चंदना ने मृगावती से पूछा ऐसे गाढ अंधकार में तुमको सर्प कैसे जान पड़ा। तब मृगावती के कहने से उसको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जानकर चंदना अपने दोषों को मृगावती से क्षमा कराने लगी और उस प्रकार क्षमा करातेहुए उसको भी केवलज्ञान हो गया।

यह कथा हुबहू इसी रूप में पं. काशीनाथजी जैन कलकत्ता लिखित तथा उन्हीं के द्वारा सन् १९२३ में प्रकाशित ‘चंदनबाला’ नामक पुस्तक में लिखी गई है। केवल इतना विशेष है कि ५५वें पृष्ठ पर केवलज्ञान धारिणी मृगावती चंदना से केवलज्ञान उत्पन्न होने के कारण में यों कहती है कि-‘यह सब आपकी कृपा है।’

इस कथा में प्रथम तो यह बात ही बिल्कुल असत्य है कि श्री महावीर स्वामी की वंदना के लिए चंद्रमा और सूर्य अपने विमानों सहित कौशाम्बी नगरी में आए।

क्योंकि यह असंभव बात है। स्वभाव से ही ज्योतिषी देव कल्पवासी देवों के समान अपने मूल विमानों सहित यहाँ कभी नहीं आते न कभी पहले आए हैं और न कभी आवेंगे।

चन्द्रमा सूर्य के मूल विमानों सहित कौशांबी नगरी में आने की निर्मूल बात को इसी कारण श्वेताम्बरीय ग्रंथों में 'अच्छेरा' कहकर न पूछने योग्य बता दिया है। सो बुद्धिमान मनुष्य इस असंभावति घटना को कदापि नहीं स्वीकार कर सकते। यदि इस घटना को हमारे श्वेताम्बरी भाई सत्य समझते हैं तो उन्हें यह बात भी झूठ नहीं मानना चाहिए कि -

मुलतान नगर में कुछ सौ वर्ष पहले शम्भस नामक एक मुसलमान फकीर रहता था उसके शरीर का कच्चा चमड़ा उतर जाने से उसका शरीर घृणित दिखता था। इसी कारण रोटी पकाने के लिए कोई भी मनुष्य उसको अग्नि नहीं देता था तब उसने विवश (लाचार) होकर सूरज को मुलतान में पृथ्वी पर उतारा और उसके ऊपर अपनी रोटियाँ पकाई। इसी कारण उस दिन से मुलतान में अब तक असह्य और बहुत भारी-गर्मी पड़ती है।'

यदि श्वेताम्बरी भाई इस कहानी को कल्पित अतएव सर्वथा असत्य समझते हैं तो उन्हें श्री महावीर स्वामी की चंदना के लिए अपने विमान सहित कौशांबी में चन्द्रमा सूर्य से आने को भी असत्य समझने में न चूकना चाहिए।

दूसरे- कल्पित रूप से ही मान लो कि यदि सूर्य चन्द्र कौशांबी में आए तो और स्थान पर नहीं तो कम से कम कौशांबी में तो उनका प्रकाश अवश्य रहा होगा। फिर वहाँ चंदना को कैसे रात दिख गई?

तीसरे- केवलज्ञान की उत्पत्ति की बात भी बिल्कुल असत्य है क्योंकि केवलज्ञान षट् आवश्यक करने या उसके अंशरूप प्रतिक्रमण करने से नहीं होता, न किसी के पैरों पर पड़ने से होता है तथा न अपने अपराधों की क्षमा माँगने मात्र से ही केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान कोई अवधिज्ञान, लब्ध्यात्मक मति, श्रुत आदि सरीखा नहीं है जो किसी शुभ क्रिया के करने से क्षयोपशम हो जाने पर उत्पन्न हो जावे। केवलज्ञान उत्पन्न होने के लिए तो ज्ञानावरण कर्म का समूल क्षय होना चाहिए।

ज्ञानावरण कर्म का क्षय तब होता है जब कि उसके पहले मोहनीय कर्म समूल नष्ट हो जाता है। मोहनीय कर्म के नष्ट करने के लिए क्षपकश्रेणी चंदना होता है। क्षपक श्रेणी पर उस समय चढ़ते हैं जब कि शुक्ल ध्यान प्रारंभ होता है। इस कारण शुक्ल ध्यान प्रारंभ किए बिना कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता फिर केवलज्ञान तो दूर की बात है।

प्रतिक्रमण करना, अपने गुरु-गुरुणी के पैरों पड़ना, अपने अपराधों की क्षमा माँगना आदि कार्य प्रमादसहित कार्य हैं। अतएव वे प्रमत्त नामक छठे गुण स्थान तक ही होते हैं। उसके सातवें आदि प्रमाद रहित गुण स्थानों में ऐसी क्रियाएँ नहीं। वहाँ पर तो केवल अपनी आत्मा का ध्यान ही ध्यान है।

इस कारण बिना शुक्ल ध्यान किए केवल क्षमा माँगते मृगावती और चंदना को केवलज्ञान हो जाने की बात सर्वथा असत्य और सिद्धांत विरुद्ध है।

इसी प्रकार केवलज्ञान धारिणी मृगावती द्वारा सर्प से बचाने के लिए चंदना का हाथ हटाने की जो बात कही गई है वह भी बिल्कुल असत्य है। वहाँ पर दो बाधाएँ आती हैं। एक तो केवलज्ञानी को अज्ञानता का दोष। दूसरे उसको मोह भाव।

मृगावती केवलज्ञानिनी को अज्ञानता का दोष तो इस कारण आता है कि उसको यह मालूम नहीं हो पाया कि 'यह सर्प चंदना को काटेगा या नहीं; और चंदना को अभी जाग जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होगा या नहीं।

यदि सर्वज्ञा मृगावती को उक्त दोनों बातें ज्ञात होतीं तो वह चंदना का हाथ क्यों हटाती? प्राण बचाने का उपाय तो हम-तुम सरीखे अल्पज्ञ मनुष्य करते हैं जिनको कि होने वाले प्राण-नाश या प्राण-रक्षण का कुछ बोध नहीं है। यदि मनुष्यों को भविष्यत् कालीन-होने वाली बात का पहले से ही यथार्थ बोध हो जावे तो वे वैसा यत्न कदापि न करें। जब कि सर्प द्वारा चंदना की मृत्यु होनी ही नहीं थी जिसको कि मृगावती भी जानती होगी कि या तो मृगावती को केवलज्ञान ही नहीं हुआ था या उसके केवलज्ञान की उत्पत्ति बतलाना असत्य है। मृगावती को केवलज्ञान था ही तो श्वेताम्बर संप्रदाय के माने हुए सर्वज्ञों में कुछ अंश अज्ञानता का भी रहता है जैसा कि मृगावती में था।

तथा- मृगावती को केवलज्ञान रहते हुए भी मोहभाव इस कारण सिद्ध होता है कि दूसरे जीव के प्राण रक्षण का कार्य तब ही होता है जब कि प्राण रक्षा करने वाले में कुछ शुभ राग हो। रागद्वेष का नाश हो जाने पर उपेक्षा भाव उत्पन्न होता है जिससे कि वीतराग किसी जीव के घात करने अथवा रक्षण करने में प्रवृत्त नहीं होता है। दूसरे जीव को बचाने के लिए प्रवृत्ति करना इस बात को सिद्ध करता है कि उस वीतराग नामधारी के भीतर इच्छा विद्यमान है। इस कारण मृगावती ने सर्प के आक्रमण से बचाने के लिए जो चंदना का हाथ एक ओर हटाया उससे सिद्ध होता है कि मृगावती की इच्छा चंदना के प्राण बचाने की थी। अन्यथा वह उसका हाथ वहाँ से क्यों हटाती? अतएव उसके मोहभाव भी सिद्ध होता है।

एवं पं.काशीनाथजी जो कि श्री चन्द्रसिंह सूरीश्वरजी के शिष्य हैं अनेक पुस्तकों के लेखक हैं उनके लिखे अनुसार केवलज्ञान धारिणी मृगावती ने चंदना से यह भी कहा कि मुझे जो केवलज्ञान हुआ है 'वह आपकी कृपा है'। दूसरे व्यक्ति का आभार (अहसान) मानना अल्पज्ञ और मोहसहित जीव का काम है जो कि अपने ऊपर उपकार करने वाले को अपने से ऊँचा समझता है। वीतरागी, सर्वज्ञ आत्मा के भीतर किसी को अपने आप से बड़ा या छोटा समझने की इच्छा ही नहीं होती और न वह दूसरे से यों कहता ही है कि महानुभाव मैं आपकी कृपा से केवलज्ञानी हुआ हूँ। इस कारण मृगावती ने चंदना के सामने जो उसका आभार स्वीकार किया इस बात से समझा जाता है कि उस आत्मा में केवलज्ञान हो जाने पर मोहभाव विद्यमान था।

## अर्हत अवस्था में श्री महावीर स्वामी के रागभाव

यह बात दिगम्बरीय सिद्धांत के अनुसार श्वेताम्बरीय सिद्धांत भी पूर्ण रूप से मानता है कि मोहजनित राग-द्वेष आदि दुर्भाव केवलज्ञान होने के पहले ही नष्ट हो जाते हैं। केवलज्ञान के उदय समय रागद्वेष आदि दोष समूल नष्ट रहते हैं क्योंकि उनका उत्पादक मोहनीय कर्म उस समय तक बिल्कुल नष्ट हो जाता है।

किन्तु श्वेताम्बरीय कथा ग्रंथों में भगवान् महावीर स्वामी के केवलज्ञान हो जाने पर भी मोहभाव प्रगट करने वाली चेष्टाओं का उल्लेख है। वह इस प्रकार है-

एक तो श्वेताम्बरीय ग्रंथों में 'हे गौतम' इस संबोधन के साथ उसका उल्लेख है। परम वीतराग महावीर भगवान् अपने उपदेश में किसी एक व्यक्ति विशेष का संबोधन क्यों करें? उनके लिए तो गौतम गणधर के समान ही अन्य मनुष्य, देव, पशु, पक्षी थे। उस केवलज्ञानी दशा में गौतम गणधर ही एक परमप्रिय मित्र हों, अन्य न हों यह तो असंभव है। वीतराग दशा होने के कारण उनका न कोई मित्र ही कहा जा सकता है और न कोई शत्रु ही। इस कारण केवल गौतम गणधर का ही महावीर स्वामी के शब्दों में संबोधन बनता नहीं। फिर भी श्वेताम्बरीय शास्त्रों ने वैसा उल्लेख किया ही है। इसका अभिप्राय यह है कि वे शास्त्र श्री महावीर स्वामी के अर्हत दशा में मोहभाव की सत्ता बतलाते हैं।

तथा- मुक्ति प्राप्त करने के दिन भी महावीर स्वामी के मोहभाव निम्न प्रकार प्रगट कर दिखाया है।

भगवान् महावीर को जिस रात्रि के अन्तिम समय में इस पौद्गलिक शरीर बन्धन को तोड़कर मुक्ति प्राप्त होनी थी उस दिन महावीर स्वामी ने यह विचार कर कि मेरी मुक्ति हो जाने पर मेरे वियोग के कारण गौतम गणधर को बहुत दुख होगा, यदि वह मेरे पास उस समय न होगा तो उसको उतना दुख न होगा, अतः गौतम गणधर को देव शर्मा को उपदेश देने के लिए भेज दिया।

इस बात को कल्प सूत्र में ८४वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

'जे रात्रिए प्रभु निर्वाण पदने पाम्या ते रात्रिए प्रभुनी नजदीकमां रहेता एवा गौतम गौत्रनां इन्द्रभूति नामनां मोटा शिष्य ने स्नेहबंधन त्रुटने छते केवल ज्ञान अने केवल दर्शन उत्पन्न थयां। तेनो वृतान्त नीचे प्रमाणे जाणवो। प्रभुए पोतानां निर्वाण वखते गौतम स्वामिने कोइक गाममां देव शर्मा ने प्रतिबोधवावास्ते मोक्कया हता। तेने प्रति बोधने पाछा बलतां श्री गौतम स्वामिने वीर प्रभुनुं निर्वाण सांभल्युं अने तेथी जाणे वज्रथीज हणाया होय नहीं तेम क्षणवारसुधि मोनपणा ने धारण करीने रहा।'

अर्थात्- जिस रात को भगवान् महावीर ने मुक्ति पद प्राप्त किया उस रात को भगवान् के समीप रहने वाले गौतम गोत्रधारी इन्द्रभूति नामक बड़े शिष्य का प्रेम बंधन टूटते ही भगवान् को केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। उसका प्रसंग इस प्रकार है- भगवान् महावीर स्वामी ने अपने मुक्तिगमन के समय गौतम गणधर को किसी एक गाँव में देवशर्मा नामक गृहस्थ को प्रतिबोध देने के लिए (धर्म पालन में तत्पर करने के लिए) भेज दिया था। देव शर्मा को उपदेश देकर लौटकर आते हुए गौतम स्वामी ने श्री महावीर स्वामी के मुक्त हो जाने की बात सुनी। सुनकर गौतम स्वामी कुछ देर तक वज्र से आहत (घायल) के समान मौन धार कर रहे।

कल्प सूत्र के इस कथन में प्रथम तो केवलज्ञान उत्पन्न होने की यह बात मोटी भूल भरी है कि भगवान् महावीर स्वामी को जिस रात्रि के अंतिम पहर में मुक्ति प्राप्त हुई थी उसी रात्रि को केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ था किन्तु उससे ३० वर्ष पहले दीक्षा ग्रहण करने के १२ वर्ष पीछे केवलज्ञान उनको उत्पन्न हुआ था। जैसा कि कल्पसूत्र के ७४वें पृष्ठ में भी लिखा हुआ है कि-

'एवी रीते तेरमा वर्षनी वैशाख सुदी दशमी ने दहाडे... बाधारहित तथा आवरण रहित एवां केवलज्ञान अने केवलदर्शन प्रभु ने उत्पन्न थयाँ।'

अर्थात्- इस प्रकार तेरहवें वर्ष वैशाख सुदी दशमी के दिन.....बाधा और आवरण रहित केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ।

इस तरह प्रथम तो कल्पसूत्र का पूर्वोक्त कथन परस्पर विरुद्ध है। किंतु यह तो स्पष्ट है कि मुक्त होने से तीस वर्ष पहले महावीर स्वामी अर्हत हो चुके थे इस कारण वे अंतिम तीस वर्षों तक पूर्ण वीतराग रहे थे।

जबकि वे पूर्ण वीतराग थे फिर गौतम गणधर के साथ उनका प्रेम बंधन किस प्रकार संभव हो सकता है? प्रेम भाव तो सरागी पुरुष के ही होता है। यदि इस बात को यों समझा जाय कि प्रेमभाव महावीर को न होकर गौतमस्वामी को ही था तो फिर गौतम गणधर के प्रेमबन्धन से महावीर स्वामी के मुक्तिगमन में क्या रुकावट थी? जिसको कि कल्पसूत्र के रचयिता ने 'गौतमगणधर का प्रेमबन्धन टूटते हुए महावीर स्वामी की मोक्ष हो गई' ऐसा लिखा है। प्रेम बन्धन गौतम गणधर के होवे और उसके कारण भगवान् महावीर मोक्ष प्राप्त न कर सकें यह बात बिल्कुल उँट-पटांग है।

तीसरे- जबकि महावीर स्वामी उत्तम वीतराग थे तब उन्हें देव शर्मा को प्रतिबोध देने के बहाने गौतम गणधर को बाहर इसलिए भेज देना कि 'यह कहीं यहाँ रह गया तो मेरे मुक्त होने पर मेरे वियोग में दुखी होगा- अश्रुपात करेगा? कहाँ तक उचित है? ऐसा करना भी मोहजनित है।

इस कारण श्वेताम्बरीय ग्रंथों की इस कथा के अनुसार भगवान् महावीर स्वामी के अर्हत अवस्था में मोहभाव सिद्ध होता है। जो कि असंभव तथा सिद्धांत विरुद्ध बात है।



## हाईकू

कब पता न,  
मरण निश्चित है,  
फिर डर क्यों ?

□□□

मरघट में,  
घूँघट का क्या काम ?  
घट कहाँ है ?

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## अर्हत भगवान् की प्रतिमा वीतरागी हो या सरागी?

इस अपार असार संसार के भीतर जीवों के लिए मुख्य तौर से दो ही मार्ग हैं वीतराग और सराग। इनमें से वीतराग मार्ग के उपासक जैन लोग हैं और सरागी मार्ग की उपासना करने वाले अन्य मतानुयायी हैं।

जैन समाज अपना आराध्य देव वीतराग (रागद्वेषरहित परमात्मा) को ही मानता है और अपना सच्चा गुरु भी उसको समझता है जो कि वीतरागता का सच्चा अभ्यासी होवे तथा प्रत्येक जैन व्यक्ति स्वयं वीतराग बनने का उद्देश्य रखता है। इसी कारण वीतराग देव को अपना आदर्श मानकर उसकी मूर्ति बनाकर उसकी उपासना करते हुए उसके समान वीतरागता प्राप्त करने के लिए उद्योग करता है।

वीतराग मार्ग का उपासन जैसे दिगम्बर जैन संप्रदाय है उसी प्रकार श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय भी होना चाहिए। श्वेताम्बरी भाई भी अर्हत भगवान् को वीतराग कहते हैं तथा स्वयं वीतरागता प्राप्त करने के लिए ही अर्हत भगवान् की उपासना करते हैं। किन्तु आजकल उन्होंने अपने आदर्श को गिरा दिया है। आजकल वे जिस ढंग से अपना आदर्श बनाकर उपासना करते हैं उस उपासना के ढंग में वीतरागता का अंश न रहकर सरागता का दूषण घुस गया है।

कुछ समय पहले की बनी हुई श्वेताम्बरीय अर्हत भगवान् की प्रतिमाएँ वीतराग ढंग की होती थीं। उन प्रतिमाओं में दिगम्बरीय प्रतिमाओं से केवल लँगोट मात्र का अंतर रहता था। अन्य सब अंगों में दिगम्बरीय मूर्तियों के समान वे भी वीतरागता संयुक्त होती थीं किन्तु आजकल श्वेताम्बरी भाईयों ने उन अर्हत मूर्तियों को श्रीकृष्ण, रामचन्द्रजी आदि की मूर्तियों से भी बढ़कर वस्त्र-आभूषणों से सुसज्जित करके सरागी बना दिया है।

पाषाण निर्मित वीतरागता-छविसंयुक्त प्रतिमाओं का वे खूब श्रृंगार करते हैं। प्रतिमा के नेत्रों की शोभा बढ़ाने के लिए वे नेत्रों के स्थान को खोद कर दूसरे कृत्रिम काली पुतली संयुक्त सफेद पत्थर की आँखों को जड़ देते हैं। प्रतिमा के सिर पर राजा,

महाराजाओं अथवा देव, इन्द्रों के समान सुंदर मुकुट पहनाते हैं। कानों में चमकदार कुण्डल पहनाकर सजा देते हैं और शरीर पर पहनने के लिए अच्छे सुंदर वस्त्र का अंगिया बनाते हैं जिस पर सलमा सितारे का काम किया हुआ होता है।

वैसे श्वेतांबरी भाई प्रतिदिन कम से कम अपने मंदिर की मूलनायक प्रतिमा को ऐसे सुंदर वस्त्र आभूषणों से अवश्य सजाए हुए रखते हैं किंतु किसी विशेष उत्सव के समय तो वे अवश्य ही उस प्रतिमा का भी मनोहर शृंगार करते हैं जिसको कि उत्सव के लिए बाहर निकालते हैं।

अनेक स्थानों पर श्वेतांबरी भाइयों ने कुछ दिगम्बरीय प्रतिमाओं पर अपना अधिकार कर रखा है अतः उन प्रतिमाओं की वीतराग मुद्रा को ढकने के लिए भी उद्योग करते रहते हैं। आगरे में जुम्मा मस्जिद के पास जो श्री शीतलनाथजी का मंदिर है उसमें श्री शीतलनाथ तीर्थंकर की २॥-३ फुट ऊँची श्यामवर्ण की पाषाण निर्मित दिगम्बरीय प्रतिमा है जो कि बहुत मनोहर है उस पर शृंगार कराने के लिए सदा उद्योग करते रहते हैं। प्रातःकाल दिगम्बरीय भाइयों के दर्शन कर जाने के पीछे उसको सुसज्जित कर देते हैं। मकसी पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर भी ऐसा ही किया करते हैं। अभी कुछ दिन से केशरिया तीर्थक्षेत्र पर भी दिगम्बरीय प्रतिमाओं को कृत्रिम आँख आदि जड़कर श्वेतांबरीय प्रतिमा बनाने के लिए शृंगारयुक्त करना चाहते हैं। इत्यादि।

इस प्रकार एक तरह से श्वेतांबरीय भाई आजकल वीतरागता को छोड़कर सरागता के उपासक बन गए हैं। यहाँ पर हमारा श्वेतांबरी भाइयों के सामने प्रश्न उपस्थित है कि आप लोग इस समय वीतराग देव की आराधना, पूजन करते हैं अथवा सरागी देव की?

यदि आप सरागी देव की पूजना आराधना करते हैं तो आप लोग जैन नहीं कहला सकते क्योंकि जैन समाज वीतराग देव का उपासक है। वह सरागी देव की उपासना नहीं करता है।

यदि आप वीतराग देव के उपासक हैं तो आपको अपनी अर्हंत प्रतिमाएँ वीतराग रूप में रखनी चाहिए उनको सरागी नहीं बनाना चाहिए। आप अपनी प्रतिमाओं को मनोहर चमकीले वस्त्र-आभूषण पहना कर जो शृंगारयुक्त कर देते हैं सो आपकी उस अर्हंत प्रतिमा में तथा श्री रामचन्द्र-श्रीकृष्ण आदि की मूर्तियों में कुछ भी अंतर नहीं रहता। बल्कि आपकी अर्हंत मूर्ति से कहीं अधिक बढ़कर बुद्ध मूर्ति वैराग्यता प्रगट करने वाली होती है।

इसके सिवाय इसी विषय में हमारा एक प्रश्न यह है कि आप तीर्थंकर की प्रतिमा अर्हंत दशा की पूजते हैं अथवा राज्यदशा की?

कुछ श्वेतांबरी भाई यह कह दिया करते हैं कि हम राज्य दशा के तीर्थंकर की प्रतिमा बनाकर पूजते हैं। तो ऐसा मानना तथा ऐसा मान कर राज आभूषण संयुक्त प्रतिमा को पूजना बहुत भारी अज्ञानता है क्योंकि तीर्थंकर राज्यावस्था में न तो पूज्य होते हैं न राज्यावस्था की तीर्थंकर प्रतिमा के पूजने से आत्मा का कुछ कल्याण ही हो सकता है।

राज्य अवस्था की मूर्तियाँ तो श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण, श्रीकृष्ण आदि की भी हैं जिनको कि अजैन भाई पूजा करते हैं। आपकी आराधना में और उनकी आराधना में अंतर ही क्या रहेगा। तथा जैसा मनुष्य स्वयं बनना चाहता है वह वैसे ही आदर्श देव की आराधना उपासना करता है। तदनुसार आप जो राज्यावस्था तीर्थंकर को पूजते हैं सो आपको क्या राज्य प्राप्त करने की इच्छा है? यदि राज्य प्राप्त करना चाहते हैं तो समझना चाहिए कि आपको संसार अच्छा लगता है। तथा जो श्वेतांबरी जैन राजा हो उसे तो फिर पूजन आराधना करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि उद्देश्यानुसार उसको यहाँ पर राज्यपद प्राप्त है।

यदि आप अर्हंत दशा की प्रतिमा को पूज्य समझते हैं तो फिर यह बतलाइये कि क्या अर्हंत वस्त्र आभूषण बहने होते हैं? अथवा वस्त्र आभूषण आदि शृंगार से हीन होते हैं?

यदि शृंगार सहित होते हैं तो आपकी समझ तथा कहना बिलकुल असत्य; क्योंकि आपके समस्त ग्रंथों में लिखा है कि अर्हंत भगवान् राग-द्वेष आदि दोषों से रहित होते हैं तथा उनके पास कोई जरासा भी वस्त्र-आभूषण नहीं होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि श्वेताम्बर आचार्य आत्मारामजी कृत तत्त्वनिर्णयप्रासाद के ५८६वें पृष्ठ की ११वीं पंक्ति के लिखे अनुसार केवल भगवान् के एक ऐसा अतिशय प्रगट होता है जिसके प्रभाव से नग्न दशा में विराजमान भी अर्हंत भगवान् की लिंग इन्द्रिय दृष्टिगोचर नहीं होती।

यदि अर्हंत वस्त्र-आभूषण रहित होते हैं तो फिर आप लोग उनकी प्रतिमा को वस्त्र आभूषण आदि शृंगार से सुसज्जित करके सरागी क्यों बना दिया करते हैं? अर्हंत के असली स्वरूप को बिगाड़ कर सरागी बनाकर आप देव का अवर्णवाद करते हैं। शृंगार युक्त प्रतिमा के दर्शन करने से मन के भीतर शृंगार युक्त सराग भाव उत्पन्न होते हैं। जो कि जैन धर्म के उद्देश्य के विरुद्ध है।

इस कारण श्वेताम्बरी अर्हत मूर्ति का श्रृंगार करके बहुत भारी अन्याय करते हैं। स्वयं भूलते हैं और अन्य भोले भाइयों को भूल में डालते हैं। इस कारण उन्हें अर्हत मूर्ति का स्वरूप वीतराग ही रखना चाहिए।

यहाँ पर हम इतना और लिख देना उचित समझते हैं कि श्वेताम्बरीय साधु आत्मारामजी ने अपने तत्त्वनिर्णय प्रासाद के ५८४वें पृष्ठ पर यह लिखा है कि 'तुम्हारे मत की द्रव्य संग्रह की वृत्ति में ही लिखा है कि जिन प्रतिमा का उपगूहन (आलिंगन) जिन दास नामा श्रावक ने करा। और पार्श्वनाथ की प्रतिमा को लगा हुआ रत्न माया ब्रह्मचारी ने अपहरण कर चुराया।' परंतु यह बात असत्य है। आप यदि उस कथा को पढ़कर मालूम करते तो आपको पता लग जाता कि ऐसा समझना गलत है। कथा इस प्रकार है -

ताम्रलिप्त नगर में एक जिनेन्द्रभक्त नामक सेठ रहता था। उसने अपने महल के ऊपर एक सुन्दर चैत्यालय बनवाया था। उस चैत्यालय में बहुत सुंदर रत्न की बनी हुई एक पार्श्वनाथ तीर्थकर की प्रतिमा थी। उस प्रतिमा के शिर पर रत्न जड़ित तीन सुन्दर छत्र लटकते थे। छत्र में जड़े हुए रत्नों में से एक वैदूर्य रत्न बहुत सुन्दर एवं अमूल्य था।

पाटलिपुत्र नगर के राजा यशोध्वज का पुत्र सुवीर था वह कुसंगति के कारण चोर बन गया था इस कारण अनेक चोरों ने मिलकर उसको अपना सरदार बना लिया था।

उस सुवीर ने जिनेन्द्र भक्त सेठ के चैत्यालय का तथा उसमें विद्यमान छत्र में लगे हुए, उस अमूल्य रत्न का समाचार सुना था। इस कारण उसने अपने चोरों को एकत्र करके सबसे कहा कि कोई वीर जिनेन्द्र भक्त सेठ के चैत्यालय वाले उस वैदूर्यरत्न को चुराकर ला सकता है क्या? सूर्यक नामधारी एक चोर ने कहा कि मैं इस काम को कर सकता हूँ। यह सुनकर सुवीर ने उसको वह रत्न लाने के लिए आज्ञा दी।

सूर्यक ने मायाजाल में फँसाने के लिए क्षुल्लक का वेश बना लिया। क्षुल्लक बनकर वह उस सेठ के यहाँ आया। जिनभक्त सेठ ने उसको सच्चा क्षुल्लक समझकर भक्ति से नमस्कार किया और अपने मकान के ऊपर बने हुए उस चैत्यालय में ठहरा दिया। कपट वेशधारी चोर ने वहाँ पर छत्र में लगा हुआ वह रत्न देखा जिसको कि लाने की उसने सुवीर से प्रतिज्ञा की थी। वह बहुत प्रसन्न हुआ।

आधी रात के समय उस कपट वेशधारी चोर ने छत्र में से वह वैदूर्य रत्न निकाल लिया और उसको लेकर घर से बाहर चल दिया। पहरेदारों ने उसके पास चमकीला

रत्न देकर पकड़ना चाहा। उस कपटी चोर को अन्य कोई ठीक उपाय नहीं दिखा इस कारण भागकर वह जिनेन्द्र भक्त सेठ की शरण में जा पहुँचा।

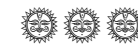
जब सेठ ने सब वृत्तांत सुना तब उसने पहरेदारों से कहा कि वे बड़े तपस्वी हैं चोर नहीं हैं। इस रत्न को मेरे कहने से लाए थे। यह सुनकर पहरेदार चले गये, सेठ ने कपटी चोर को उपदेश देकर बिदा कर दिया।

इसी कथा को ब्रह्मचारी नेमिदत्तजी ने भी अपने आराधना कथा कोष की १० वीं कथा में ऐसा ही लिखा है। कथा के कुछ आवश्यक श्लोक यहाँ हम उद्धृत करते हैं।

श्रीमत्पार्श्व जिनेन्द्रस्य महायत्नेन रक्षिता ।  
छत्रत्रयेण संयुक्ता प्रतिमा रत्ननिर्मिता ॥११॥  
तस्याश्छत्रत्रयस्योच्चैरुपरि प्रस्फुरद्युतिः ।  
मणिवैदूर्यनामास्ति बहुमूल्यसमन्वितः ॥१२॥  
स तस्करः समालोक्य कुटुम्बं कार्यव्यग्रकम् ।  
अर्द्धरात्रौ समादाय तं मणिं निर्गतो गृहात् ॥२४॥

अर्थात्- जिनेन्द्र भक्त सेठ के उस चैत्यालय में श्री पार्श्वनाथ भगवान् की तीन छत्रों से विभूषित रत्नमयी एक प्रतिमा थी। उसके तीन छत्रों के ऊपर चमकदार बहुमूल्य एक वैदूर्य मणि लगी थी। ॥१२॥ वह कपटी चोर सेठ के परिवार को कार्य में रत हुआ देख कर आधी रात के समय उस वैदूर्यमणि को लेकर वहाँ चल दिया ॥२४॥

पाठक महाशयों को मालूम हो गया कि वह रत्न छत्र में लगा था न कि प्रतिमा में। दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रतिमा में ऊपर से कोई आँख, रत्न आदि वस्तु नहीं लगाई जाती है। क्योंकि ऐसा करने से प्रतिमा की वीतरागता बिगड़ जाती है। इस कारण आत्मानंदजी ने अपना अभिप्राय सिद्ध करने के लिए जो उक्त सहारा लिया था वह निराधार है अतएव असत्य है। द्रव्य संग्रह के लेख का भी ऐसा ही अभिप्राय है। अन्य नहीं।



## अर्हत प्रतिमा पर लँगोट भी नहीं होना चाहिए

अर्हत प्रतिमाओं के ऊपर जिस प्रकार वस्त्र-आभूषण नहीं होना चाहिए उसी प्रकार उन प्रतिमाओं पर लिंग इन्द्रिय छिपाने वाले लँगोट का चिह्न भी नहीं होना चाहिए क्योंकि लँगोट (कनोडा) बना देने से अर्हत भगवान् का असली स्वरूप प्रगट नहीं होता।

अर्हत दशा में भगवान् अन्य वस्त्र-आभूषणों के समान लँगोटी भी नहीं पहने होते क्योंकि वे समस्त अन्य पदार्थों के संसर्ग से रहित पूर्ण वीतराग होते हैं। तत्काल जन्म बालक के समान बिल्कुल नग्न होते हैं।

यह बात आपके ग्रंथकारों ने भी लिखी है। देखो, तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रंथ के ५८६वें पृष्ठ पर आपके आचार्य आत्मानंद अपरनाम विजयानंद लिखते हैं-

‘जिनेन्द्र के तो अतिशय के प्रभाव से लिंगादि नहीं दिखते हैं और प्रतिमा के तो अतिशय नहीं है इस वास्ते इसके लिंगादि दिख पड़ते हैं।

इस प्रकार श्वे. आचार्य आत्मानंदजी अर्हत भगवान् की नग्नता को स्वीकार करते हैं। किंतु साथ ही दिगम्बरीय पक्ष के प्रतिवाद में इतना और मिलते हैं कि अतिशय के कारण अर्हत भगवान् के लिंगादि दिख नहीं पड़ते सो उनका इतना लिखना अपने पास का है। क्योंकि ऐसा अतिशय किसी भी श्वेतांबरीय शास्त्र में नहीं बतलाया गया है। स्वयं आत्मारामजी ने स्वलिखित जैन तत्त्वादर्श ग्रंथ के तीसरे चौथे पृष्ठ पर जो अर्हत भगवान् के ३४ अतिशय लिखे हैं उनमें भी उन्होंने कोई ऐसा अतिशय नहीं लिखा जिसके कारण अर्हत भगवान् के लिंगादि गुप्त रहे आवें, दिखे नहीं।

तथा प्रकरणरत्नाकर तीसरे भाग के ११७-११८ और ११९ वें पृष्ठ पर जो अर्हत के ३४ अतिशय लिखे हैं उनमें भी लिंगादि छिपा देने वाला अतिशय कोई भी नहीं बतलाया है। इस कारण आत्माराम जीने अतिशय के प्रभाव से अर्हतदेव के लिंगादि छिपाने का अतिशय अपने पास से लिख दिया है।

इस कारण सिद्ध हुआ कि अर्हत भगवान् नग्न होते हैं और उनके लिंगादि दृष्टिगोचर भी होते हैं।

यदि कल्पित रूप से ही ‘अर्हत भगवान् के अतिशय के कारण लिंगादि दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।’ यह बात मान ली जावे तो वह अतिशय अर्हत भगवान् की मूर्ति में किस

प्रकार आ सकता है? यहाँ पर तो अर्हत भगवान् का असली स्वरूप नग्न दशा दिखलाकर प्रगट करना चाहिए न कि लँगोटी की उपाधि उस प्रतिमा में लगाकर अर्हत भगवान् के असल स्वरूप को छिपा देना चाहिए।

इस विषय में यह शंका करना बहुत भोलापन है कि ‘अर्हत भगवान् की नग्न प्रतिमा बनाने पर उस प्रतिमा के लिंगादि अंगों को देखने से स्त्री पुरुषों के मन में काम विकार उत्पन्न हो सकता है। ‘क्योंकि सरागीमूर्ति की लिंग इन्द्रिय को देखकर ही दर्शन करने वाले के मन में काम विकार उत्पन्न हो सकता है। वीतराग मूर्ति के लिंगादि अंगों के देखने से विकारभाव उत्पन्न नहीं होता। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि स्त्रियाँ छोटे-छोटे बालकों को प्रतिदिन नंगे रूप में रखती हैं उनके लिंगादि अंगों पर भी उनकी दृष्टि जाती है तथा उस नंगे बालक को वे शरीर से भी चिपटा लेती हैं। किन्तु ऐसा सब कुछ होने पर भी उनके मन में काम विकार उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि उस बालक के मन में काम विकार नहीं है जो कि उसकी लिंग इन्द्रिय से प्रगट हो रहा है।

युवा मनुष्य के उघड़े हुए लिंगादि अंग इसी कारण स्त्रियों के मन में काम विकार उत्पन्न कर देते हैं कि उस मनुष्य के मन में काम विकार मौजूद है जो कि उसकी लिंगेन्द्रिय से प्रगट हो रहा है। यदि उसके मन में काम विकार न होवे जैसा कि उस के अंगों से प्रगट हो जायगा तो उस युवक पुरुष को नग्न देखकर भी उनके मन में काम विकार उत्पन्न नहीं हो सकता है।

सर्व वस्त्र रहित नग्न दिगम्बर मुनि भगवान् ऋषभदेव के जमाने से लेकर अब तक होते आए हैं। भगवान् ऋषभदेव आपके अनुसार भी वस्त्र रहित नग्न थे। दक्षिण महाराष्ट्र तथा कर्नाटक देश में विहार करने वाले आचार्य शान्तिसागरजी, मुनि वीरसागर आदि थे। तथा राजपूताना, बुंदेलखंड, मालवा, संयुक्तप्रांत, बिहार प्रदेश में विहार करने वाले नग्न दिगम्बर मुनि शान्तिसागरजी छाणी, आनंदसागरजी, सूर्यसागरजी, चन्द्रसागरजी आदि हैं। उनके दर्शन करने से किसी भी स्त्री-पुरुष के मन में विकार भाव नहीं उत्पन्न होते क्योंकि वे स्वयं वीतराग मूर्ति हैं। काम विकार से रहित हैं।

अन्य बात छोड़कर श्वेतांबरी भाई अपने ही ग्रंथों का अवलोकन करें तो उन्हें मालूम होगा कि आपके ग्रंथों में बतलाए गए उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु दिगम्बर जैन मुनियों के समान बिल्कुल नग्न होते हैं। उनका भी श्वेतांबरीय स्त्री-पुरुष दर्शन करते होंगे। तो क्या उनके दर्शन से उनके काम विकार उत्पन्न होता होगा?



तथा- आपके ग्रंथों के लिखे-अनुसार दीक्षा लेने के १३ मास पीछे भगवान् महावीर स्वामी भी बिल्कुल नग्न हो गए थे। आचारांग सूत्र के ४६५वें सूत्र में भी ऐसा लिखा है। फिर अल्पज्ञ साधु दशा में उन महावीर स्वामी के भी तो लिंगादि अंग दर्शन करने वाली भोजन कराने वाली स्त्रियों को दिख पड़ते थे। फिर उनके मन में भी काम विकार क्यों नहीं उत्पन्न होता था? (मुनि आत्मारामजी का कल्पित अतिशय भी केवलज्ञानी के ही प्रगट होता है।)

इस कारण इस झूठे भ्रम को छोड़कर श्वेताम्बरी भाइयों को यह निश्चय रखना चाहिए तथा प्रत्यक्ष रूप से अब भी दिगम्बर जैन मुनियों का, मूडविट्टी, कार्कल आदि दक्षिण कर्नाटक देश में विराजमान बाहुबली के विशाल प्रतिबिम्बों का एवं बावन गजाजी आदि खड़गासन वाली विशालकाय नग्न मूर्तियों का दर्शन करके समझ लेना चाहिए कि वीतराग मूर्ति के दर्शन से काम विकार उत्पन्न नहीं होता।

तदनुसार श्वेताम्बरी भाइयों को चाहिए कि वे अपनी अर्हत् प्रतिमाओं को असली अर्हत् रूप में नग्न निर्माण कराया करें, लँगोटी का चिह्न लगाकर उनकी वीतरागता को दूषित न किया करें।



**हाईकू**

निद्रा वासना,  
दो बहनें हैं  
जिन्हें लज्जा न छूती ।



प्रतिशोध में,  
ज्ञानी भी अन्धा होता,  
शोध तो दूर ।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## गुरुगरिमा समीक्षण

### जैनमुनि का स्वरूप कैसा है?

अब यहाँ पर जैन साधु के स्वरूप का समीक्षण करते हैं क्योंकि श्री अर्हत् भगवान् के समान जैन साधु के वेश तथा चर्या के विषय में भी दिगम्बर, श्वेताम्बर समाज का मतभेद है। गुरु गृहस्थ पुरुषों का तरणतारण होता है इस कारण परीक्षा द्वारा जैन गुरु का स्वरूप भी निर्णय कर लेना परम आवश्यक है।

जैन साधु पाँच पापों का पूर्ण तरह से परित्याग करके महाव्रतधारी होता है। तदनुसार वह अपने पास किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रख सकता। यह बात दिगम्बर, श्वेताम्बर तथा श्वेताम्बर संप्रदाय के शाखारूप स्थानकवासी सम्प्रदाय को भी मान्य है और तदनुसार ही उन तीनों सम्प्रदायों के आगम ग्रंथ प्रतिपादन करते हैं।

किन्तु ऐसी मान्यता समान रूप में होते हुए भी तीनों सम्प्रदाय के साधुओं का वेश भिन्न-रूप से है। उनमें से दिगम्बर सम्प्रदाय के महाव्रतधारी साधु शरीर को ढकने के लिए लेशमात्र भी वस्त्र अपने पास नहीं रखते हैं। उत्पन्न हुए बालक के समान निर्विकार नग्न रूप में रहते हैं। इसी कारण उनका नाम दिगम्बर यानी दिशारूपी कपड़ों के पहनने वाले अर्थात् नग्न साधु उनके लिए यथार्थ बैठता है।

श्वेताम्बर संप्रदाय यद्यपि साधु का सर्वोच्च रूप नग्न ही मानता है, तदनुसार उसके भी सर्वोच्च जिनकल्पी साधु समस्त पात्र आदि पदार्थ त्यागकर नग्न ही होते हैं। किंतु इसके साथ ही श्वेताम्बरीय ग्रंथ यह भी कहते हैं कि जिस साधु से नग्न रहकर लज्जा न जीती जा सकती हो वह (दिगम्बर सम्प्रदाय के ऐलकों के समान) लँगोट पहन लेवे, अन्य वस्त्र न रखे। जिस साधु से केवल लंगोट पहनकर शीत गर्मी आदि न सही जा सके वह (दिगम्बर सम्प्रदाय के ११ प्रतिमाधारी ऐलक से छोटी श्रेणी के क्षुल्लक समान) एक चादर और लेवे। जो एक चादर से भी साधु चर्या न पाल सके वह दो चादरें अपने पास रख लेवे। इत्यादि आगे बढ़ते-बढ़ते ४-६-१०-१२ आदि वस्त्र

अपने शरीर का कष्ट हटाने के लिए अपने पास रख ले। जिनमें कम्बल-बिछौना आदि सम्मिलित हैं। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि श्वेताम्बरीय साधु अपने पास वस्त्र सूती ही रखे या ऊनी, रेशमी आदि सब प्रकार के लेवें। इस बात का स्पष्ट एक निर्णय हमने किसी श्वेताम्बरीय शास्त्र में नहीं देखा। आचारांग सूत्र के सूत्रों से यही खुलासा मिलता है कि साधु कोई भी तरह का वस्त्र धारण कर सकता है।

वस्त्रों के सिवाय श्वेताम्बरीय साधु भोजन पान गृहस्थ के घर से लाने के लिए लकड़ी के पात्र तथा अपने पास एक लाठी भी रखते हैं।

स्थानकवासी साधुओं का अन्य सब रूप श्वेताम्बरी साधु के समान होता है किंतु वे अपने मुख से एक कपड़ा बाँधि रखते हैं जिसका उद्देश्य उनके कथनानुसार यह है कि बोलते समय मुख की वायु से वायुकायिक जीवों का घात न होने पाए। तथा वे अपने पास लाठी भी नहीं रखते हैं।

श्वेताम्बरीय साधु पहनने-ओढ़ने के लिए अपने पास श्वेत वस्त्र रखते हैं इस कारण उनका नाम श्वेताम्बर यथार्थ है।

साधुओं के दिगम्बर, श्वेताम्बर रूप की मान्यता के कारण ही दोनों सम्प्रदायों का नाम दिगम्बर तथा श्वेताम्बर पड़ गया है। अस्तु।

दिगम्बर सम्प्रदाय के आगम ग्रंथों ने वस्त्र आदि पदार्थों को बाह्य परिग्रह बतलाया है। इस कारण महाव्रतधारी साधु के अंतर्गत परिग्रह का त्याग कराने के लिए उन वस्त्रों का त्याग कर देना अनिवार्य प्रतिपादन किया है। इसी कारण दिगम्बर सम्प्रदाय का मनुष्य जो महाव्रतधारी साधु होता है। वह वस्त्र त्याग कर ही साधु होता है।

श्वेताम्बरीय ग्रंथ (तत्त्वार्थाधिगम आदि) अपने सच्चे हृदय से तो कपड़े आदि पदार्थों को परिग्रह रूप ही बतलाते हैं। अतएव सर्वोच्च जिनकल्पी साधु दशा प्राप्त करने के लिए उनका त्याग कर नग्न रूप धारण कर लेना अनिवार्य बतलाते हैं।

परंतु इस सत्य समाचार पर पर्दा डालते हुए कुछ श्वेताम्बरीय ग्रंथ अपने निम्न श्रेणी के वस्त्रधारी साधुओं के परिग्रह त्याग महाव्रत की रक्षा करने के उद्देश्य से वस्त्रों को परिग्रह रूप नहीं बतलाते हैं। मानसिक ममत्व परिणाम को ही वे परिग्रह कहते हैं। किंतु यह बात कुछ बनने नहीं पाती है।

महाव्रतधारी साधु के वस्त्र ग्रहण के विषय में श्वेताम्बरीय ग्रंथ आचारांग सूत्र अपने छठे अध्याय के तृतीय उद्देश्य के ३६०वें सूत्र में यों लिखता है-

“जो अचले परिवृत्ति ये तस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइः परिजिन्ने-मॅन्त्थे, वत्थे जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि पाडणिस्सामि।” ३६

गुजराती टीका- जे मुनि वस्त्ररहित रहे छे ते मुनिने आवी चि नथी रहेती, जेवी के मारां वस्त्र फाटी गयाँ छे, मारे बीजुं नवुं वस्त्र लावबुं छे, सूत्र (वुं छे, सोय) वुं छे, तथा वस्त्र साधुवं छे, लीववुं छे, बधारवुं छे, तोड़वुं छे, पहेरवुं छे के विटालवुं छे।

यानी- जो मुनि वस्त्ररहित (दिगम्बर-नग्न) होते हैं उनको यह चिंता नहीं रहती कि मेरा वस्त्र फट गया है, मुझे दूसरा नया कपड़ा चाहिये, कपड़ा सीने के लिए सुई-धागा (सूत) चाहिये तथा यह चिंता भी नहीं रहती कि मुझे कपड़ा रखना है, फटा हुआ अपना कपड़ा सीना है, जोड़ना है, फाड़ना है, पहनना है या मैला कपड़ा धोना है।

आचारांग सूत्र का यह ऊपर लिखा वाक्य दिगम्बर मुनि के मानसिक पवित्रता की कैसी चुने हुए शब्दों में प्रशंसा करता है।

इसी आचारांग सूत्र के ८वें अध्याय ५वें उद्देश्य में यों लिखा है-

“अह पुण एवं जाणेज्जा, उवक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहा परिजुत्ताई वत्थाइं परिट्ठवेज्जा अदुवा संतरुत्ते अदुवा ओमचेलए अदुवा एगसाडे अदुवा अचले लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागए भवति। जह्यं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वत्तो सव्वत्ताए सवत्तमेव अभिजाणिया।

गु.टी.- हवे जो मुणि एम जाणे का शीयालो व्यक्तिक्रान्त थयो अने उनालो वेठो छे तो जे वस्त्र परिजीर्ण थया होय ते परठवी दो, अथवा वखतरसर पहरेवां, ओछा करवां एटले के एक वस्त्र राखवुं, अने अंते ते पण छोडी अचेल (वस्त्ररहित) थइ निश्चिन्त वनवुं। आम करतां तप प्राप्त थाय छे। माटे जेम भगवाने भाष्युं छे तेनेज जाणीने जेम बने तेम समपणुं ज सभजतां रहेवुं।

यानी : जो मुनि ऐसा समझे कि शीतकाल (जाड़ा) चला गया गर्मी आ गई तो उसके जो कपड़े पुराना हो गये हों उन्हें रख दें, या समय अनुसार पहने या फाड़कर छोटा कर लें। यहाँ तक कि एक ही कपड़ा रख ले और विचार रखे कि मैं अंत तक उस एक कपड़े को भी छोड़ यानी नग्न होकर निश्चिंत बनूँ। ऐसा करने से तप प्राप्त होता है। इस कारण जैसा भगवान् ने कहा है वैसा जैसे बने तैसे पूर्ण तौर से समझना चाहिए।

यानी- मुनि के पास जब तक कोई एक भी कपड़ा रहेगा तब तक उसकी वस्त्र संबंधी चिन्ता नहीं मिट सकती है। इस कारण तपस्या प्राप्त करने के लिए तथा चिन्ता मिटाने के लिए अपने कपड़े घटाते घटाते अंत में सब वस्त्र छोड़कर नग्न (दिगम्बर ) बनने का विचार रखना चाहिए। इस तरह आचारांग सूत्र के इस लेख से भी सिद्ध होता है कि जैन साधु का असली वेश नग्न (दिगम्बर ) है।

इसी आचारांग का सूत्र के ८वें अध्याय के सातवें उद्देश्य में ऐसा लिखा है कि-

“अटुबा तत्थ परक्कमंतं अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, वंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अत्रयरे व्हिवरूवे फासे अहियासेति अचले लाघवियं आगमपमणे। तवे से अभिसमन्ना गए, भवति। जहेंज भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेच्चा सव्वआ सव्वत्ताए समतमेव समभिजाणिया।” (४३४)

गु.टी.- जो लज्जा जीती शकाती होय तो अचेल (वस्त्ररहित) ज रहेवु तेम रहेतां तृणस्पर्श ताद ताप दंशमशक, तथा बीजापण अनेक अनुकूल प्रतिकूल परीषह आवे ते सहन करवा एम कर्याथी लाघव (अल्पचिन्ता) प्राप्त थाय छे अने तप पण प्राप्त थाउय छे। माटे जेम भगवाने कहुं छे तेनेज जाणी जेम बने तेम समयणुं जाणता रहेवुं।

यानी-जो मुनि लज्जा जीत सकता हो वह मुनि नग्न (दिगम्बर ) ही रहे। नग्न रहकर तृणस्पर्श सर्दी, गर्मी, दंशमशक तथा और जो परीषह आवें उनको सहन करे। ऐसा करने से मुनि को थोड़ी चिन्ता (थोड़क आकुलता) रहती है और तप प्राप्त होता है। इस कारण जैसा भगवान् ने कहा है वैसा जानकर जैसे बने तैसे पूर्ण समझता रहे।

सारांश - मुनि यदि परीषह सह सकता हो तो वह वस्त्र छोड़कर नग्न ही रहे। नग्न रहने से मुनि को बहुत चिन्ता नहीं रहती और तप भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह वाक्य भी मुनि के दिगम्बर वेष की पुष्टि और प्रशंसा करता है। इसी आचारांग सूत्र के ८वें अध्याय के पहले उद्देश्य में अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के तपस्या करते समय का वर्णन करते हुए १३६ पृष्ठ पर ये लिखा है ‘संवच्छरं साहियं मास, जं णारिक्कासि वत्थगं भगवं, अचेलए ततो चार्द, तं वोसज्ज वत्थमाणगारे। (४६५)

गु.टी.- भगवाने लगभग तेर महिना लगीते (इन्द्रे दीघेलु) वस्त्र स्कंध पर धर्यु हतु पछी ते वस्त्र छंडी ने भगवान् वस्त्र रहित अणगार थया।

यानी-महावीर स्वामी ने लगभग १३ मास तक ही इंद्र का दिया हुआ देवदृश्य

कपड़ा कंधे पर रक्खा था किन्तु फिर उस वस्त्र को भी छोड़कर वे अंत तक नग्न रहकर तपस्या करते रहे।

इस वाक्य से भी मुनियों के दिगम्बर वेष की अच्छी पुष्टि होती है क्योंकि जिन महावीर तीर्थंकर ने नग्न वेष में तपश्चरण करके मोक्ष पाई है, जिस मार्ग पर महावीर स्वामी चले उसमार्ग का अनुयायी महाव्रत धारी मुनि उत्कृष्ट क्यों कर न हों?

इस विषय पर श्वेताम्बर संप्रदाय का प्रसिद्ध सिद्धांत ग्रंथ प्रवचनसारोद्धार १३४वें पृष्ठ पर अपने ५००वीं गाथा में ऐसा लिखता है- जिनकप्पिआवि दुविहा पाणिपाया पडिगाहधराय, पाउरण मपाउरणा एक्केकातेभवे दुविहा (५००)

यानी - जिनकल्पी मुनि भी दो प्रकार के होते हैं। पाणिपात्र, पतद्गृहधर। इन दोनों में से प्रत्येक दो-दो प्रकार का है। एक प्रावरण यानी कपड़ा रहित और सप्रावरण यानी कपड़ा सहित।

इस गाथा से भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सबसे ऊँचे मुनि वस्त्र और पात्ररहित जिनकल्पी मुनि होते हैं जिनको दूरे शब्दों में दिगम्बर साधु ही कह सकते हैं। श्वेताम्बर ग्रंथ उत्तराध्ययन के २३वें अध्याय की १३वीं गाथा की संस्कृत टीका में यह लिखा है-

“अचेलगोय जे धम्मो”

सं.टी. अचेलकश्चविद्यमानचेलकः।

यानी- जो वस्त्र रहित दशा है वही उत्कृष्ट जिनकल्पी मुनि का धर्म है।

श्वेताम्बर समाज के परममाननीय आचार्य आत्मारामजी ने अपने तत्व निर्णय प्रासाद के ३३वें स्तंभ में ५४३वें पृष्ठ में यों लिखा है कि-

“जिनकल्पी साधु दो प्रकार के होते हैं एक पाणिपात्र, ओढ़ने के वस्त्र रहित होता है दूसरा पात्रधारी और वस्त्र सहित होता है।”

इन दोनों श्वेताम्बरीय ग्रंथों में ऊपर लिखे वाक्यों से भी यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी सबसे उत्कृष्ट साधु वस्त्र और पात्रों के त्यागी दिगम्बर मुनि को मानते हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के आगम ग्रंथ तो स्थविरकल्पी (शिष्यों के साथ रहने वाले ग्रंथ रचना उपदेश देना आदि कार्यों में प्रेम रखने वाले मुनि) तथा जिनकल्पी (अकेले विचरण करने वाले दोनों प्रकार के मुनियों को वस्त्र पहनने का सर्वथा निषेध करते हैं।

उन्होंने तो मुनियों के २८ मूलगुणों में 'वस्त्रत्याग' नामक एक मूल गुण बतलाया है। जिसके बिना आचरण किये मुनि दीक्षा धारण नहीं हो सकती।

श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय में भी दिगम्बर संप्रदाय के समान यद्यपि स्थविरकल्पी मुनि से जिनकल्पी मुनि ऊँचे दर्जे का बतलाया है किन्तु उनके आगम ग्रंथों ने केवल सबसे ऊँची श्रेणी के जिनकल्पी मुनि ही कपड़े रहित यानी नग्न दिगम्बर बतलाये गये हैं। उनसे नीचे दर्जे के साधुओं को वस्त्र को पहनना बतलाया है। इस तौर से श्वेताम्बर और स्थानकवासी संप्रदाय के पूर्वोक्त आगम ग्रंथ भी वस्त्र रहित दिगम्बर मुनि की उत्तमता का हृदय से समर्थन करते हैं।

## क्या वस्त्रधारक निर्ग्रथ हो सकता है?

वस्त्र रहित दिगम्बर साधु वास्तव में निर्ग्रथ (परिग्रहत्यागी) हो सकते हैं या वस्त्रधारी साधु भी निर्ग्रथ हो सकते हैं? अब इस बात का यहाँ पर निर्णय करते हैं। यद्यपि मनुष्य अपने अंतरंग (मनके) अच्छे-बुरे विचारों से धर्म और अधर्म करता है परंतु बाहर की सामग्री भी उस धर्म अधर्म में बहुत भारी सहायता करती है क्योंकि बाहर की अच्छी-बुरी वस्तुओं को देखकर उनका संसर्ग पाकर मनुष्य का मन अच्छे-बुरे विचारों में फँस जाता है। इसी कारण जो मनुष्य संसार के कामों में उदासीन हो जाते हैं वे गृहस्थ आश्रम को छोड़कर साधु बन जाते हैं और किसी एकांत स्थान में रहने लगते हैं।

साधु (मुनि) घर में रहना इसीलिए छोड़ देते हैं कि वहाँ पर उनके मन में मोह,मान,क्रोध, काम,लोभ आदि बुरे विचार उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं। पुत्र, पुत्री, नौकर चाकर, धन, मकान, दुकान आदि हैं तो सब बाहर की चीजें, किन्तु उन्हीं के संबंध में मनुष्य के मानसिक विचार मलिन होते रहते हैं।

इस कारण मुनि दीक्षा लेते समय अन्य पापों के समान परिग्रह पाप का भी त्याग किया करते हैं। परिग्रह का अर्थ धन, वस्त्र, मकान,पुत्र,स्त्री आदि बाहरी पदार्थ और क्रोध,मान, माया, लोभ, कपट आदि मैले मानसिक विचार हैं। इसलिए मुनि जिस प्रकार घर,परिवार इत्यादि बाहर की वस्तुओं को छोड़ते हैं उसी तरह उन सब चीजों के साथ उत्पन्न होने वाले प्रेम और द्वेष भाव को भी छोड़ देते हैं। क्योंकि मन निर्मल करने के

लिए राग,द्वेष, मोह आदि छोड़ना आवश्यक है। ऐसा किये बिना मुनि परिग्रहत्याग महाव्रत को नहीं पाल सकते।

मुनिदीक्षा लेकर यदि कपड़ों का त्याग न किया जाये तो परिग्रह त्याग महाव्रत नहीं पल सकता। क्योंकि कपड़े रखने से मुनि के मन में दो तरह का मोह बना रहता है। एक तो शरीर का और दूसरा उन कपड़ों का।

मुनि शरीर को विनाशीक पुद्गलरूप जानकर उससे मोह भाव छोड़ते हैं इसी कारण अनेक तप करते हुए तथा २२ परीषह सहते हुए धर्म साधन के लिए शरीर को कष्ट देते हैं। उसी शरीर को यदि कपड़ों से ढंकर सुख पहुँचाया जाए तो मुनि के भी गृहस्थ मनुष्यों के समान शरीर के साथ मोह अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि कपड़ों से शरीर को सर्दी, गर्मी की परिषह नहीं मिल पाती और परिषह न सहने से शरीर में मोह उत्पन्न होता है।

दूसरे,मुनि जिन वस्त्रों को पहने ओढ़े उन कपड़ों में भी उनको मोह (प्रेमभाव) हो जाता है क्योंकि उन कपड़ों में मोहभाव पैदा हुए बिना वे उन्हें ओढ़े ही किस तरह? तथा कंबल चादर आदि ५-७ कपड़े जिनको कि श्वेताम्बर, स्थानकवासी साधु अपने पास रखते हैं कम से कम १५०-२०० रुपये के तो होते ही हैं। इस कारण उन कपड़ों को रखने के कारण कम से कम १५०-२०० रुपये वाले धन के अधिकारी वे मुनि हुए और इससे वे निर्ग्रथ न होकर सग्रंथ स्वयमेव हो जायेंगे।

श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी संप्रदाय के परम-मान्य ग्रंथ आचारांग सूत्र के १४वें अध्याय के पहले उद्देश्य में २९०वें पृष्ठ पर मुनियों के ग्रहण करने योग्य वस्त्रों के विषय में यों लिखा है।

“से भिक्खू वा भिक्खूणी वा अभिक्खेज्जा वत्थं ए सिज्जाये। से ज्जं पुण वत्थं जाणषज्जा, तंजहा जंगियं वा, भंगियं वा,साणयं वा, पोत्तयं वा, खोमियं वा, तूल कडंवा, तप्पगारं वतथं ॥८९०२ ॥”

गु.टी. - मुनि अथवा आर्याएँ कपड़ा तापसपूर्वक लेवां। जेवा कि ऊननां, रेशमी शणना धाननां, कपासनां, अर्कतूलनां अने एवी तरेहना बीजी जातोनां।

अर्थात्- मुनि या आर्यिका गृहस्थ के यहाँ से अपने लिए कपड़ा ऊनका, रेशम का, सनका, कोशेका, कपास (रुई) का,आककी रुईका अथवा किसी और प्रकार का लें।

यदि आचारांग सूत्र की इस आज्ञा प्रमाण रेशमी कपड़ा ही अपने पहनने के लिए साधु ले तो उसके वस्त्र साधारण गृहस्थों से भी अधिक मूल्यवान बढ़िया कपड़े होंगे। उन रेशम वस्त्रों में भी उनको मोह (प्रेम) यदि न हो तो समझना चाहिये कि फिर संसार में कोई भी वस्तु परिग्रहरूप नहीं हो सकती। उन रेशमी वस्त्रों के बनने का कुछ भाग साधु को लेना होगा। इसके कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं कि कोशा-रेशम कैसे बनता है।

साधु अपने पहनने के लिए गृहस्थ से मांगते समय अपनी मानसिक इच्छा को किस प्रकार गृहस्थ के सामने प्रगट करे? यह बात आचारांग सूत्र के इसी १४वें अध्याय के पहले उद्देश्य में २८४ तथा २९५ पृष्ठ पर यों लिखी है-

“तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसियशय वत्थं जाएज्जा, तंजहा, जंगियं वा, भंगियं वा, साणयं वा, पोत्तयं वा, खेमियं वा, तूलकडं वा, तप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा परो वा णं देज्जा फासुयं एसणीयं लाभे संति पडिगाहेज्जा। पढमा पडिमा ॥८११॥

गु.टी.- त्यों पहली प्रतिज्ञा आ प्रमाणे छे मुनि अथवा आर्याए उनना, रेशमनां, शणनां, पाननां, कपाशनां के तुलना कपड़ामानुं अमुक जातनुंज कपडुं लेवानी धारणा करवी, अने तेनुं कपडुं पोते मागतां अथवा गृहस्थे आपवां माडतां निर्दोष होय तो ग्रहण करवुं। ए पहली प्रतिज्ञा ॥८११॥

यानी-मुनि या आर्यिका ऊन, रेशम, कोशा, कपास या आककी रुई (नकली रेशम) के बने हुए कपड़ों में से किसी एक तरह का कपड़ा पहनने का विचार निश्चित कर ले। फिर वह कपड़ा या तो स्वयं गृहस्थ से मांग ले या गृहस्थ स्वयं दे तो निर्दोष जानकर ले लेवें। यह वस्त्र लेने की पहली प्रतिज्ञा है।

दूसरी प्रतिज्ञा इस प्रकार है-

“अहावरा दोच्चा पडिमा- सेभिक्खूवाभिक्खुणी वा पेडाए वत्थं जाएज्जा, तंजहा, गाहावती वाथं जाव, कम्भवरी वा, से पुव्वामेव आलोएच्चा “आउसोति” का “भंगिणीतिवा” “दाहिसि में एतो अण्णतरं वत्थे? तहप्पयारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, जाव फासुयं एसणीयं लाभे संते पडिगाहेज्जा दोच्चा पडिमा ॥८१२॥

गु.टी.-बीजी प्रतिज्ञा- मुनि अथवा आर्याए पोता ने खप लागुतं वस्त्र गृहस्थना घरे जोईने ते मागवुं। ते आ रीते के शरुआतमां गृहस्थनां “घरमा रहेता माणसो तरफ

जोईनं कहेवुं मे आयुष्मन्! अथवा बेहेन। मने आ तमारा वस्त्रोमांथी एकाद वस्त्र आपशो? आवी रीते मागतां अथवा गृहस्थे पोतानी मेले तेवुं वस्त्र आपतां निर्दोष जाणी ने ते वस्त्र ग्रहण करवुं। एक बीजी प्रतिज्ञा ॥५१२॥

भावार्थ- मुनि अथवा आर्यिका को अपने लिए जिस कपड़े की आवश्यकता हो उस कपड़े को गृहस्थ के घर देखकर घरवाले मनुष्यों से इस प्रकार मांगे कि हे आयुष्मन्! (बड़ी आयु वाले पुरुष) या हे बहिन्! मुझको अपने इन कपड़ों में से दो एक कपड़े दे दोगी? इस तरह मांगने पर या वह गृहस्थ स्वयं कपड़ा देने लगे तो उस कपड़े को निर्दोष जानकर वह साधु या साध्वी ले लेवें। कपड़ा लेने वाली, साधु की, यह दूसरी प्रतिज्ञा है।

तीसरी प्रतिज्ञा यों है-

अहावरा तच्च पडिमा-से भिक्खु वा भिक्खुणी वा से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा, तंजहा, अंतरेज्जगं वा उत्तरिज्जगं वा तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा जाव पडिगाहेज्जा। तच्चा पडिमा ॥८१३॥”

गु.टी.- त्रीजी प्रतिज्ञा- मुनि अथवा आर्याए जे वस्त्र गृहस्थे अंदर पहरी ने वापरेलु या ऊपर पहरी ने वापरेलु होय तेवी वस्त्र पोते। मानी लेवु, या गृहस्थे आपवा मांडतां निर्दोष जणातां ग्रहण करवुं। ए त्रीजी प्रतिज्ञा ॥९१३॥

भावार्थ- मुनि या आर्यिका गृहस्थ के कपड़ों के भीतर पहनने वाले या और कपड़ों के ऊपर पहनकर काम में लाये हुए वस्त्र को स्वयं उस गृहस्थ से मांग लेवें या वह गृहस्थ ही स्वयं देवें तो उसको निर्दोष जान ले लेवें। यह तीसरी प्रतिज्ञा है।

चौथी प्रतिज्ञा इस प्रकार से है-

“आहवरा चउत्था पडिमा- ये भिक्खू वा भिक्खुणीवा उज्झियधम्मियं वत्थं जाएज्जा। जं चण्णे वहवे समण माहण अतिहि किवण वणीमगा पावकंखंति: तहप्पगारं उज्झियधम्मियं वत्थं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा फा जाव पडिगाहेज्जा, चउत्था पडिमा ॥ ८१४ ॥

गु.टी.-चौथी प्रतिज्ञा-मुनि अथवा आर्याएफैकी देवालायक वस्त्रों मांगवा एटले जे के वस्त्रों बीजा कोई पण श्रमण, ब्राह्मण, मुसाफर, रांक के भिकारी चाहे नहीं तो पोती मागी लेवांया गृहस्थे पोतानी मेले आपतां निर्दोष ह्याणातां ग्रहण करवां। ए चौथी प्रतिज्ञा ॥८१४॥

यानी-मुनि या आर्यिका गृहस्थ के ऐसे फेंक देने योग्य कपड़े को गृहस्थ से मांगे जिसको कि कोई भी श्रवण, ब्राह्मण, देश विदेश घूमने फिरने वाला मनुष्य, दीन-दरिद्र, भीख मांगने वाला भिखारी मनुष्य भी नहीं लेना चाहे। ऐसे कपड़े को साधु, साध्वी या तो गृहस्थ से स्वयं मांग ले या गृहस्थ उसको स्वयं देने लगे तो निर्दोष जानकर ले ले।

आचारांग सूत्र (जो कि श्वेताम्बर मुनि आचार का एक प्रधान माननीय ग्रंथ है) ने साधु साध्वी को इन चार प्रतिज्ञाओं से कपड़ा लेने का आदेश दिया है। विचारने की बात है कि इन चार प्रतिज्ञाओं से साधु साध्वी को परिग्रह तथा लोभ कषाय का और साथ ही दीनता का कितना भारी दूषण आता है। देखिये पहली प्रतिज्ञा में शैमी तथा आक की रुई के चमकीले बहुमूल्य वाले वस्त्र जिनको कि सिवाय धनवान मनुष्य के कोई पहन भी नहीं सकता है, गृहस्थ से मांग लेने की आज्ञा दी है। “किसी से कोई वस्तु अपने लिए मांगना” आशा या लोभ के सिवाय बन नहीं सकता और फिर वह मांगा जाने वाला पदार्थ सुंकर (खूबसूरत) बहुमूल्य वाली वस्तुहो। इस कारण पहली प्रतिज्ञा से वस्त्र लेने वाले साधु के परिग्रह रखना, लोभ आशा दिखलाना तथा विलासिता का भाव अच्छी तरह सिद्ध होता है।

दूसरी प्रतिज्ञा से वस्त्र लेने वाले मुनि के भी तीव्र लोभ प्रकट होता है। साथ ही दूसरे का हृदय दुखाने या उसको दबाने का भी दूषण लगता है क्योंकि मुनि गृहस्थ से उसके कपड़े देखकर उनमें से कोई कपड़ा अपने पहनने के लिए मांगे तो उस कपड़े में मोह और हृदय में तीव्र लोभ होगा ही। उसके बिना ऐसा कार्य ही क्यों होवे? तथा वह गृहस्थ यदि साधारण हालत का हो तो अपने गुरु के याचना भरे वाक्यों से दबकर या संकोच करके कि इनको एक दो कपड़े देने की क्यों मनाही (निषेध) करें ऐसा विचार कर दो एक कपड़ा दे भी दे तो उसका हृदय थोड़ा बहुत अवश्य दुःखेगा, क्योंकि उस बेचारे के पहनने ओढ़ने के कपड़े कम हो जाएँगे।

तीसरी प्रतिज्ञा से कपड़ा लेने वाले साधु के भी ऐसी ही बात है बल्कि यहाँ उसके लोभ कषाय की मात्रा और बढ़ी-चढ़ी प्रगट होती है। क्योंकि गृहस्थ द्वारा पहने हुए कपड़े को साधु बिना तीव्र लोभ के क्यों मांगे? और क्यों दीन मनुष्य के समान उसे पहने।

चौथी प्रतिज्ञा से कपड़े लेने वाले साधु की दीनता की तथा लोभ की चरम सीमा (आखिरी हद) समझनी चाहिए क्योंकि वह अपने पहनने के लिए ऐसे बुरे कपड़े को गृहस्थ से मांगता है कि जिनको कि घर घर भीख मांगने वाला भिखारी भी नहीं मांगे। यदि उसे वे गंदे कपड़े कोई दे भी दे तो वह भिखारी उन्हें नहीं ले।

केवल एक लंगोट (चोल पर्यट) पहनने के लिए रखना ही परिग्रह त्यागी साधु के लिए कितनी बड़ी आफत (जंजाल) की वस्तु है, वह निम्नलिखित कथा से मालूम हो जाता है।

एक साधु किसी नगर के बाहर एक झोपड़ी में रहते थे। उनके पास केवल दो लंगोटे (चोलपट्टी) थे। एक पहने रहते थे एक को धोकर सुखा देते थे। एक दिन चूहे ने उनके दूरे लंगोट को काट डाला। यह देखकर साधुजी को बहुत दुःख हुआ।

दूसरे दिन जब उनके समीप उनके शिष्य (चेले) आए तो साधुजी ने सारी कथा उन्हें कह सुनाई। लोगों ने साधुजी को एक नया लंगोट बनवाकर दे दिया साथ ही झोपड़ी में एक बिल्ली भी लाकर रख दी जिससे चूहा फिर न लंगोट कतर जावे।

साधुजी के पास खाने का यथेष्ट सामान न होने के कारण वह बिल्ली भूख से व्याकुल रहने लगी। तब साधुजी के शिष्यों से बिल्ली को दूध पिलाने के लिए गाय रख दी और गाय को खाने के लिए तीन बीघा खेत भी दे दिया। जिसकी घास चरकर गाय रहने लगी। किन्तु खेत का राजकर (मालगुजारी) चुकाने का साधुजी से कुछ प्रबंध न हो सका। इस कारण खेत की मालगुजारी लेने वाले राजकर्मचारी (सिपाही) साधुजी को पकड़कर राजा के पास ले गये।

राजा ने साधु से पूछा कि महात्माजी। साधु बनकर तुमने अपने पीछे यह क्या झगड़ा लगाया जिससे कि आज आपको यहाँ मेरी कचहरी (न्यायालय) में आना पड़ा। साधु ने अपनी सारी पुरानी कथा राजा के सामने कह सुनाई और अंत में अपना एकमात्र कपड़ा लंगोटी को उतारकर फाड़ते हुए कहा कि हे राजन। यदि मेरे पास यह लंगोटी न होती तो मैं इतने झगड़े में न फँसता।’

यह यद्यपि है तो एक कथा किन्तु इस कथा से भी अपने पास वस्त्र रखने से जो अनेक संकट आ उपस्थित होते हैं उन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

आचारांग सूत्र के छठे अध्याय के तीसरे उद्देश्य का ३६०वां सूत्र यह बात खुले रूप से कहता है कि साधु को वस्त्र रखने से बड़े कष्ट और चिन्ता होती है तथा वस्त्र छोड़ देने से शांति, निराकुलता, संतोष होता है। अब हम यहाँ इस विषय पर प्रवचन सारोद्धार आदि श्वेताम्बरीय मान्य ग्रंथों का विस्तार से प्रमाण न देते हुए यह लिखते हैं कि साधु को-

वस्त्र पहनने से क्या-क्या दुःख-असंयम होता है?

१. कपड़े पहनने पर अपने (साधु के) शरीर के पसीने तथा मूल से कपड़ों में जूँ आदि पैदा हो जाते हैं। कपड़ों से बाहर निकाल फेंकने में या कपड़ों को धोने में अथवा कपड़ा अलग रखने से उन जीवों का घात होता है।

२. सफेद कपड़ा- ७-८ दिन में मैला हो जाता है उस मैले कपड़े को स्वयं धोने में या अन्य मनुष्य द्वारा धुलाने को गृहस्थ के समान आरंभ का दोष लगाना है।

३. कपड़ों में मक्खी-मच्छर, जूँ, चींटी, कुंशु, खटमल आदि छोटे-छोटे जीव जंतु आकर रह जाते हैं, उनका शोधन प्रत्येक समय उतार-उतारकर देखने से बनता है जो कि हो नहीं सकता। इस कारण बैठते, सोते, वस्त्र बांधते, सुखाते आदि समय साधु से उन जीवों का घात हो सकता है।

४. कपड़े पर यदि अपना या दूसरे जीव का रक्त (लोहू) विष्टा, मूत्र आदि लग जाए तो उसको साधु अवश्य धोने का आरंभ करेगा। अन्यथा देखने वालों को ग्लानि होगी।

५. यदि वस्त्र फट जाए मुनि के मन में खेद उपजे, और या तो उस वस्त्र को उसी समय सी लेवें अन्यथा आने जाने में लज्जा उत्पन्न होगी।

६. यदि साधु का कपड़ा कोई चोर चुरा ले जाए तो साधु को दुःख, क्रोध होगा तथा नंगे आने जाने में भी असमर्थ होने से उसको रुकावट होगी।

७. एकांत स्थान, वन, गुफा, पर्वत, कंदरा, मैदान, सूने मकान आदि स्थानों में रहते समय।

साधु के मन में भय रहेगा कि कहीं कोई चोर, डाकू, भील मेरे कपड़े न लूट ले जावें। इस भय से अपने कपड़ों को छिपा रखने का प्रयत्न (कोशिश) साधु को करना होगा।

८. ध्यान करते समय कपड़ा वायु (हवा) से हले, चले, उड़े तब साधु का मन ध्यान से चिग (चलायमान हो) सकता है।

९. वर्षा ऋतु में कपड़े भी भींग जाने पर मन में साधु को खेद पैदा होगा और उन कपड़ों के निचोड़ने सुखाने से पानी के रहने वाले त्रस जीवों की तथा स्थावर जीवों की हिंसा अवश्य होगी जिससे कि संयम का नाश होगा।

१०. शीत ऋतु में गर्म मोटे कपड़े की तथा गर्मी की ऋतु में पतले ठंडे कपड़े की इच्छा होती है। यदि वैसा कपड़ा मिल गया तो ठीक अन्यथा मुनि के मन में खेद होगा।

११. वस्त्र पहनते रहने से शरीर सुखिया हो जाता है और शीत, ऊष्ण, दंश मशक आदि परीषह सहने का अवसर साधु को नहीं मिल पाता।

१२. कपड़े पहनते हुए साधु के अटल ब्रह्मचर्य तथा वीतराग भाव की परीक्षा या निर्णय भी नहीं हो सकता क्योंकि स्पर्शन इंद्रिय का विकार मूत्रेन्द्रिय पर प्रकट होता है जो कि वस्त्रधारी साधु के कपड़ों में छिपी रहती है।

१३. कपड़े मांगने से साधु के मन में दीनता तथा संकोच प्रकट होता है और जिस गृहस्थ से वस्त्र मांगा जावें उस गृहस्थ पर दबाव पड़ता है।

१४. अपने मन के अनुसार कपड़े मिल जाने पर साधु के मन में हर्ष होता है। और मन के अनुसार कपड़े न मिलने पर साधु के हृदय में दुःख होता है।

१५. जो कपड़े मिल गए उनके पहनने, रखने, उठाने, धोने, सुखाने, फाड़ने, सीने, जोड़ने, फेंकने, रक्षा करने, शोधने, निचोड़ने आदि कार्यों में मुनि को चिन्ता, संयम, भय, आरंभ आदि करने पड़ते हैं।

इस प्रकार साधु के कपड़ा रखने पर परिग्रहत्याग महाव्रत तथा संयम धर्म और अहिंसा महाव्रत के पालने में बाधा आती है एवं लोभ कषाय पर विजय नहीं मिल पाती है अतः वास्तव में महाव्रतधारी मुनि वस्त्र त्यागी नहीं हो सकता है।

## अचेल-परीषह

महाव्रतधारी साधु को कर्म निर्जरा के लिए जो कष्ट सहने पड़ते हैं उनको परीषह कहते हैं। वे परीषह २२ बाईस बतलाई हैं। साधुओं के लिए बाईस परीषह सहन करना जिस प्रकार दिगम्बर संप्रदाय में बतलाया है उसी प्रकार श्वेताम्बर में भी बतलाया गया है।

उन बाईस परीषहों में अचेल या नाम्न्य (नग्नता) बतलाई गई है जिसका अर्थ है नग्न यानी वस्त्र रहित रहने से साधु को लज्जा आदि जो कुछ भी कष्ट आवे उसको वह शांति पूर्वक धैर्य से सहन करे।

इस नाम्न्य अपरनाम अचेल परिषह का उल्लेख निम्नलिखित श्वेताम्बरीय ग्रंथों में विद्यमान है।

देखिये प्रथम तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के नौवें अध्याय के २१वें सूत्र को-

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्या

क्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश, मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शब्द आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये २२ परीषह हैं।

इनमें नाग्न्य यानी नग्न रहने की परीषह का नाम स्पष्ट आया है।

वीर सं. २४५१ में आगरा से प्रकाशित 'नवतत्त्व' नाम श्वेताम्बरीय ग्रंथ की २१वीं २२वीं गाथा इस प्रकार है-

खुबुहा पिवासा सीउण्डं दंसाचेलाऽरइत्थिओ ।  
चरिआ निसिहिया सिज्जा, अक्कोस वह जायणा ॥२१॥  
अलाभ रोग तणफासा, मलसक्कार परीसहा ।  
पन्ना अन्नाण सम्मतं, इअ वावीस परीसहा ॥२२॥

अर्थात् : क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश, अचेल, आरती, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और सम्यक्त्व ये २२ परीषह हैं।

यहाँ पर भी अचेल यानी वस्त्र छोड़कर नंगे रहने की परीषह का स्पष्ट उल्लेख है।

प्रकरण रत्नाकर तृतीय भाग अपरनाम प्रवचन सारोद्धार के २६५वें पृष्ठ पर लिखा है-

खुबुहापिवासा सीउण्डं, दंसाचेला रइच्छिओ ।  
चरिया निसिहिया सेज्जा, अक्कोस वह जायणा ॥६९२॥

अर्थात्-क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश, अचेल, अरति, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना इनके अतिरिक्त शेष ९ परीषह भी इस ग्रंथ के गुजराती टीकाकार ने बिना मूल गाथा लिखे, टीका में लिख दिख हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रंथों के उपर्युक्त उल्लेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि महाव्रतधारी साधु वस्त्र रहित नग्न ही होते हैं। उनके पास नाममात्र भी वस्त्र नहीं होता है क्योंकि यदि उनके पास कोई वस्त्र हो तो फिर उनके अचेल परीषह नहीं बन सकती। नाग्न्य परीषह के विजेता उनको नहीं कहा जा सकता।

इस कारण श्वेताम्बर आमनाय का यह पक्ष स्वयमेव धराशायी हो जाता है कि 'महाव्रती साधु चादर, लंगोट, बिस्तर, कंबल आदि वस्त्रों के धारक भी होते हैं।'

कतिपय श्वेतांबरीय ग्रंथकार अचेल का अर्थ ईषत चेल यानी थोड़े कपड़े तथा कुत्सित चेल अर्थात् बुरे कपड़े ऐसा करते हैं। सो उनका यह कहना भी बहुत निर्बल है क्योंकि प्रथम तो अचेल परिषह का दूसरा नाम तत्त्वार्थनिगम सूत्र में 'नाग्न्य' यानी नग्नता आया है उसका स्पष्ट अर्थ सर्वथा वस्त्र रहित नग्न रहना होता है। उस नाग्न्य शब्द से 'थोड़े या बुरे कपड़े' ऐसा अर्थ नहीं निकल सकता।

दूसरे- थोड़े या बुरे कपड़ों का कोई निश्चित अर्थ भी नहीं बैठता क्योंकि शीत और गर्मी की बाधा मिटाने योग्य समस्त कपड़े रहने पर भी साधुओं को थोड़े वस्त्र धारक कहकर अचेल समझ लें तो समझ में नहीं आता कि सचेल का अर्थ क्या होगा!

इस कारण सचेल का अर्थ जैसे 'वस्त्रधारी' है उसी 'अचेल' का अर्थ वस्त्र रहित नग्न है।

अतः सिद्ध हुआ कि श्वेतांबरीय ग्रंथकार भी साधु का वास्तविक स्वरूप नग्न ही मानते थे अन्यथा वे इस परिषह को न लिखते।

## नग्न मुनि की वीतरागता

कुछ भोले-भाले भाई एक यह आक्षेप प्रगट करते हैं- भोले ही नहीं किंतु 'तत्त्व निर्णय प्रासाद' आदि ग्रंथों के बनाने वाले बड़े भारी आचार्य स्वर्गीय श्री आत्मारामजी भी इस आक्षेप को लिखते नहीं चूके हैं कि 'मुनि यदि कपड़ा न पहने तो उनका दर्शन करने वाली स्त्रियों के भाव उनका नग्न शरीर देखकर बिगड़ जाएँगे।'

इस आक्षेप का उत्तर आचार्य आत्मारामजी या अन्य कोई श्वेतांबरीय तथा स्थानकवासी आचार्य अपने मान्य आचार ग्रंथों (आचारांग सूत्र, कल्पसूत्र, प्रवचन सारोद्धार आदि) से ले सकते हैं। उनके ग्रंथों में खुले शब्दों में सबसे बड़ा साधु वस्त्र रहित यानी नग्न जिन कल्पी साधु बतलाया है। क्या स्त्रियाँ उनका दर्शन नहीं करती हैं? क्या उनके दर्शन करने से भी स्त्रियों का मन काम विकार में फँस जाता है?



दूसरे- श्वेतांबरीय तथा स्थानक वासी ग्रंथों में लिखा है कि श्री महावीर तीर्थकर १३ मास पीछे तथा भगवान् ऋषभदेव भी कुछ समय पीछे देवदृष्य वस्त्र छोड़कर अंत तक वस्त्र रहित नग्न रहे थे। तो क्या उनकी उस नग्न दशा में किसी स्त्री साध्वी आदि ने उनका दर्शन नहीं किया होगा? और दर्शन करने पर क्या उनके भी काम विकार हो गया होगा? चंदन बाला ने नग्न भगवान् महावीर को आहार किस प्रकार कराया होगा?

इन प्रश्नों का समाधान ही उनके आक्षेप का समाधान है। क्योंकि उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु का ही दूसरा नाम दिगम्बर मुनि है।

तथा- जिस पुरुष के मन में काम विकार होता है उसी का नग्न शरीर देखकर स्त्री के मन में विकार भाव उत्पन्न हो सकता है। परंतु जिन महात्मा के हृदय पर अखंड-अटल ब्रह्मचर्य जमा हुआ है, उसके नग्न शरीर को देखकर विकार के बदले दर्शन करने वाले के हृदय में वीतराग भाव उत्पन्न होता है। जैसे कि भगवान् महावीर स्वामी के नग्न शरीर को देखकर चंदन बाला के हृदय में वीतरागता जागृत हुआ था।

यह बात हम इन लौकिक दृष्टांतों से समझ सकते हैं कि माता या अन्य स्त्रियाँ ५-१० वर्ष के नग्न (नंगे) बालक को देखकर लज्जित नहीं होती हैं और न उसके नंगे शरीर को देखकर उनके मन में काम विकार पैदा होता है क्योंकि वह बालक निर्विकार है- कामसेवन को बिल्कुल जानता नहीं है।

तथा एक ही पुरुष को उसकी माता, बहिन तथा पुत्री आलिंगन करती है किंतु उस पुरुष का शरीर भुजाओं में लेने पर भी (आलिंगन कर लेने पर भी) उनके मन में काम विकार उत्पन्न न होकर स्नेह, प्रेम तथा भक्ति पैदा होती है। ऐसा क्यों? ऐसा केवल इसलिए कि उन माता, बहिन और पुत्री के लिए उस पुरुष का मन निर्विकार है, कामवासना से रहित है।

उसी पुरुष का आलिंगन जब उसकी स्त्री करती है तब उन दोनों के हृदय में कामवासना पैदा हो जाती है क्योंकि उस समय दोनों के मन में परस्परका काम विकार मौजूद है।

इसी प्रकार जिस पुरुष के मन में काम विकार मौजूद है, उसको नंगा देखकर दूसरे स्त्री पुरुषों का मन अवश्य काम विकार में फँस जाता है क्योंकि उनके काम विकार की साक्षी उसकी लिंगेन्द्रिय देती है। परंतु जिस महात्मा के मन में काम विकार का नाम निशान भी नहीं है, अखंड ब्रह्मचर्य कूट-कूट कर भरा हुआ है उसके नंगे शरीर में काम

विकार भी नहीं दिख पड़ता है। अतएव उसके दर्शन करने वाले स्त्री-पुरुषों के हृदय में कामवासना नहीं आ सकती।

जो साधु मन में काम वासना रखकर ऊपर से ब्रह्मचर्य का ढोंग लोगों को दिखलावे तो कपड़ों से ढँके हुए उसके काम विकार को भी लोग समझ नहीं सकते, ऐसा साधु अनेक बार लोगों को ठग सकता है। किंतु जो साधु अखंड ब्रह्मचर्य से अपने आत्मा को रंग चुका है वह यदि नंगे वेश में हो तो लोगों को उसके ब्रह्मचर्य व्रत की परीक्षा हो सकती है, क्योंकि मन में काम वासना जग जाने पर लिंग इंद्रिय पर विकार अवश्य आ जाता है।

यदि किसी श्वेताम्बर या स्थानकवासी भाई को इस विषय में कुछ संदेह हो तो 'हाथ कंगन को आरसी से क्या काम?' इस कहावत के अनुसार दक्षिण महाराष्ट्र तथा कर्णाटक प्रांत में विहार करने वाले मुनिसंघ के श्री १०८ आचार्य शांतिसागरजी, मुनिवर्य वीरसागरजी आदि को तथा ग्वालियर राज्य व संयुक्त प्रांत के बनारस, लखनऊ और बिहार प्रांत के गया, आरा, गिरीडीह, हजारीबाग, कोडरमा आदि नगरों में विहार करने वाले मुनिराज श्री शांतिसागरजी (छाणी), सूर्यसागरजी, मुनीन्द्रसागरजी (वर्तमान में भी अनेकानेक दिग. जैन साधु) आदि दिगम्बर मुनियों का दर्शन कर सकते हैं जिनके पास कि जरा सा भी वस्त्र नहीं है। और जिनका स्थान-स्थान पर जैन, अजैन स्त्री-पुरुषों के झुंड नमस्कार, दर्शन, पूजन करते हैं। इन पूज्य मुनिश्वरों के निर्विकार, अखंड ब्रह्मचर्य मंडित नंगे शरीर को देखकर किसी स्त्री या पुरुष के हृदय में लज्जा या काम वासना उत्पन्न ही नहीं होती।

श्वेताम्बर आचार्य आत्मरामजी के समय में भी दक्षिण कर्नाटक देश में श्री १०८ अनंतकीर्तिजी दिगम्बर मुनि विद्यमान थे। वे उनका दर्शन करके अपना भ्रम दूर कर सकते थे।

सारांश- पूर्वोक्त बातों पर दृष्टि डालते हुए निष्पक्ष विद्वान् स्वीकार करेंगे कि साधु का परिग्रह रहित, निर्ग्रथ रूप दिगम्बर नग्न (वस्त्र-रहित) वेश ही है और उसी नग्न दिगम्बर वेश से साधु के पवित्र मन तथा अखंड ब्रह्मचर्य की परीक्षा हो सकती है, जिसको कि श्वेतांबरीय ग्रंथ आचारांग सूत्र, प्रवचन सारोद्धार आदि भी स्वीकार करते हैं।

## क्या साधु अपने पास लाठी रखे?

अब हम लाठी प्रकरण पर उतरते हैं। कारण के अनुसार कार्य होता है; यह सब कोई समझता है। गृहस्थाश्रम में पुत्र, स्त्री, धन, मकान, दुकान आदि कारणों से पुरुष को मोह उत्पन्न होता है। इस कारण संसार से विरागी पुरुष इन मोह के कारणों को छोड़कर मुनिदीक्षा लेकर एकांत स्थान, वन, पर्वत, गुफा, मठ आदि में रहता है क्योंकि वहाँ पर उसके मन में मोह पैदा करने वाले बाहरी पदार्थ नहीं हैं।

घर बार परिग्रह को छोड़कर अहिंसा महाव्रत के पालने वाले मुनिराज अपने पास लाठी रखें या न रखें, इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि दिग्म्बर, श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी ऐसे तीन तरह के जैन साधुओं में से केवल श्वेताम्बर जैन साधु ही अपने पास लाठी (डंडा) रखते हैं। जैसा कि श्वेतांबरीय ग्रंथ प्रवचन सारोद्धार के २६२वें पृष्ठ की ६७७वीं गाथा में लिखा है।

लट्टी आयपमाणा विलट्टि चतुरंगुल्लेण परिहीणे।  
दंडो बाहुपमाणो विदंडओ कक्खमेताओ ॥६७७॥  
लट्टीए चउरंगुल समुसी या दंडपंचगे नाली।

यानी साधु ५ तरह का डंडा रखें। १- लाठी- जो कि अपने शरीर के बराबर ३॥ साढ़े तीन हाथ लंबी हो। २- विलट्टी जो कि अपने शरीर से चार अंगुल छोटी हो। ३- दंड जो कि अपनी भुजा (बांह) के बराबर हो। ४- विदंड जो कि अपने काँख (कंधों) के बराबर ऊँचा हो। ५- नाली जो लाठी से भी चार अंगुल ऊँची हो। यह नाली नदी पार करते समय पानी नापने के लिए साधु के काम आती है।

लाठी रखने में साधु को श्वेतांबरीय ग्रंथों और उनके रचयिता आचार्यों ने अनेक लाभ बतलाये हैं जैसे कि लाठी के सहारे साधु कीचड़ में फिसलने से बच जाता है। लाठी के सहारे चलने से उपवास करने वाले साधु को खेद नहीं होता, लाठी देखकर कुत्ता, बिल्ली, चोर, डाकू डर कर पास नहीं आने पाते, लाठी के सहारे खड्डे आदि में गिरने से साधु बच जाता है, लाठी से सामने आये हुए साँप अजगर को साधु हटा सकते हैं। लाठी से पानी नापकर मुनि नदी पार कर सकते हैं इत्यादि।

कार्तिक सु. ११वीर सं. २४५३ को कोटा से प्रकाशित “आगमानुसार मुहपत्ति का निर्णय और जाहिर घोषणा” नामक पुस्तक के ८३-८४-८५वें पृष्ठ पर ऐसे ही

१५ तरह के गुण लाठी रखने से मुनि को बतलाये हैं। इस पुस्तक को श्वे. मुनि मणिसागरजी ने लिखा है। १५वाँ गुण लाठी (दंडा) रखने का साधु को यह बतलाया है-

“दर्शन ज्ञान चारित्र की आराधना करने से मोक्ष प्राप्ति का कारण शरीर है और शरीर की रक्षा करने वाला डंडा है। इसलिए कारण कार्य भाव से दर्शन ज्ञान चारित्र तथा मोक्ष का हेतु भी डंडा है।”

श्वेताम्बर ग्रंथों के उपर्युक्त वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि लाठी के कारण साधु के शरीर को आराम मिलता है। इसी कारण सर्वसिद्धि का कारण लाठी बतला दी है। अब यहाँ विचार करना है कि वास्तव में लाठी (लकड़ी) साधु के चारित्र (संयम) की उपकारिणी है या अपकारिणी है?

प्रथम- साधु (मुनि) अहिंसा महाव्रत के धारक होते हैं। उनको अपनी चर्या ऐसी बनानी चाहिये जिसे कारण उनका अहिंसा महाव्रत मलिन न हो पावे। किन्तु साधु यदि अपने पास लाठी रखे तो उसके अहिंसा महाव्रत में मलिनता अवश्य आवेगी। क्योंकि लाठी एक हथियार है। जो कि दूसरे जीवों को मार दी जाती है। ऐसा घातक हथियार अपने पास रखने से साधुओं के मन में बिना किसी निमित्त भी हिंसा करने के भाव उत्पन्न हो सकते हैं।

गृहस्थ लोग तो विरोधी हिंसा के त्यागी नहीं होते। इस कारण वे अपने शत्रु से चोर डाकू या हिंसक पशु से अपने आप को बचाने के लिए उसके पास लड़ने के निमित्त लाठी, तलवार, बंदूक आदि हथियार अपने पास रखते हैं और उनसे मौके पर काम भी लेते हैं। परंतु साधु तो विरोधी हिंसा के त्यागी होते हैं। वे तो अपने ऊपर आक्रमण (हमला) करने वाले दुष्ट मनुष्य, चोर, डाकू या हिंसक पशु के साथ लड़ने को तैयार नहीं होते हैं। फिर वे ऐसे घातक हथियार लाठी को अपने पास क्यों रखें?

दूसरे- साधु परम दयालु होते हैं। उनके बराबर दया किसी और मनुष्य के हृदय में होती नहीं है। इसीलिए वे मन वचन काय से दूसरे जीवों को अभय (निडरता) देते हैं। इस बात को श्वेताम्बर ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं। परंतु लाठी रखने पर साधु के यह बात बनती नहीं है। क्योंकि लाठी को देखकर मनुष्य नहीं तो बेचारे पशु तो अवश्य भयभीत हो जाते हैं क्योंकि लाठी पशुओं के मारने का एक सुलभ हथियार है। इस कारण लाठीधारी साधु यदि वचन से नहीं तो लाठी के कारण मन और काय से अवश्य दूसरे जीवों के हृदय में भय (डर) उपजाते हैं। इस कारण उनके संयम धर्म तथा अहिंसा महाव्रत में कमी आती है।

तीसरे- लाठी रखने से साधु के मन में भी दूसरे जीवों को, और नहीं तो कम से कम अपने ऊपर आक्रमण करने वाले जीव को तो अवश्य ही मारने-पीटने के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे तलवार, छुरी, बंदूक हाथ में लेकर मनुष्य के दूसरे जीव का वध या उसको घायल करने के विचार हो जाते हैं। तलवार, बंदूक आदि लोहे के हथियार हैं और लाठी लकड़ी का बना हुआ हथियार है। अंतर केवल इतना ही है।

चौथे- लाठी वही मनुष्य रखता है जिसको परम अहिंसा धर्म से बढ़कर अपना शरीर, प्राण प्यारे (प्रिय) होते हैं और इसी कारण वह अपने शरीर की रक्षा के लिए, किसी भय से बचने के लिए अपने पास लाठी रखता है। किन्तु सब तरह की हिंसा के तथा अंतरंग बहिर्ग परिग्रह के सर्वथा त्यागी मुनि के हृदय में न तो अपने शरीर से राग होता है जिससे कि उनके हृदय में किसी से डर लगता रहे और उस डर के मिटाने के लिए वे अपने पास लाठी रखें, तथा न वे लाठी से दूसरे जीव को भय दिखलाकर अपने शरीर को ही बचाना चाहते हैं। क्योंकि ऐसा मोटा प्रमाद गृहस्थ के ही होता है।

पाँचवें- यदि साधु लाठी के सहारे ही अपनी रक्षा करने लगे तो उनमें और अन्य गृहस्थों में या अन्य अजैन साधुओं में क्या अंतर रहा?

छठे- शरीर की रक्षा के साधन लाठी के समान जूता, टोपी, छाता आदि और भी अनेक वस्तुएँ हैं क्या उनमें से भी कुछ चीजें लाठी के समान साधुओं को रखना चाहिए?

सातवें- लाठी से मोह हो जाने के कारण साधु को लाठी अपने पास रखने से परिग्रह का भी दोष लगता है। शरीर की रक्षा का कारण मानकर लाठी प्रत्येक समय अपने पास रखना, बिना मोह के बनता नहीं है।

आठवें- लाठी यदि संयम साधन का ही कारण हो तो श्वेतांबरों के सर्वोत्कृष्ट जिनकल्पी साधु (जिनके पास की रंचमात्र भी कोई वस्तु नहीं होती, नमन दिगम्बर होते हैं) लाठी अपने पास क्यों नहीं रखते?

नवम- लाठी बिना यदि साधुचर्या में कुछ हानि पहुँचती तो श्री महावीर आदि तीर्थंकर भी लाठी अवश्य रखते किन्तु उन्होंने लाठी अपने साथ नहीं रखी, सो क्यों?

इस कारण सारांश यह है कि लाठी या डंडा साधु के संयम में हानि पहुँचाता है। संयम पालन में लाठी से कुछ सहायता नहीं मिलती है। हाँ! लाठी के कारण शरीर को अलबत्ता सुख मिलता है। सो यदि शरीर को ही सुख देने का अभिप्राय हो तो

गृहस्थाश्रम छोड़ साधु बनना व्यर्थ है। मुनि दीक्षा लेकर तो कायोत्सर्ग, कायक्लेश व्युत्सर्ग करना पड़ता है, २२ परीषह निश्चल रूप से बिना खेद सहनी पड़ती है। अनशन, उनोदर आदि तप करके शरीर कृश करना पड़ता है। इस कारण डंडा लेकर शरीर की रक्षा करना मुनिचारित्र के विरुद्ध है। यदि डंडा रखने मात्र से परंपरा लगाकर मुक्ति मिल जावे तो समझना चाहिए कि मुक्ति मिलना कुछ कठिन नहीं। जिस साधु ने डंडा लिया कि दर्शन ज्ञान चारित्र उस को प्राप्त हुए और मोक्ष अपने आप मिल गई।

भोले भाले भाइयो! लाठी, डंडा गृहस्थों के हथियार हैं। अहिंसा महाव्रतधारी निर्भय मुनि साधु के लिए उस लाठी डंडा से क्रोध कषाय की तीव्रता जाग जाती है और कभी कभी वे गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के ऊपर भी कहीं-कहीं लाठी का हाथ झाड़ देते हैं। इस कारण लाठी रखना मुनि धर्म का घातक है, साधन नहीं है।

## लाठी एक शस्त्र है साधु जिसके द्वारा हिंसा कर सकते हैं

हिंसा चार प्रकार की होती है-संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से साधारण व्रती जैन गृहस्थ के संकल्पी हिंसा का त्याग होता है। शेष तीन प्रकार की हिंसाओं का नहीं होता। क्योंकि भोजनादि बनाने में उसको आरंभी हिंसा और व्यापार करने में उद्योगी हिंसा करनी पड़ती है एवं शत्रु से आत्मरक्षा, धर्मरक्षा, संघ रक्षा आदि करने में विरोधी हिंसा भी उससे हुआ ही करती है।

आत्मरक्षा के लिए ही गृहस्थ अपने पास तलवार, बंदूक आदि हथियारों के साथ साथ लाठी भी रखते हैं क्योंकि लाठी भी आत्मरक्षण के लिए तथा आक्रमण करने वाले शत्रु के प्रहार का उत्तर देने के लिए उपयुक्त साधन है। किन्तु जैन साधु पाँच महाव्रतों के धारक होते हैं। उनके लिए चारों प्रकार की हिंसा का परित्याग होना अनिवार्य है। वे अपने अहिंसा महाव्रत के अनुसार अपने ऊपर आक्रमण करने वाले शत्रु का भी सामना नहीं कर सकते। शत्रु के प्रहार करने पर जैन साधु को शांति और क्षमा धारण करने का विधान है। अतएव कोई आवश्यकता नहीं कि साधु हिंसा के साधन रूपी लाठी को अपने पास रखे।

इसके विरुद्ध श्वेताम्बर साधु लाठी अपने पास सदा रखते हैं। यह उनके अहिंसा महाव्रत का दूषण है क्योंकि अवसर मिलने पर वे उस लाठी से हिंसा कर सकते हैं। जैसा कि उनके ग्रंथ में उल्लिखित कथा से भी पुष्ट होता है। देखिये श्वेतांबरी “निशीथचूर्णिका” में लिखा है कि “एक साधु ने अपने गुरु की आज्ञा पाकर अपनी लाठी से तीन सिंहों को मार डाला।” यह कथा किस प्रकार लिखी हुई है वह हम को मालूम नहीं क्योंकि निशीथचूर्णिका ग्रंथ हमारे देखने में नहीं आया। किन्तु श्वेताम्बरीय महाव्रती साधु ने गुरु की आज्ञा से लाठी द्वारा तीन सिंहों को मार डाला यह बात असत्य नहीं ऐसा हम को पूर्ण विश्वास है। क्योंकि आधुनिक प्रसिद्ध श्वेताम्बरीय आचार्य आत्मानंदजी ने (जिनको कि श्वेताम्बरीय भाई “कलिकाल सर्वज्ञ” लिखते हैं) स्वरचित “सम्यक्त्वशाल्योद्धार” नामक पुस्तक के १९० तथा १९१वें पृष्ठ पर स्पष्ट लिखा है कि-

“जेठेने (जेठमल नामक) एक दूँडिया विद्वान ने समकितसार नामक एक पुस्तक के प्रतिवादस्वरूप आत्मारामजी ने यह सम्यक्त्व शाल्योद्धार नामक पुस्तक लिखी है। श्री निशीथचूर्णिका में तीन सिंह मारने का अधिकार लिखा है परन्तु उस मुनि ने सिंह को मारने के भाव से लाठी नहीं मारी थी उसने तो सिंह के हटाने वास्ते यष्टि प्रहार किया था इस तरह करते हुए यदि सिंह मर गये तो उसमें मुनि क्या करे? और गुरु महाराज ने भी सिंह को जान से मारने के लिए नहीं कहा था। उन्होंने कहा था कि जो सहज में न हटे तो लाठी से हटा देना।”

आत्मानंदजी के इस लेख से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि निशीथ चूर्णिका में श्वेताम्बर जैन साधु द्वारा लाठी से दो नहीं किन्तु तीन सिंहों को जान से मारे जाने की कथा अवश्य लिखी है। उस महाहिंसा के दोष को छिपाने के प्रयत्न का आत्मानंदजी ने अयुक्ति पूर्ण समाधान किया है।

प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है कि हाथी सरीखे महाबली दीर्घकाय पशु को भी विदारण कर देने वाले वनराजा सिंह का लाठी द्वारा हटाए जाने मात्र से मरना असंभव है जब तक कि उसके ऊपरपूर्ण बल से लाठी का प्रहार न हुआ हो। लाठी द्वारा हटाने मात्र से कुत्ता-बिल्ली आदि साधारण पशु भी नहीं मर सकते, सिंह की बात तो अलग रही।

दूसरे साधु को लाठी से तीन सिंह क्रमशः मरे होंगे, एक साथ तो मरे नहीं होंगे। जब ऐसा था तो एक सिंह के मर जाने पर ही कम से कम साधु को महान, पंचेंद्रिय पशु

की हिंसा अपने हाथ से हुई जानकर शेष दो सिंहों का पीछा छोड़ देना था। उसने ऐसा नहीं किया इसे क्या समझना चाहिए? इस बात का विचारशील पाठक स्वयं विचार करे।

तीसरे- महाव्रती साधुओं को किसी जीव पर लाठी प्रहार करने का आदेश भी कहाँ है? साधु को तो अपने ऊपर आक्रमण करने वाले के समक्ष भी शांतिभाव प्रगट करने का आदेश है। लाठी से किसी जीव जंतु को पीड़ित करना अथवा उसपर प्राणान्त करने वाला असह्य प्रहार कर बैठना साधुचर्या के सरासर विपरीत है।

इस कारण या तो श्वेताम्बरीय शास्त्रों को निर्दोष ठहराने के लिए उस साधु को दोषी ठहराना आवश्यक है अथवा उस साधु को निर्दोष निरूपित करते हुए श्वेताम्बरीय शास्त्रों के माथे वह दोष रख देना चाहिए कि वे साधु के ऐसे कार्य को भी अनुचित नहीं समझते।

किन्तु कुछ भी हो यह बात तो प्रत्येक दशा में स्वीकार करनी पड़ेगी कि लाठी महाव्रती साधु के लिए महादोषजनक शस्त्र है जिसके निमित्त से वह उपर्युक्त कथा की घटना के अनुसार संकल्पी अथवा विरोधी हिंसा भी कर सकते हैं।

## पाणीपात्र या काष्ठपात्र

अब यहाँ पर यह बात विचारने के लिए सामने आई है कि निर्ग्रंथ साधु जो कि समस्त परिग्रह का त्याग कर चुके हैं, पाणिपात्र यानी हाथ में भोजन करने वाले हों अथवा काष्ठपात्र यानी लकड़ी या तुंबी के बर्तन अपने साथ रखने वाले हों?

इन विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय का अभिप्राय तो यह है कि स्थविरकल्पी हो या जिन कल्पी मुनि हो, अन्य कोई पात्र धारण न करे, हाथ में ही भोजन करे। किन्तु श्वेताम्बर और स्थानकवासी संप्रदाय का इस विषय में यह कहना कि उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु तो पाणिपात्र यानी हाथ में भोजन करने वाला ही हो अन्य कोई पात्र धारण न करे। किन्तु स्थविरकल्पी साधु भोजन करने के लिए पात्र और उस पात्र को रखने तथा बाँधने के कपड़े अपने पास रखे।

यहाँ पर इतना समझ लेना चाहिए कि दिगम्बर सम्प्रदाय के अभिमत को श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी संप्रदाय सबसे उत्कृष्ट रूप मानकर स्वीकार करते हैं, जैसा कि उनके

प्रवचनसारोद्धार ग्रंथ की ५००वीं गाथा में कहा है-

जिनकप्पिआ वि दुविहा पाणीपाया पडिग्गहधराय।

यानी-जिनकल्पी साधु भी दो प्रकार के हैं एक पाणिपात्र और दूसरे पतट्गृहधर।

किन्तु विचार इतना और भी करना है कि क्या अन्य महाव्रतधारी जैन मुनि भी पात्र ग्रहण करें? इस प्रश्न पर विचार करते समय जब सर्वपरिग्रह त्यागी स्वरूप की ओर देखा जाए तो कहना होगा कि पात्र अपने पास रखना साधु को अपना परिग्रह त्याग महाव्रत मलिन करना है। क्योंकि साधु के लिए पात्र रखना दो तरह से परिग्रह का दोष प्रकट करता है। एक तो इस तरह के यदि पात्र परिग्रह रूप नहीं हैं तो उत्कृष्ट जिनकल्पी मुनि उन पात्रों को छोड़कर पाणिपात्र (हाथ में भोजन करने वाले) क्यों होते हैं? पात्र परिग्रह वस्तु है इसी कारण वे उनका त्याग कर देते हैं। दूसरे पात्र रखने से कोई महाव्रत, संयम आदि का उपकार नहीं होता, इस कारण वह एक मोह पैदा करने वाली वस्तु है। उसके ग्रहण करने, अपने पास रखने तथा उसकी रक्षा करने में मोह मौजूद रहता है। पात्र ग्रहण करने में साधु के मोह भाव होता है। यह बात उसकी ४ प्रतिज्ञाओं से भी सिद्ध होती है।

देखिये आचारांग सूत्र के १५वें अध्याय के पहले उद्देश्य में ३०९-३१० वें पृष्ठ पर लिखा है-

## पहली प्रतिज्ञा-

“से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदिसिय पायं जाएज्जा तंजहा, जाउयपायं वा, दारूपायं वा, मदियापायं वा तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा, जाव पडिगाहेज्जा। ८४७।

अर्थात्- साधु या आर्यिका किसी एक प्रकार का पात्र अपने लिए निश्चित करके तुंबी, लकड़ी या मिट्टी आदि के बने हुए पात्रों में से अपना निश्चित प्रकार का पात्र गृहस्थ से स्वयं मांगे या गृहस्थ स्वयं देवे तो ले लेवे। यह पहली प्रतिज्ञा है।

इस प्रतिज्ञा से सिद्ध होता है कि साधु के हृदय में पात्र के लिए ममत्व भाव है जिसके कारण उसे गृहस्थ से याचना करनी पड़ती है।

## दूसरी प्रतिज्ञा यों है

“से भिक्खू वा भुक्खुणी वा पेहाए पायं जाएज्जा, तंजहा, गाहावई, वा, जाव कम्मकरी वा, से पुच्वामेव आलोएज्जा “आउसोत्तिवा, भइणीतिवा, दाहिसि में ऐत्तो अण्णायं पादं, तंजहा लाउयपादं वा” जाव तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा जाव पडिगाहेज्जा। दोच्चा पडिमा। ८४८।

अर्थात्- मुनि या साध्वी अपने निश्चित किये हुए (लकड़ी आदि जाति के) पात्र के गृहस्थ के घर में देख कर गृहस्थ के घर वालों से कहे कि ‘हे आयुष्मन्! या हे बहिन- तुंबीपात्र काठ का बर्तन या मिट्टी आदि के बर्तनों में से अमुक बर्तन क्या मुझे दोगे? ऐसे माँगने पर या स्वयं गृहस्थ के देने पर ग्रहण करें। यह दूसरी प्रतिज्ञा है।

इस दूसरी प्रतिज्ञा से पात्र लेने पर साधु के लोभ, संकोच, दीनता प्रकट होती है। गृहस्थों के घर बर्तन देखकर मन में संकोच कर उससे बर्तन मांगना, यदि गृहस्थ ने मांगे अनुसार पात्र दे दिये तो ठीक, नहीं तो बर्तन न मिलने पर खेद खिन्न या क्रोधी होना या मिल जाने पर हर्षित होना आदि बातें साधु के ऊँचे पद को नीचे करने वाली है तथा मन को मलिन करने वाली है और दीनता प्रकट करने वाली है।

## तीसरी प्रतिज्ञा यह है

“से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण पादं जाणेज्जा सगतियं वा वेजयंतियं वा तहप्पगारं पायं सयं वाजाव पडिगाहेज्जा। तच्चा पडिमा।’

यानी- मुनि या आर्यिका गृहस्थ के बर्ते हुए (काम लिए हुए) या बर्ते जाने वाले (काम में आते हुए) दो तीन बर्तनों में से एक पात्र स्वयं मांगे। उसके मांगने पर या स्वयं गृहस्थ के देने पर पात्र ग्रहण करे।

इस तीसरी प्रतिज्ञा से पात्र लेने वाले साधु के दीनता तथा मोह बुद्धि और भी अधिक बढ़ी हुई समझनी चाहिये क्योंकि दूसरे का काम में लिया हुआ बर्तन वह ही ग्रहण करता है जो अत्यंत लोभी या दीन होता है। मुनि को यदि लोभी या अतिदीन माना जाये तो वे महाव्रतधारी साधु नहीं हो सकते क्योंकि लोभ अंतरंग परिग्रह है और यदि वे पाँच महाव्रतधारी साधु हैं तो ऐसी दीनता तथा लोभकषाय नहीं दिखला सकते।

## चौथी प्रतिज्ञा यह है

“से भिक्खूवा भिक्खुणीवा उज्झियधम्मियं पादं जाएज्जा जं चण्णे वहवे समणमाहणा जाव वणीमगा णाव कंखति, तप्पगारं पादं सयं बाणं जाव पडिगाहेज्जा। चउत्था पढिमा ॥८५०॥

भावार्थ- मुनि अथवा आर्यिका ऐसा पात्र गृहस्थ से स्वयं मांग कर लेंगे जो कि फेंक देने योग्य हो और जिसको कोई भिक्षुक (अजैन साधु) ब्राह्मण अथवा घर घर भीख मांगने वाले भिखारी भी नहीं लेना चाहें। अथवा ऐसे बर्तन को गृहस्थ स्वयं दें तो वह ले लेवे।

इस चौथी प्रतिज्ञा से पात्र लेने वाले साधु के तो महादीनता प्रगट होती है क्योंकि भिखारी के भी न लेने योग्य पात्र को मांगकर लेने वाला पुरुष भिखारी से भी बढ़कर दीन-दरिद्री होता है। क्या महाव्रतधारी सिंह वृत्ति से चलने वाले मुनि ऐसे दीन होते हैं?

इस प्रकार पात्र ग्रहण करने में साधु के दीनता, मोह, परिग्रह आदि दोष आते हैं। प्रवचनसारोद्धार के १४१वें पृष्ठ पर ५२४वीं गाथा में पात्र रखने से जो गुण बतलाये हैं कि-

छक्कायरक्खणट्ठा पायग्गहण जिणेहिं पण्णत्तं।

जे य गुणा संमोए हवन्ति ते पायग्गहणेवि ॥२४५॥

यानी पात्र रखने से साधु के छह काय के जीवों की रक्षा होती है तथा जो गुण सम्मोह में बतलाये गये हैं वे गुण पात्र रखने में भी हैं। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि पात्र न रखकर हाथ में भोजन करने वाले मुनि के किस प्रकार के छह काय के जीवों की हिंसा होती है? तथा आपके (श्वेताम्बरीय) उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु जो पात्र न रखकर हाथ में भोजन करते हैं सो क्या वे भी छह कायके जीवों का घात करते हैं? कैसा उपहास है जैसे जैसे करके पात्र से ही छहकायिक जीवों की रक्षा बतलाई जाती है। पात्र के द्वारा उठाने, रखने, धोने, पोंछने, बचा हुआ भोजन फेंकने आदि क्रियाओं से जो जीवों का घात होता है उसका नाम भी नहीं।

अब हम इस विषय को अधिक न बढ़ा कर पात्र रखने से साधु को जो जो दोष प्राप्त होते हैं उनको संक्षेप से बतलाते हैं। पात्र रखने में साधु को निम्नलिखित दोष लगते हैं।

१- पात्र (बर्तन) पौद्गालिक पर वस्तु है जिससे कि संयम का कुछ उपकार नहीं होता है। क्योंकि भोजन हाथों में लेकर खाया जा सकता है, अतः पात्रों को ग्रहण करने में परिग्रह का दोष लगता है।

२-पात्र अपने मन के अनुसार मिल जाने पर मुनि को हर्ष तथा पात्र से प्रेम हो सकता है तथा इच्छानुसार न मिलने पर दुःख हो सकता है। इस कारण पात्र मुनि के राग द्वेष उत्पन्न करने का कारण है।

३-पात्र मांगने में मुनि के आत्मा में दीनता का प्रादुर्भाव होता है।

४-पात्र मिल जाने पर साधु को उसकी रक्षा करने में सावधानी रखनी पड़ती है कि कहीं कोई चोर न चुरा ले जावे।

५- पात्र फूट जाने पर या चोरी चले जाने पर साधु के मन में दुःख हो सकता है।

६- पात्र रखने में उसके साथ सूती तथा ऊनी तीन कपड़े और भी रखने पड़ते हैं। जिससे परिग्रह और भी बढ़ता है।

७- पात्र को साफ करने, धोने, पोंछने, सुखाने आदि से सूक्ष्म त्रस जीवों का घात होता है तथा आरंभ का दोष आता है।

८-पात्र में भोजन ले आने पर ऊनोदर (भूख से कम खाना) तप यथार्थ रूप से नहीं पल सकता। यदि तप पालने के लिए भूख से कम भोजन करके शेष बचे हुए भोजन को साधु कहीं फेंक देवे तो वहाँ जीवों की उत्पत्ति तथा घात होगा।

९-अन्न पानी के संबंध से काठ के पात्र में सूक्ष्म जीव उत्पन्न होजाते हैं। ऐसे बर्तन को रगड़-रगड़ कर धोने पर उनका घात हो सकता है।

१०-एक ही पात्र में अनेक प्रकार के अन्न, दाल, दूध, दही, नमक, खांड आदि के बने हुए सूखे, गीले पदार्थ मिलाने पर द्विदल आदि हो सकता है। जिसके कि खाने में हिंसा का दोष लगता है।

११-पात्रों को कोई डाकू, भील, चोर, लूट, छीन या चुरा न लेवे इस भय से साधु पात्रों को लेकर वन, पर्वत, शमशान आदि एकांत स्थानों में निर्भय रूप से आ जा नहीं सकते हैं और न निराकुल होकर ध्यान कर सकते हैं।

इत्यादि अनेक दोष साधुओं को पात्र रखने में आते हैं। इस कारण महाव्रतधारी मुनि को पात्र धारण करना ठीक नहीं है। दोषजनक है। कर्मंडलु तो इस कारण रखना योग्य है कि उसमें अचित्त जल रखकर उस जल से पेशाब-टुट्टी करने के पीछे अशुद्ध अंग तथा हाथ पैर आदि धोने पड़ते हैं। किन्तु भोजन पात्र रखने के लिए तो वैसी कोई विवशता (लाचारी) नहीं है। निर्दोष भोजन तो साधु गृहस्थ के घर पर हाथों से खा सकते हैं जैसा कि उत्कृष्ट जिनकल्पी मुनि किया करते हैं।

इस कारण साधु को अपने पास पात्र रखना भी अपना मुनि चारित्र्य बिगाड़ना है। यानी पात्र रखने पर साधु के मूलगुण भी नहीं पालन किये जा सकते। इसलिए डंड (लाठी) धारण के समान पात्र धारण भी व्यर्थ तथा हानिजनक है।

## क्या साधु अपने पास बिछौना रक्खे?

अब यहाँ यह प्रश्न सामने आया है कि क्या महाव्रतधारी जैन साधु संस्तारक (बिछौना, बिस्तर) सोने के लिए अपने पास रक्खे?

इसका उत्तर दिगम्बर सम्प्रदाय के आचारग्रंथ तो महाव्रतधारी मुनि को रंचमात्र भी वस्त्र न रखने के आदेश रूप में देते हैं फिर संस्तारक तो जरा दूर की बात रही। किन्तु श्वेताम्बरीय ग्रंथ तथा स्थानकवासी शास्त्र मुनियों को संस्तारक (संधारा, बिछौना या बिस्तर) ही नहीं किन्तु उसके ऊपर बिछाने के लिए एक उत्तर पट यानी मलमल आदि कोमल कपड़े की चादर भी रखने की आज्ञा देते हैं।

प्रवचनसारोद्धार के १४०वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

संधारुत्तरपट्टो अड्डाईज्जाय आयया हच्छा।

दोणहंपि य विच्छारो हच्छो चउरंगुलो चव॥५२१॥

यानी-साधुओं के सोने का बिछौना (संस्तारक) और उसके ऊपर बिछाने की चादर दोनों ही ढाई हाथ लंबे तथा एक हाथ चार अंगुल चौड़े हों।

प्रवचनसारोद्धार के गुजराती टीकाकार ने इस बिछौना और चादर रखने का यह प्रयोजन बतलाया है कि-

“संस्तार के करी प्राणी तथा शरीर जे रजरेणु लागे तेनी रक्षा थाय छे: माटे तेनो

अभाव होय तो शुद्धभूमि विषे शयन कन्या छत्तां पण साधु पृथ्वी आदि प्राणीओना उपमर्दन करनारो थाय अने शरीर ने ऊपर रेणु लागे। तथा उत्तरपट्ट पण क्षौमिक षट्पदादि संरक्षणार्थ एटले दाबना करेला संस्थारामांनी भ्रमरिओने घात न थवा माटे संस्तारकनी ऊपर पथराय छे। एभ न करतां कंबलमय संस्तारक कन्याथी शरीरना संघर्षणने लीधे जुं प्रमुख जीवोनी विराधना थाय।”

यानी-बिछौने (संस्तारक) से जमीन पर चलने फिरने वाले छोटे छोटे जीवों की रक्षा होती है और शरीर पर धूल नहीं लगने पाती है। यदि साधु शुद्ध, जीवजन्तुरहित भूमि में शयन करे (सोवे) तो उसके शरीर से पृथ्वीकायिक आदि (न मालूम आदि से क्या लिया) जीव कुचल जावें और जमीन की धूल मुनि के शरीर से लग जावे। यदि उस बिछौने पर चादर न बिछाई जाये तो भोंरा आदि जीवों की रक्षा कैसेहो। इसलिए बिछौने (संस्तारक) पर आये हुए भौरि आदि जीवों की रक्षा के लिए एक चादर अवश्य चाहिये। साधु यदि चादर ऊपर न बिछावे तो कंबल के बिछौने और शरीर के रगड़ने से जू खटमल आदि जीव मर जावें।

प्रवचनसारोद्धार के इस लेख को देखकर कहना पड़ता है कि जीवरक्षा के बहाने साधुओं के शरीर को सुख पहुँचाने के लिए बिछौना रखना बतलाया है। क्योंकि विचार कीजिए कि जिन साधुओं ने सब तरह का परिग्रह त्याग कर परिग्रह त्याग महाव्रत धारण किया है उन्हें अपने साथ बिछौना और उस बिछौने के लिए चादर अपने साथ रखने की क्या आवश्यकता है? इधर परिग्रहत्याग महाव्रत धारण करना और उधर बिछौना चादर आदि परिग्रह रखना परस्पर विरोधी बात है।

साधु यदि पीछी (रजोहरण या ओधा) से जीवजंतु रहित भूमि को फिर भी शोध कर तथा उसी पीछी (ओधा) से अपना शरीर झाड़ कर पृथ्वी पर सोवें तो उनके संयम की क्या हानि है? यदि बिस्तर और चादर बिना नहीं सोया जाता है तो फिर पलंग रखने में भी क्या हानि है?

सोने से पृथ्वी कायिक जीव पिचला जाता है यह कहना ठीक नहीं क्योंकि पृथ्वी कायिक जीव चलने फिरने, उठने-बैठने वाले ऊपर के पृथ्वी पटल में नहीं होते हैं, नीचे के पटल में होता है। और यदि ऊपर की पृथ्वी में भी हो तो क्या बिछौना बिछाने से वह बच जायेगा क्योंकि साधु के शरीर का वजन (बोझ) तो फिर भी जमीन पर ही रहेगा। तथा चलते फिरते और उठते बैठते समय उस पृथ्वी कायिक जीव के न कुचलने का क्या प्रबंध सोचा है?

बिछौना चादर साथ रखने से जो दोष आते हैं उनको संक्षेप में लिखते हैं। बिछौना का अर्थ श्वेताम्बर भाई संधारा या संस्तारक समझें। चादर का अर्थ उत्तरपद।

१-बिछौना और चादर ध्यान संयम आदि का कारण नहीं, शरीर का सुखसाधन है। इससे ये दोनों वस्तु परिग्रहरूप हैं। इनको अपने साथ रखने से साधु के परिग्रहत्याग महाव्रत नष्ट होता है।

२-बिछौना-चादर गृहस्थ से लेने में साधु को याचना करनी पड़ती है।

३- बिछौना-चादर इच्छानुसार मिल जाने पर साधु को हर्ष तथा इच्छा के प्रतिकूल मिलने पर शोक होगा।

४- बिछौना चादर में जूं खटमल आदि जीव पैदा हो जाया करते हैं तथा मक्खी, मच्छर, कुंथु आदि जीव उनमें आकर रह जाते हैं जिससे कि उस बिछौने पर सोने से उन जीवों का घात होगा।

५- बिछौने, चादर की चोर आदि से रक्षा करने के लिए साधु को सदा सावधान रहना होगा। जैसे गृहस्थ को अपने परिग्रह की रक्षा के लिए सावधान रहना पड़ता है।

६- चोर, डाकू, भील आदि उस बिछौने, चादर को चुरा, लूट या छीन ले जायें तो साधु के चित्त में क्षोभ, व्याकुलता, दुःख उत्पन्न होगा।

७- उस बिछौने की रक्षा के निमित्त से साधु एकांत स्थान पर्वत, वन, श्मशान आदि में ध्यान आदि नहीं कर सकेगा।

८- बिछौना, चादर मुनिचारित्र का घात करने वाले हैं इसी कारण श्वेतांबरी उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु तथा तीर्थंकर इनको नहीं ग्रहण करते हैं।

९- बिछौना, चादर को उठाने, रखने, बिछाने, सुखाने, झाड़ने-पोंछने, फटकारने आदि में असंयम होता है।

१०-रात को सोते समय अंधेरे में बिछौने पर ठहरे हुए छोटे जीवों का शोधन भी नहीं हो सकता।

११- बिछौना चादर यदि फट जाये तो साधु को उसे सीने सिलाने की चिन्ता लगती है। यदि मैला हो जाय तो, उसमें किसी तरह खून, पीव, विष्टा, मूत्र आदि लग जाये तो साधु को उसे धोने की चिन्ता होगी। धोने धुलाने पर आरंभ का पाप लगेगा।

१२- बिछौना, चादर गर्मी के दिनों में ठंडा और शीत ऋतु में (सर्दी के दिनों में) गर्म मिले तो साधु को अच्छा लगे, सुख शांति मिले। यदि वैसा न मिले तो साधु के मन में अशांति दुःख होगा इत्यादि।

इस कारण महाव्रतधारी साधु को बिछौना चादर आदि भी वस्त्र पात्र तथा लाठी आदि के समान अपने पास न रखना चाहिये क्योंकि इन वस्तुओं के रखने से साधु का रूप परदेश में यात्रा करने वाले गृहस्थ के समान हो जाता है। क्योंकि गृहस्थ भी विदेश यात्रा के समय खाने पीने के बर्तन, पहनने ओढ़ने के कपड़े, बिछाने का बिछौना तथा लाठी आदि ही रखता है।

## क्या साधु उन के वस्त्र धारण करे?

श्वेताम्बरीय साधु परिग्रहत्याग महाव्रत धारण करके भी गृहस्थों सरीखे ही नहीं किन्तु ग्यारहवीं प्रतिमाधारी और व्रती गृहस्थ से भी बढ़कर वस्त्र अपने पास रख कर परिग्रह स्वीकार करते हैं। वह महाव्रती के लिए कितना अनुचित है? यह व्रतभंग तथा असंयम का कारण है? यह बात तो पीछे बतलाई जा चुकी है। अब हम इस बात पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं कि श्वेताम्बरीय मुनिजी वस्त्र अपने पास रखते हैं वे वस्त्र भी निर्दोष नहीं होते।

देखिये श्वेताम्बर साधु अपने पास कुछ तो सूती वस्त्र रखते हैं और कुछ ऊनी वस्त्र रखते हैं जैसे ओढ़ने का कंबल। बहुतों के पास बिछाने का कंधारा भी ऊनी होता है ओघा (पीछी) तो सभी के पास ऊन का बना हुआ होता है।

तदनुसार सूती कपड़ों में शरीर का पसीना, मैल आदि लग जाने से जूं इत्यादि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं यह तो एक बात रही किन्तु दूसरी बात एक यह भी है कि ऊनी कपड़े स्वभाव से ही जीव उत्पन्न होने के योनिस्थान होते हैं। ऊनी कपड़ों से पसीना आदि न भी लगे तथापि उनमें कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं और उस वस्त्र को काटते रहते हैं। ऊनी कपड़ों की दशा सब कोई समझता है कि यों ही रखे-रखे उनमें कीड़े उत्पन्न होकर उन कपड़ों को खा जाते हैं।

ऐसे जीव उत्पत्ति के योनिभूत कपड़ों को ओढ़ने बिछाने से साधुओं के द्वारा उन कीड़ों का घात अवश्य होगा जिससे उनका अहिंसा महाव्रत निर्दोष नहीं रह सकता,



न संयम पालन ही हो सकता है। इस कारण श्वेताम्बर साधुओं का ऊनी वस्त्र पहनना ओढ़ना, बिछाना साधुव्रत का घातक है।

मोरपंख की पीछी ऊनी पीछी से (ओघासे) जिस प्रकार अधिक कोमल होती है उसी प्रकार उसमें यह भी एक अच्छी विशेषता है कि उसमें किसी प्रकार के जीव भी उत्पन्न नहीं होते। इस कारण ऊनी कपड़े साधुओं को कदादि ग्रहण नहीं करने चाहिये और न ऊन की पीछी (ओघा) ही रखना चाहिये। ओघा मोर के पंखों का ही होना चाहिये।

## क्या साधु छाता भी रखें?

यद्यपि साधु को बरसात तथा धूप आदि से बचने के लिए छाता (छत्र-छतरी) रखने का विधान कहीं सुना नहीं गया है और न किसी महाव्रतधारी श्वेताम्बर स्थानकवासी साधु को अपने साथ छाता रखते कभी देखा ही है। किन्तु फिर भी आचारांग सूत्र के १५वें अध्याय के पहले उद्देश्य में यों लिखा है-

“से अणुपविसित्तागामं वा जाव रायहाणिं वा णेव सयं अदिन्नं गिणहेज्जा, णेव णणेण अदिणं गिणहावेज्जा, णेव णणेणं अदिणं गिणहतं समणुजाणेज्जा। जेहिवि सद्धिं संपव्वइए, तसिंपियाइं मिक्खू, छत्तयं वा मत्तयं वा दंडगं वा जाव चम्मच्छेदणं वा, तसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुणविय अपडिलेहिय अपमज्जिय णो गिणहेज्ज वा पगिणहेज्ज वा, तसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुणविय पडिलेहिय पमज्जिय गिणहेज्ज वा पगिणहेज्ज वा।” ८६९ पृष्ठ ३१७-३१८।

अर्थात्- मुनि गाँव या नगर में जाते समय अपने साथ न तो कोई दूसरी वस्तु लेवें, न किसी से लेने के लिए कहें तथा यदि कोई लेता हो तो उसको अच्छा न समझे। और तो क्या, किन्तु जिनके साथ दीक्षा ली हो उनमें से छाता, मात्रक (?) लाठी, और चर्मछेदनक, उनके पूछे बिना तथा शोधे बिना नहीं लें। पूछकर तथा शोधकर उनको ग्रहण करें।

‘छत्रक’ शब्द के लिए इसी ३१८वें पृष्ठ की टिप्पणी में यों लिखा है-

“वर्षाकल्प नामनु कपडु अथवा कोंकण विगेर देशोमां बहु बरसाद होवार्थी कदाच मुनिने ते कारणे छत्र पण राखवुं पडे (टीका)”

यानी-छत्रक माने वर्षाकल्प नामक कपड़ा अथवा कोंकण आदि देशों में बहुत बरसात होती है इस कारण उसके लिए कदाचित् छाता भी रखना पड़े।

इस विषयमें विशेष कुछ न लिखकर हम अपने श्वेतांबरी भाइयों के ऊपर छोड़ते हैं। वेही विचार करें कि क्या बरसात से बचने के लिए परिग्रहत्यागी साधु को छाता रखना भी योग्य है? यदि ऐसा हो तो जिस देश में बर्फ बहुत पड़ती हो वहाँ पर मुनियों को शिर पर पहनने के लिए टोप या पैरों में पहनने के लिए ऊन के मौजे (जुराबि-स्टार्किंग) भी रखने चाहिये।

## क्या साधु चर्म का उपयोग भी करे?

अब यहाँ ऐसे विषय पर उतरते हैं जिसके कारण साधु का अहिंसा धर्म कलंकित होता है। उसे विषय का नाम है चर्म यानी चमड़े का उपयोग।

यद्यपि व्रत धारण करने वाले प्रत्येक मनुष्य को किसी भी जीव का चमड़ा अपने उपयोग में नहीं लाना चाहिये क्योंकि प्रथम तो चमड़ा जीव हिंसा से प्राप्त होता है। दूसरे अपवित्र वस्तु है और तीसरे सम्मूर्च्छन जीव उत्पत्ति का योनिस्थान है। परंतु अहिंसा महाव्रतधारी साधु जो कि एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की हिंसा से भी अलग रहते हैं, अपने पद के अनुसार चमड़े का उपयोग किसी प्रकार नहीं कर सकते। क्योंकि ऐसा करने से उनके संयम तथा अहिंसा महाव्रत का नाश कराते हैं।

परंतु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे श्वेताम्बरीय ग्रंथ अपने श्वेताम्बरीय महाव्रतधारी साधुओं के लिए चमड़े का उपयोग भी बतलाते हैं। प्रवचनसारोद्धार के १६५वें पृष्ठ पर अजीवसंयम का वर्णन करते हुए यों लिखा है-

“इहा पिंडविशुद्धिनी महोटी वृत्तिमांहे ‘संयमे णत्ति’ एटले संयमंनु वखाण करते अजीवसंयम पुस्तक अप्रत्युत्प्रेक्ष्य दुःप्रत्युत्प्रेक्ष्य, दूष्य, तृण, चर्म पंच, मइन्त्य हिरण्यादिकनो अग्रहणरूप।”

इहा शिष्य पूछे छे एना अग्रहणे संयम?किवा ग्रहणे संयम याय?"  
गुरु उत्तर कहे छे के अपवादे तो ग्रहणे पण संयम थाय। यदुक्तं-

दुप्पडिलिहियदूसं अद्धाणाइ विवित्तगिण्हंति।

घिप्पइ पोच्छइ पणगं कालियनिज्जुत्ति कासट्ठा।१।

अर्थ-मार्गादि के विवित्तसागारि जेम गृहस्थ न देखें अने पुस्तक पाँच ते कालिकनिर्युक्तिनी रक्षा ने अर्थ छे।"

अर्थात्- पिंडविशुद्धिग्रंथ की वृत्ति में संयम का व्याख्यान करते हुए अजीवसंयम अप्रत्युत्प्रेक्ष दुःप्रत्युत्प्रेक्ष्य,दूष्य, तृण, चर्म की ऐसी पाँच प्रकार की पुस्तक तथा सोना आदि को अग्रहण रूप कहा है।

इस पर शिष्य पूछता है कि उपर्युक्त पाँच तरह की पुस्तकों के ग्रहण करने से संयम होता है अथवा ग्रहण न करने से संयम होता है?

गुरु उत्तर देते हैं कि अपवाद मार्ग में (किसी विशेष दशा में) तो चर्मादि पाँच तरह की पुस्तक ग्रहण करने से भी संयम होता है। जैसा कि अन्यत्र भी कहा है-

"मार्ग आदि ऐसे स्थान पर जहाँ कि कोई गृहस्थ मनुष्य न देखता हो तो कालिक निर्युक्तिनी रक्षा के लिए वे पाँच प्रकार की पुस्तकें बतलाई हैं।"

सारांश यह है कि यदि कोई गृहस्थ न देखने पावे तो साधु किसी विशेष समय चमड़े की भी पुस्तक अपने पास रख लें।

कैसा हास्यकारक विधान है। महाव्रतधारी साधु चमड़े की और कोई भी वस्तु नहीं किन्तु पुस्तक जिसमें कि जिनवाणी अंकितहोगी अपने पास रखे और वह भी गृहस्थ की आँखों से बचाकर रखे। यद्यपि अपवाद दशा में किन्हीं साधारण नियमों की कुछ सीमा तोड़ी जाती है किन्तु ऐसा कार्य नहीं किया जाता जिससे व्रतनाश हो। चमड़े की पुस्तक रखना अहिंसा महाव्रत का नाश करना है तथा साधु पद को मलिन करना है। मृगछाला आदि चमड़ा रखने के कारण अन्य अजैन साधुओं की निन्दा श्वेताम्बरीय आचार्य (ग्रंथकार) किस तरह कर सकते हैं? क्योंकि चमड़े का उपयोग उनके यहाँ भी विद्यमान है।

अथ एलगावि महिसी मिगाणमजिणंच पंचमं होइ।

तलिगाखल्लगबद्धे कोसगकित्तीयबायंतु ॥६८३ ॥

अर्थ- छालीनो चर्म, गाडरनो चर्म, गायनो चर्म, भैंसनो चर्म, हरिणनो चर्म ए पाँचना अजिन के चामडो थाय छे।"

यानी १ बकरी का चमड़ा, २ मेंडा का चमड़ा, ३. गाय का चमड़ा, ४. भैंस का चमड़ा, ५. हरिण का चमड़ा ये पाँच का चमड़ा होता है।

"अथवा बीजा आदेशे करी चर्मपंचक प्रयोजन सहित कहे छे। एना जे तलिया ते एक तलियोअने तेना अभावे बेहुतलाना पण लीजे। ते जे वारे रात्रे मार्ग न देखाय अथवा सथवारो मेली, जाय ते वारे उजाड़े जातां चारे श्वापदादिकना भयथी उतावला जतां कांटादिकथी पोतानो रक्षण करवाने अर्थे पगमां पहिरिये। अथवा कोई कोमल पगवालौहोय तो पण लीये बीजो खलग ते खासडा ते पगे व्याड थाय एटले वायुथी पग फाटी गया हो तो मार्ग जता तृणादिक दुर्लभ थाय वली अतिसुकुमाल पुरुष ने सीयाले दुर्लभ होय हो पहरेवाने अर्थे राखे। त्रीजा बधे के। बाधरी ते चामडो व त्रुटेला खाशडा प्रमुखने सांधवामणी काम आवे। चोथो कोसग ए चर्ममय उपकरण विशेष छे ते कोइकना नख अथवा पगने कांइ लागवाथी फाटी जाय तो ते केस आगलें अंगुठे बांधिये अथवा नखप्रमुख राखवाने अर्थे दाबवाने काम आवे। पाँचमो कितीयलत्ति ते कोइक मार्गमां दावानलनां भयथकी आडो करवाने अर्थे धारण छे अथवा पुथ्वी कायादिक सचित्तपणो थाय तेनी यतनाने अर्थे मार्गमां पाथरी ने बेसीयें अथवा मार्ग मां चोर लोकोये वस्त्र लेइ लीधा होय तो पहरेवामां पण काम आवे। एने कोइक कूति कहे छे ने कोइक नत्ति कहे छे। एवा वे नाम छे। ए यत्तिजनयोग्य पंचक कहाँ।"

यानी- अथवा पाँच तरह का चमड़ा साधु के लिए दूसरे प्रकार मतलब सहित बतलाते हैं। १-साधु अपने पैरों में पहनने के लिए एक तलीका चमड़े का जूता या वैसा न मिलने पर दो तली वाला (चमड़े की दो पट्टी से जिसका तला बना हो) जूता रखे। यह जूता रात के समय ऊजड़ में (शहरगाँव के बाहर मैदान में) चोर या जंगली जानवरों के भय से जल्दी जल्दी जाते हुए काटे आदि से बचने के लिए पैरों में पहने। अथवा कोई साधु कोमल पैरों वाला हो, नंगे पैर न चल फिर सकता हो तो उसके लिए भी यह काम आता है। २- खलग वायु आदि से पैर फट गये हों (बिवाई हो गई हो) जिससे कि चलते समय तिनके चुभते हों या बहुत सुकुमार मनुष्य सर्दी के दिनों में नंगे पैर न फिर सकता हो तो वह पैरों में पहनने के लिए अपने पास रखे। ३- बाधरी यह बाधरी नामक चमड़ा फटे हुए जूते आदि को जोड़ने के लिए काम में आता है।

४- कोसग यह चमड़े की एक चीज होती है जो कि किसी साधु के नाखून टूट जाने पर या पैर फट जाने पर अँगूठे, उँगली पर बांधने के लिए, नाखून आदि रखने के लिए दबाने के लिए काम आती है।

५- किसी रास्ते में जंगल में लगी हुई आग के भय से बचने के लिए जो चमड़ा ओढ़ जाय, या पृथ्वी कायिक आदि बहुत सचिन्त स्थान होय वहाँ यन्त्राचार के लिए उस चमड़े को बिछाकर साधु बैठे, या यदि चोर आदि ने साधु के कपड़े चुरा लिए हों, लूट लिए हों तो वह चमड़ा पहनने के भी काम आवे। इस प्रकार यह पाँच प्रकार का चमड़ा महाव्रतधारी साधुओं को योग्य बतलाया है।

इस प्रकार चमड़े का उपयोग करने के लिए साधु को जब खुली आज़ा है तो श्वेताम्बरी भाई अजैन साधुओं के पास मृगछाला आदि चमड़ा देखकर उस पर आक्षेप नहीं कर सकते। दूसरे वे अपने साधुओं को महाव्रतधारी किसी तरह नहीं कह सकते क्योंकि जीवों की योनिस्थान भूत (क्योंकि पानीसे भीगे हुए चमड़े में सम्मूर्च्छन जीव पैदा हो जाते हैं) चमड़े की उत्पत्ति भी हिंसा से होती है। इस कारण तो अहिंसा महाव्रत नष्ट हो जाता है।

प्रवचन सारोद्धार के पूर्वोक्त लेख से यह बातें भी सिद्ध हो गई कि एक तो कपड़ा रखना साधु के लिए परिग्रह है और चोरों से, उनकी रक्षा करने की चिन्ता साधु को प्रत्येक समय रहती है। दूसरे श्वेताम्बर साधुओं को ईर्यासमिति के पालने की विशेष परवा नहीं। रात को भी जल्दी जल्दी सपाटे से अंधेरे में घूम फिर सकते हैं। तीसरे कोमल शरीर वाला साधु जूता भी पहन सकता है। चौथे साधु बिछाने के लिए भी अपने पास चमड़ा रख सकता है। पाँचवें साधु चमड़ा शरीर के कपड़े के समान पहन सकता है। जबकि साधु ही चमड़े को पहनें, बिछावें तो फिर श्रावक ऐसा क्यों न करे?

सारांश- चमड़ा रखने से साधु को निम्नलिखित दोष लगते हैं-

१- चमड़ा रखने से साधु को हिंसा का दोष लगेगा क्योंकि चमड़ा त्रस जीव की हिंसा से ही पैदा होता है।

२- चमड़ा अपने पास रखने से साधु को परिग्रह का दोष भी लगता है क्योंकि चमड़ा संयम का उपकरण नहीं। उसका ग्रहण शरीर को सुख पहुँचाने के लिए उसमें ममत्व भाव से होता है।

३- चमड़े का जूता पहनने से साधु के ईर्या समिति नहीं बन सकती।

४- चमड़ा जीव उत्पन्न होने का स्थान है। उस पर बैठने, सोने आदि से उन सम्मूर्च्छन जीवों की हिंसा मुनि को लगेगी।

५- चमड़े के उठाने, रखने, सुखाने, मरोड़ने, तह करने, फाड़ने आदि में असंयम होता है।

६- मुनि को इच्छानुसार चमड़ा मिल जाने पर हर्ष और वैसा न मिलने पर शोक होगा।

७- साधु को अपने चमड़े या जूते के चोर आदि द्वारा चोरी हो जाने पर या लूट लिए जाने पर साधु का मन मलिन होगा।

८- हिंसा तथा अपवित्रता से बचने के लिए जबकि गृहस्थ मनुष्य भी पहनने, बिछाने के लिए चमड़ा अपने पास नहीं रखता है तो महाव्रतधारी साधु उसका उपयोग करे यह निन्दनीय एवं पापजनक बात है।

९- जबकि साधु ने समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया है। फिर वह चमड़े सरीखी गंदी चीज अपने पास कैसे रख सकता है।

इत्यादि अनेक दोष आते हैं। खेद है कि श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों ने ऐसा खोटा विधान करके साधु के पवित्र ऊँचे पद को तथा पवित्र जैन धर्म को बदनाम किया है।

## साधु आहारपान कितने बार करे?

अब हम इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हैं कि महाव्रतधारी साधु दिन में कितनी बार भोजन करे।

दिगम्बर संप्रदाय के चरणानुयोगी ग्रंथ दिन में मुनियों का एक बार आहार पान करने का आदेश देते हैं क्योंकि मुनियों के २८ मूल गुणों में 'दिन में एक बार शुद्ध आहार लेना' यह भी एक मूलगुण है। तदनुसार दिगम्बर जैन मुनि ही नहीं किंतु ११वीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक भी दिन में एक ही बार आहार किया करते हैं। श्वेताम्बरीय ग्रंथों में से प्रवचनसारोद्धार के २९९वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

कुक्कुडिअंडयमेत्ता कवला बत्तीस भोयणप्रमाणे ।

राएणा सायंतोसंगारं करइ स चरित्तं ॥७४२ ॥

अर्थात्- कुक्कुडी पक्षी (मुर्गी) के अंडे के बराबर प्रमाण वाले ३२ ग्रास (कौर) मुनि के भोजन का प्रमाण है। साधु यदि इससे अधिक भोजन ले तो दोष और यदि इससे कम भोजन करे तो गुण होता है।

प्रवचनसारोद्धार के इस कथन से भी दिगम्बर संप्रदाय के अनुसार ही विधान सिद्ध होता है, क्योंकि अधिक से अधिक ३२ ग्राम आहार ही दिगम्बरीय शास्त्रों में बतलाया है। यह कथन इस प्रकार ठीक दिखता हुआ भी इसके विरुद्ध कथन श्वेताम्बर व स्थानकवासी संप्रदाय के अति माननीय ग्रंथ कल्पसूत्र के (वि.सं. १९६२ में श्रावक भीमसिंह माणिक मुंबई द्वारा प्रकाशित गुजराती टीकावाला) ९वें व्याख्यान में ११२वें पृष्ठ पर लिखा है कि-

‘साधुओं ने हमेशा एक-एक बार आहार करवो कल्पे पण आचार्य आदिक तथा वैयावच्छ करनारने वे बार पण आहार लेवो कल्पे। अर्थात् एक बार भोजन कर्याथी जो ते वैयावच्छ आदिक न करी शके तो वे वार पण आहार करे। केम के तपस्या करतां पण वैयावच्छ उत्कृष्ट छे।’

अर्थात्- साधुओं को सदा एक बार आहार करना योग्य है किंतु आचार्य आदिक तथा दूसरे किसी रोगी साधु की वैयावृत्त्य (सेवा) करने वाले को दो बार भी दिन में आहार करना योग्य है। यानी एक बार भोजन करने से जो वह वैयावृत्त्य आदिक न कर सके तो वह दो बार आहार करे। क्योंकि तपस्या करने से भी बढ़कर वैयावृत्त्य है।

इस कथन में परस्पर विरोध है सो तो ठीक ही है किंतु अन्य साधुओं को उनके छोटे अपराधों को प्रायश्चित्त देने वाले आचार्य स्वयं दो बार भोजन करें और अन्य मुनियों को एक ही बार भोजन करने दें। यह कैसी आश्चर्य और हास्यजनक बात है।

किसी मुनि की सेवा करने वाला साधु इसलिए अपने एक बार भोजन करने के नियम को तोड़ कर दो बार दिन में आहार करे कि तप करने से वैयावृत्त्य उत्कृष्ट है। यह भी अच्छे कौतुक की बात है। इस तरह तो साधुओं को तपस्या छोड़कर केवल वैयावृत्त्य में लग जाना चाहिए, क्योंकि भोजन भी दो बार कर सकेंगे और फल भी तपस्या से अधिक मिलेगा।

उसके आगे यों लिखा है-

‘वली ज्याँ सुधी डाढी मुंछना वालो न आव्या होय अर्थात् बालक एवं साधु साध्वियों बे वार पण आहार करवो कल्पे। तेमा दोष नथी। माटे एवी रीते आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, ग्लान अने बालक साधु ने वे वार पण आहार करवो कल्पे।’

यानी- जब तक डाढी मूछों के बाल न आए हों अर्थात् बालक साधु-साध्वी को दो बार भी आहार करना योग्य है। उसमें दोष नहीं है। अतएव इस प्रकार आचार्य, उपाध्याय, रोगी साधु और बालक साधु-साध्वी को दो बार भी आहार करना योग्य है।

इस कथन में यह गड़बड़ घोटाला है कि साधु-साध्वी कब तक बालक समझे जाकर दो बार भोजन करते हैं। स्त्रियों को तो डाढी मूछ निकलती ही नहीं है। वे रजस्वला होती हैं। सो प्रायः १२ वर्ष की आयु में ही रजस्वला हो जाती हैं। अब मालूम नहीं कि आर्यिका (साध्वी) कब तक दो बार भोजन करती रहे।

पुरुषों में भी बहुत से ऐसे खूबसूरत पुरुष होते हैं जिनके डाढी-मूछ निकलती ही नहीं है। नेपाली, चीनी, जापानी पुरुषों के डाढी-मूछ बहुत अवस्था पीछे निकलती है। किसी मनुष्य के जलदी डाढी-मूछ निकल आती है। इससे यह निश्चय नहीं हो सकता कि अमुक समय तक साधु दो बार आहार और उसके पीछे एक बार आहार करे।

तथा- जब कि सभी ने महाव्रत धारण करके मुनिदीक्षा ली है, तब यह भेदभाव क्यों कि कोई मुनि तो अवस्था के कारण दो बार आहार करे और कोई एक बार भोजन करे।

एवं- मुनि संघ में सबसे अधिक बड़े और ज्ञानधारी होने के कारण ही क्या आचार्य, उपाध्याय दो बार आहार करें? क्या महाव्रतधारियों में भी महत्त्वशाली पुरुष को अनेक बार आहार करने सरीखी सदोष छूट है?

तदनंतर इसी कल्पसूत्र के ११२वें पृष्ठ में यह लिखा है-

‘वली एकांतरी आ उपवास करनार साधु प्रभातमां गोचरीए जइ, प्राशक आहार करीने, तथा छाश आदि पीने, पात्रां धोई साफ करीने जो तेतलाज भोजनथी चलावे तो ठीक, नहीं तर हजु जो क्षुधा होय, तो ते बीजी बार पण भिक्षा लावी आहार करी शके। बली छट्टनां उपवासी साधुने वे बखत तथा आठमवालाने त्रण वखत पण जवं कल्पे। अने चार-पाँच आदिक उपवासवालाने गमे तेटी वार दिवसमां गोचरीए जवुं कल्पे।’

अर्थात्- एकांतर उपवास (एक उपवास- एक पारणा) करने वाला साधु सबेरे (प्रातःकाल) गोचरी के लिए जाकर प्रासुक आहार करके, छाछ आदिक पीकर, पात्र धो-साफ कर, यदि उतने ही भोजन से काम चल जाए तो ठीक, नहीं तो यदि अभी भूख और हो तो दूसरी बार भी भिक्षा माँग कर वह साधु भोजन कर सकता है। तथा वेला (दो उपवास) करने वाला साधु दो बार और तेला (३ उपवास) करने वाला तीन बार भिक्षा के लिए जा सकता है और चार, पाँच आदि उपवास करने वाला साधु दिन में कितनी ही बार भिक्षा के लिए जा सकता है।

श्वेताम्बर, स्थानकवासी संप्रदाय की मुनिचर्या एक तो वस्त्र, पात्र, बिछौना आदि सामान रखने के कारण वैसे ही सरल थी किंतु कुछ और आहार पानी के विषय में कष्ट

## साधु क्या कभी मांस भक्षण भी करे?

होता सो यहाँ दूर कर दिया। अगर एकांतर उपवास करे तो दो बार भोजन कर ले। यदि वेला करे तो दो बार आहार पाले, तेला करने वाला तीन बार, चौला करने वाला चार बार। सारांश यह कि जितने उपवास करे उतने ही बार पारणा के दिन भोजन कर सकता है। इस हिसाब से यदि किसी ने ५ उपवास किए हों तो पारणा के दिन डेढ़-डेढ़ घंटे पीछे और जिसने १२ उपवास किए हों वह घंटे-घंटे भर पीछे दिन भर खाता पीता रहे। एक साथ तीस-तीस उपवास भी बहुत से साधु या श्रावक भाद्रपद में किया करते हैं तो वे कल्पसूत्रके पूर्वोक्त लिखे अनुर दिन में ३० बार यानी दो-दो घंटे में पाँच बार बराबर खाते-पीते चले जाएँ। सारांश यह कि उनका मुख चलना उस दिन बंद न रहे तो कुछ अयोग्य नहीं।

अतः यदि इस प्रकार देखा जाए तो एक प्रकार से मुनि तथा गृहस्थ के भोजन करने से विशेष कुछ अंतर नहीं रहा। गृहस्थ यदि प्रतिदिन दो बार भोजन करता है तो श्वेतांबरीय मुनि किसी दिन एक बार, किसी दिन दो बार, कभी तीन बार और कभी एक बार भी नहीं इत्यादि अनियत रूप से भोजन कर सकते हैं।

इस विषय में विशेष कुछ न लिखकर हम अपने श्वेताम्बर भाइयों के ऊपर इसको छोड़ते हैं। वे स्वयं इस पर शांति से विचार करे कि यह बात कहाँ तक उचित है?

इस विषय में निम्नलिखित दोष दिख पड़ते हैं-

१- महाव्रतधारी साधु दिन में कितनी बार भोजन करे यह नियम नहीं मालूम हो सकता। गड़बड़ घोटाले में बात रह गई।

२- दिन में दो-तीन आदि अनेक बार आहार करने से साधु गृहस्थ पुरुषों के समान ठहरे। अनशन, ऊनोदर तप उनके बिल्कुल न ठहरे।

३- अनेक बार आहार करने से किए हुए उपवासों का करना कुछ सफल नहीं मालूम पड़ा क्योंकि उपवास करने से भोजन लालसा घटने के बजाए अधिक हो गई।

४- आचार्य, उपाध्याय सरीखे उच्च पदस्थ मुनि स्वयं दो बार आहार करें और अन्य साधुओं को दो बार आहार करने में दोष बतलाएँ यह स्पष्ट अन्याय है क्योंकि अधिक निर्दोष तप करने वाला मुनि ही महान् हो सकता है और वह ही दूसरों को प्रायश्चित्त दे सकता है।

५- बालक साधु-साध्वी किस आयु तक समझे जाएँ, और वे कितनी आयु तक दो बार तथा कितनी आयु के बाद वे दिन में एक बार भोजन करना प्रारंभ करें इसका भी कुछ निर्णय नहीं हो सकता जिससे कि उनकी उचित-अनुचित चर्या का निर्धारण हो सके। इत्यादि।

अब हम यहाँ एक ऐसे विषय को सामने रखते हैं जिसके कारण जैनमुनि ही नहीं किंतु एक साधारण जैन गृहस्थ भी पापी या अभक्ष्य भक्षक कहा जा सकता है। वह विषय है 'क्या साधु मांस भक्षण कर सकते हैं?' इस विषय को प्रकाश में लाते यद्यपि संकोच होता है, क्योंकि मांस भक्षण एक जैनधर्मधारी साधारण गृहस्थ मनुष्य के लिए भी अयोग्य बात है। बिना मांस त्याग के जैनधर्म धारण नहीं किया जाता है। फिर यह तो एक जैनसाधु के विषय में मांसभक्षण के विचार करने की बात है। किंतु अनुचित बात का विधान देखकर रहा भी नहीं जाता है।

दिगम्बर जैन संप्रदाय के तो किसी भी ग्रंथ में मुनि को ही क्या किंतु साधारण गृहस्थ को भी मांस भक्षण का विधान नहीं है, क्योंकि उसे अभक्ष्य बतला कर प्रत्येक मनुष्य को त्याग करने के लिए उपदेश दिया है।

किंतु हमको खेद और हार्दिक दुःख होता है कि हमारे श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी भाइयों के मान्य, परममान्य ग्रंथों में वह बात नहीं है। उनमें मनुस्मृति आदि ग्रंथों के समान कहीं तो मांस भक्षण में बहुत से दूषण बतलाए हैं किंतु कहीं कहीं ग्रंथों में उसी मांस भक्षण का पोषण किया है और वह भी अविरती या व्रती श्रावक के लिए नहीं, किंतु महाव्रतधारी साधुओं के लिए किया है। यद्यपि इस अभक्ष्य विधान का आचरण किसी एक आध भ्रष्ट साधु ने भले ही किया होगा, अन्य किसी ने भी न तो इसको अच्छा समझा होगा और न ऐसा आचरण ही किया होगा। किंतु फिर भी आज्ञाप्रधानी स्वल्पज्ञानी कोई साधु इन ग्रंथों की आज्ञानुसार मांस भक्षण कर सकता है। इस कारण इस विषय का प्रकाश में आना आवश्यक है।

प्रथमहि कल्पसूत्र संस्कृत टीका पृष्ठ १७७ में यों लिखा है-

'यद्यपि मधुमद्यमांसवर्जनं यावज्जीवं अस्त्येव तथापि अत्यन्तापवाददशायं बाह्यपरिभोगाद्यर्थं कदाचिद् ग्रहणेपि चतुर्मास्यां सर्वथा निषेधः'

इसका गुजराती टीकावाले कल्पसूत्र (विक्रम सं. १९६२ में श्रावक भीमसिंह माणेक मुंबई द्वारा प्रकाशित- गुजराती भाषांतर कर्ता श्री विनय विजयजी) के ९वें

व्याख्यान के १११वें पृष्ठ पर २४-२५-२६वीं पंक्ति में लिखा है-

‘वली मद्य, मांस अने मांखण जो के साधुओं के जावोजीव वर्जनीय छे, तो पण अत्यंत अपवादनी दशामां, शरीरनां बहारनां उपयोग माटे कोइ पण बखते ते ग्रहण करवानों चौमासामां तो निषधज छे।’

यानी- मधु (शहद), मांस और मक्खन जो कि साधुओं को आजन्म त्याग करने योग्य है फिर भी अत्यंत अपवाद की दशा में शरीर के बाहरी उपयोग के लिए किसी समय ग्रहण करना हो तो चौमासे में तो उनका सर्वथा निषेध है।

यहाँ मांस के साथ-साथ मधु और मक्खन का उपयोग भी अपने शरीर के लिए किसी बहुत भारी विशेष अवस्था में बतलाया है किंतु समय चौमासे का नहीं होना चाहिए।

टीकाकार ने महाहिंसा के आक्षेप से बचने के अभिप्राय से शरीर के बाहरी उपयोग के लिए मांस सेवन बतलाया सो कुछ समझ में नहीं आया क्योंकि मांस कोई तेल नहीं जिसकी चमड़े पर मालिश हो और न वह मलहम का ही काम देता है।

आचारांगसूत्र (वि.सं. १९६२ में मोरवी काठियावाड़ से मूल सहित गुजराती भाषांतर के साथ भाष्यकार प्रोफेसर खजीभाई देवराज द्वारा प्रकाशित) १०वें अध्याय के चौथे उद्देश्य के ५६५वें सूत्र में १७५ पृष्ठ पर यों लिखा है-

‘संति तथेगतियस्स भिक्खुस्स पुरे संथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा, गाहावती वा, गाहावतीणो चा, गाहावतिपुत्रा वा, गाहावतिधूयाओ वा, गाहावतिसुण्हाओ वा, धाईओ वा, दासी वा, दासीओ वा, कम्मकरा वा, कम्मकरीओ वा, तहप्पगाराइंग कुलाइ पुरेसंथुयाणि वा पच्छसंथुयाणि वा पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुपवि-सिस्सामि, अविय इत्थ लभिस्सामि, पिडं वा, लोयं वा, खीरं वा, दधिं वा, नवणीय वा, धयं वा, गुलं वा, तेल्लं वा, महुं वा, भज्जं वा, मांस वा, संकुलि वा, फाणियं वा, पूर्यं वा, सिहरिणिं वा, तं पुव्वामेव भच्चा पेच्चा, पडिगाहं संलिहिय समपज्जिय, तत्तो पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहावतिकुलं पिडवाय पडियाए पडिसिस्सामि निक्खभिस्सामि वा। माइट्ठाण फासे। णो एवं करेज्जा। से तत्थ भिक्खूहिं सद्धिं कालेण, अणुपविसित्ता तत्थियरेहिं कुलेहि सामुदाणियं एसिय वेसिय पिंडवायं पडिगाहेत्ता आहारं आहोज्जा’

इसकी गुजराती टीका यों लिखी है-

‘कोइ गाममां मुनिना पुर्वपरिचित तथा पश्चात्परिचित सगाववाला रहेता होय; जेवाके गृहस्थो, गृहस्थ बानुओ, गृहस्थ पुत्रो, गृहस्थ पुत्रीओ, गृहस्थ पुत्रबधुओ, दाइओ, दास, दासीओ अने चाकरो के चाकरडीओ, तेवा गाममां जतां जो ने मुनि एवो विचार करे के हुं एकबार वधाथी पहेला मारा सगाओमां भिक्षार्थे जइश, अने त्याँ मने अन्न, पान, दूध दहिं, माखण, घी, गोल, तेल, मधु, मद्य, मांस, तिलपापडी, गोलवायुंवाणी, बुंदी के श्रीखंड मलशे ते हुं सर्वथी पहेलां खाइ पात्रों साफ करी पछी बीजा मुनिओ साथे गृहस्था घरे भिक्षा लेवा जइश, तो ते मुनि दोषपात्र थाय छे माटे मुनि एम नहिं करुं, किंतु बीजा मुनिओ साथे वखतसर जुदा जुदा कुलोमां भिक्षा निमित्ते जइ करी भागमां मतेलो निर्दूषण आहर लइ वापरवो।’

अर्थात्- किसी गाँव में किसी मुनि का अपने (पितापक्ष का) तथा अपनी ससुराल के (अपनी पत्नी के पक्षवाले) गृहस्थ पुरुष, गृहस्थ स्त्री, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधु, धाय, नौकर, नौकरानी, सेवक, सेविका रहते हों उस गाँव में जाते हुए वह मुनि ऐसा विचार करे कि मैं एक बार और सब साधुओं से पहले अपने सगे-संबंधियों से (रिश्तेदारों में) भिक्षा के लिए जाऊँगा, और मुझे वहाँ अन्न, पान, दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, तेल, मधु (शहद), मद्य (शराब), मांस, तिलपापड़ी, गुड़ का पानी (गन्ने का रस, शर्बल या सीरा), बुंदी या श्रीखंड मिलेगा उसे मैं सबसे पहले खाकर अपने पात्र साफ करके पीछे फिर दूसरे मुनियों के साथ गृहस्थ के घर भिक्षा लेना जाऊँगा, (यदि वह मुनि ऐसा करे) तो वह मुनि दोषी होता है। (क्योंकि एक तो अन्य मुनियों से छिपाकर भिक्षा के लिए पहले गया और दूसरे दो बार भिक्षा भोजन किया) इसलिए मुनियों को ऐसा नहीं करना चाहिए। किंतु और मुनियों के साथ समय पर अलग-अलग कुलों में भिक्षा के लिए जाकर मिला हुआ निर्दूषण आहार लेकर खाना चाहिए।

‘निर्दूषण’ विशेषण मूल सूत्र में नहीं है यह विशेषण गुजराती टीकाकार ने अपने पास से रखा है तथा टीकाकार ने सूत्र में कहीं मधु, मांस, मदिरा, मक्खन आदि अभक्ष्य, निंद्य पदार्थों के खाने का निषेध भी नहीं किया है। इसके सिवाय आचारांग सूत्र के इसी १७५वें पृष्ठ के सबसे नीचे मद्य मांस शब्द की टिप्पणी में यह लिखा है कि-

‘वखते कोई अतिप्रमादि गृद्ध होवाथी मद्यमांस पण खावा चाहे माटे ते लीधा छे एम टीकाकार लखे छे’

यानी- किसी समय कोई साधु अति प्रमादी और लोलुपी होकर मद्य (शराब) मांस भी खाना चाहे उसके लिए यह उल्लेख है ऐसा संस्कृत टीकाकार शीलाचार्य ने लिखा है।

सारांश यह है कि किसी मुनि का मन कभी बहुत शिथिल हो जाए और वह मद्य मांस का खाए बिना न रहना चाहे उस लोलुपी, प्रमादी मुनि के लिए सूत्रकारने ऐसा लिखा है। अर्थात्- अति प्रमादी और लोलुपी मुनि मद्य, मांस, मुनि अवस्था में रहता हुआ भी खा सकता है। यह मूल सूत्रकार और संस्कृत टीकाकार को मान्य है क्योंकि उन्होंने यहाँ ऐसा कोई स्पष्ट निषेध नहीं किया कि वह मद्य, मांस भक्षण कर मुनि न रह सकेगा। परंतु अहिंसा प्रधान जैनधर्म के गुरु मद्य- मांस खा जाए। कितने अंधेर, अन्याय की बात है?

इस आचारांग सूत्र के इसी १०वें अध्याय के ९वें उद्देश्य के ६१९वें सूत्र में २०१ पृष्ठ पर यह लिखा है-

‘से भिक्खूवा जाव समाणे सेज्जं पुव्वं जाणेज्जा मंसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पहाए तेल्लपूययं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाएणो खद्धं खद्धणो उवसंकमित्तु ओमासेज्जा। णन्नत्थ गिलाणणीसाए ॥६१८’

इसकी गुजराती टीका यह है-

‘मुनिए मांस के मत्स्य भुंजाता जोड़े अथवा परोणाना माटे पूरीओ तेलमां तलाती जोड़े तेना सारु गृहस्थ पासे उतावला दौड़ी ते चीजो मांगवी नहीं। अगर मांदगी भोगवनार मुनिना सारु खपती होय तो जुदा बात छे।’

अर्थात्- मुनि किसी मनुष्य को मांस या मछली खाता हुआ देखकर या (आगंतुक) मेहमान के लिए तेल में तलती हुई पूड़ियाँ देखकर उनको लेने के लिए जल्दी-जल्दी दौड़कर उन चीजों को माँग नहीं। यदि किसी रोगी मुनि के लिए उन चीजों की आवश्यकता हो तो दूसरी बात है।

यानी- मुनि मछली और मांस रोगी मुनि के लिए ले सकता है। इससे इतना तो सिद्ध अपने आप हो जाता है कि रोगी मुनि की चिकित्सा (इलाज) मांस के द्वारा हो सकता है। मांस- मछली से चिकित्सा का अर्थ यह ही है कि वह उस रोगी मुनि को खिलाया जाए क्योंकि मांस-मछली खाने के काम में आते हैं। यदि कोई लोलुपी साधु मांस-मछली खाना चाहे तो रोगी बनकर चिकित्सा के रूप में मांस-मछली से अपनी इच्छा तथा बीमारी मिटा सकता है।

तथा- साधु की वैयावृत्य करने के लिए वैयावृत्य करने वाला साधु मांस और मछली भी साधुओं के लिए है जो कि पाँच महाव्रतधारी-एकेंद्रिय तक के जीवों की रक्षा करने वाले होते हैं। इससे बढ़कर अनुचित अभक्ष्य भक्षण की बात और कौनसी होगी। यह सर्वज्ञ देव समझे। कुछ और देखना चाहते हैं तो भी देखिए।

साधु के चारित्र का ही प्ररूपण करने वाले इसी आचारांग सूत्र के १०वें अध्याय के १०वें उद्देश्य के २०६वें तथा २०७वें पृष्ठ पर ६२८ तथा ६३० का अवलोकन कीजिए-

‘से भिक्खू वासे ज्जं पुण जाणेज्जा, बहुअट्टियं मंसंवा, मच्छंवा, बहुकंटगं, अस्सि खलु पडिगाहिंतसि अप्पे सिया भोगणाजए, बहुउज्झियधम्मिए-तहप्पगारं बहुअट्टियं मंसं मच्छंवाबहु कंटगं लाभे सते जावणोपडिजाणेज्जा ॥६२१ ॥

अर्थात्- बहुत अस्थियों (हड्डियों) वाला मांस तथा बहुत कांटे वाली मछली को जिनके कि लेने में (हड्डियाँ, कांटे आदि) बहुत चीज छोड़नी पड़े और थोड़ी चीज (मांस) खाने के लिए बचे तो मुनि को वह नहीं लेना चाहिए।

यानी मुनि ऐसा मांस खाने के लिए नहीं लेवे जिसमें फेंकने योग्य हड्डियाँ बहुत हों और खाने योग्य मांस थोड़ा ही हो तथा ऐसी मछली भी नहीं ले जिसके शरीर पर फेंक देने योग्य कांटे तो बहुत हों और मांस थोड़ा हो। सारांश यह कि जिस मांस व मछली में खाने योग्य चीज बहुत हों उसको साधु खाने के लिए ले लें और जिसमें खाने के लिए चीज थोड़ी ही निकले उसको न लें।

आगे का सूत्र भी देखिए-

‘से भिक्खू मा जाव समाणे सिया णं परो बहुअट्टिएण मंसेण, मच्छेण वणिमंतेज्जा,’ आउसंतो समणा, अभिक्खसि बहुअट्टियं मंसं पडिगाहेत्तए? ‘एयणार णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा’, आउसोत्ति वा बहिणित्ति वाणो खलु में कप्पइ से बहुअट्टियं मंसं पडिगाहेत्तए। अभिक्खसि मे दाउं, जावइयं ताव-इयं पोण्णलं दलयादि, मा अट्टियाइं से सेवं वदंतस्स परो ओभहदु अंतो पडिग्गहंसि बहुअट्टियं मंसं परिभाएत्ता णिहट्टु दलएज्जा; तहप्पगारं पडिग्गहं परिहट्टयंसि वा परमायंसि वा अफासुयं अणेस्सणिज्जं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा। से आहच्च पडिगाहिए सिया, ते णो ‘ही’ ति वएज्जा। णो ‘अणहि’ ति बइज्जा। से त्त मायाए एंगंत-मवक्कमेज्जा, अहे आरामं सिवाअहे उवस्सयंसि वा अप्पंडाए जाव अप्पसंताणए मंसंगं मच्छं भोच्चा अट्टियाइं कंटए गहाय से त्त मायाए एंगंतभवक्क-मेज्जा। अहे ज्झामथडिलंसि वा जाव पमज्जिय परिट्टवेज्जा ॥६३० ॥

अर्थात्- कदाचित् मुनि को कोई मनुष्य निमंत्रण करके कहे कि हे आयुष्मन् मुने! तुम बहुत हड्डियों वाला मांस चाहते हो? तो मुनि यह वाक्य सुनकर उसको उत्तर दे कि 'हे आयुष्मन्! या हे बहिन! मुझे बहुत हड्डियों वाला मांस नहीं चाहिए यदि तुम वह मांस देना चाहते हो तो जो भीतर का खाने योग्य चीज है वह दे दो हड्डियाँ मत दो। ऐसा कहते हुए भी गृहस्थ यदि बहुत हड्डियों वाला मांस देने के लिए ले आए तो मुनि उसको उसके हाथ या बर्तन में ही रहने दे। लेवे नहीं।

यदि कदाचित् वह गृहस्थ बहुत हड्डियों वाले मांस को मुनि के पात्र में झट डाल दे तो मुनि गृहस्थ को कुछ न कहे किंतु ले जाकर एकांत स्थान में पहुँच जीवजंतुरहित बाग या उपाश्रय के भीतर बैठ कर उस मांस या मछली को खा लेवे और उस मांस, मछली के कांटे तथा हड्डियों को निर्जीव स्थान में रजोहरण से (पीछी या ओघा से) साफ करके रख आवे।

इससे बढ़कर मांस भक्षण का विधान और क्या चाहिए? अहिंसा-धर्म की हद हो गई। सूत्र के मांस, मत्स्य शब्द का खुलासा करने के लिए इसी २०६वें पृष्ठ के सबसे नीचे टिप्पणी में यों लिखा है-

'टीकाकार बाह्य परिभोगादि माटे अनिवार्य मूलपाठना शब्दों नों अर्थ मत्स्य मांस अपवाद मार्ग कर दे।'

यानी- संस्कृत टीकाकार शीलाचार्य 'बहुअट्टिण मंसेण मच्छेणा' सूत्रकार के इन शब्दों का अर्थ मत्स्य, मांस अनिवार्य कारण मिलने पर अपवाद मार्ग में करता है।

महाव्रतधारी साधु के लिए मांस भक्षण का ऐसा स्पष्ट विधान होने पर हमारे श्वेतांबरी भाई अपने आपको या अपने गुरुओं को अहिंसा धर्मधारी या मांस त्यागी किस प्रकार कह सकते हैं और किस तरह दूसरे मनुष्यों को मांस त्याग करने का उपदेश दे सकते हैं?

दशवैकालिक सूत्र में ऐसा लिखा है-

बहुअट्टियं पुगलं अणिमिसं वा बहुकं टयं।  
अच्छियं त्तिदुयं बिल्लं उच्छुखंडचसिंबति ॥  
अप्पे सियामो अणिजाए बहुउज्झियधम्मियं।  
दित्तिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारसं ॥

अर्थात्- बहुत हड्डियों वाला मांस, बहुत कांटे वाला मांस, तेंदुक, गन्ना (ईख), बेल, शाल्मलि ऐसे पदार्थ जिनमें खाने का अंश थोड़ा और छोड़ने का अधिक हो तो उन्हें 'मुझे नहीं चाहिए' ऐसा कहकर साधु न ले।

यह जानकर और भी अधिक दुःख होता है कि श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी संप्रदाय में आज तक सैकड़ों अच्छे विद्वान् साधु हुए हैं किंतु उनमें से किसी ने भी इन वाक्यों का न तो परिशोध किया न बहिष्कार ही किया और न ऐसे ग्रंथों को अप्रमाणिक ही बतलाया। पवित्र जैन ग्रंथसमुदाय से कलंक मिटाने के लिए यह भी नहीं लिखा कि शायद ऐसे सूत्र किसी मांसभक्षी ने मिला दिए हैं।

मुनि आत्मारामजी ने मांस विधान आदि को लेकर वेदों की निंदा तो बहुत की है और मांस भक्षण में अगणित दोष बतलाए हैं किंतु उन्होंने अपने इस मांस विधायक ग्रंथों की निंदा जरा भी नहीं की है। कहने को वे इन्हें अनेक बार देख गए होंगे।

संभव है ऐसे ही कारणों से सूत्र ग्रंथों को देखने-पढ़ने का गृहस्थों को श्वेतांबरीय आचार्यों ने अधिकार नहीं दिया हो।

यद्यपि हमारी समझ से श्वेतांबरीय तथा स्थानकवासी साधु आचारांग सूत्र के लिखे अनुसार मांस, मधु आदि अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण नहीं करते हैं। किंतु यदि कोई साधु मांस खा लेवे तो आचारांग सूत्र के लिखे अनुसार वह अपराधी नहीं होगा।

तथा एक कौतूहल की बात यह है कि बेचारा व्रती ही नहीं किंतु अव्रती भी गृहस्थ श्रावक तो मांस भक्षण न करे क्योंकि गुरुजी महाराज ने निषेध कर रखा है और महाव्रती गुरु महाराज आप खा जाएँ। क्या यहाँ यह कहावत चरितार्थ नहीं होती कि 'समर्थ को नहीं दोष गुसाईं'।

आश्चर्य इस बात का भी है कि प्रतिवर्ष कल्प सूत्र को आरंभ से अंत तक सुनने वाले श्रावकों ने भी ऐसे मांस भक्षण विधान को कभी नहीं पकड़ा। इसका कारण ऐसा भी सुना है कि श्रावकों को सूत्र ग्रंथ सुनने की आज्ञा है, शंका करने की उनको आज्ञा नहीं है क्योंकि साधु जी कह देते हैं शास्त्रों में जो शंका करे वह अनंत संसारी है।

कुछ भी हो श्वेतांबरीय ग्रंथों में इस प्रकार मांस विधान होने के कारण जैनधर्म पर नहीं तो श्वेताम्बर जैन संप्रदाय के मस्तक पर अवश्य ही कलंक का टीका लगता है। इसका संशोधन हो जाना आवश्यक है।



## क्या साधु मधु तथा मद्य सेवन करे?

अब यह विषय सामने आता है कि क्या जैन साधु मधु (शहद) और मद्य (शराब) खा-पी सकते हैं? इस विषय में दिगम्बरीय जैन शास्त्र तो स्पष्ट तौर से गृहस्थ या मुनि को मधु और मद्य के खान-पान का निषेध करते हैं। इन दोनों पदार्थों को मांस के समान अभक्ष्य बतलाया है। जघन्य श्रावक के आठ मूल गुणों में मद्य, मांस, मधु इन तीनों अभक्ष्य पदार्थों का त्याग बतलाया है। जो अभक्ष्य श्रावक के लिए त्याज्य है वह दिगम्बर जैन मुनि के लिए भी त्याज्य है। प्राण रक्षण के लिए भी वह इन अभक्ष्यों का भक्षण नहीं करेगा क्योंकि विनश्वर प्राणों से बढ़कर धर्म साधन बतलाया है।

किंतु यह बात श्वेतांबरीय जैन ग्रंथों में पाई जाती है। वहाँ पर इस विषय में भारी गड़बड़ है। घर तो गृहस्थ श्रावक के लिए २२ अभक्ष्य वस्तु बतला मद्य, मांस, मधु को उनमें से महाविषय कहते हुए सर्वथा त्याग देने का उपदेश लिखा है किंतु उधर महाव्रतधारी साधुओं के लिए उनकी छूट कर दी है।

हमने मधु और मद्य भक्षण के कुछ श्वेतांबरीय शास्त्रों के प्रमाण 'क्या साधु मांस भक्षण करते हैं।' नामक प्रकरण में दिखलाए हैं। जैसे कि आचारांग सूत्र के (इस ग्रंथ में सब पच्चीस अध्याय और १०२२वें सूत्र हैं, पृष्ठ ४०३ हैं) दशवें अध्याय के चौथे उद्देश्य वाले ५६५वें सूत्र में १७५ पृष्ठ पर मधु, मद्य, मांस का लेना साधु को लिखा है।

२- कल्प सूत्र के नवमें अध्याय के १११वें पृष्ठ पर मधु सेवन चौमासे के दिनों में निषेध किया है। इसका सरांश यह ही होता है कि अपवाद दशा में साधु चौमासे के सिवाय अन्य दिनों में मधु यानी शहद खा सकता है।

इसके सिवाय आचारांग सूत्र के दशवें अध्याय के ८वें उद्देश्य में १९५वें पृष्ठ पर यह लिखा है कि-

'से भिक्खू वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, आमडागं वा महं वा, मज्जं वा, सपिं वा, खोलं वा । पुराणं एत्थ पाणा अणुप्पसूता एत्थ पाणा संवुद्धा, एत्थ पाणा जाया, एत्थ पाणा अवुक्कं ता एत्थ पाणा अपरिणता, एत्थ पाणा अविद्वत्था णो पडिगाहेज्जा ॥६०७॥

इसकी गुजराती टीका इसी पृष्ठ पर यों लिखी है-

'मुनि गोचरीए जताँ अर्धी रंधाएल शाकभाजी न लेली तथा सद्धेलुं खोल न लेवुं तथा जूनुं मधु, जूनी मदिरा, जूनुं घृत, जूनी मदिरानी नीचे वेश तो कचरो ए पण न लेवां, एटले के जे चीज जूनी थतां तेमां जीवं जंतु उपजेला अने हजु हयातीमां वर्तनारा जणाय ते चीज न लेवी।'

यानी- मुनि गोचरी को जाते हुए आधी पकी शाक भाजी न ले; और पुराना मधु यानी शहद तथा पुरानी मदिरा यानी शराब, पुराना घी, पुरानी शराब के नीचे बैठा हुआ मसाला ये पदार्थ भी न लें, क्योंकि ये पदार्थ जब पुराने हो जाते हैं तब उनमें छोटे-छोटे जीव-जंतु उत्पन्न हो जाते हैं। और जो वस्तु इसी समय जीव-जंतु वाली मालूम हो जाए तो उसको भी न लें।

सारांश यह है कि पूर्ण पकी हुई शाक भाजी, बिना सड़ा खोल तथा नया मधु, नई शराब, नया घी ये पदार्थ सूत्रकार के लिखे अनुसार साधु ले लें, क्योंकि उसमें जीवजंतु नहीं होते हैं।

किसी पदार्थ के एक अंश का निषेध करना उसके दूसरे संभावित अंश का विधान ठहराता है। यह अर्थापत्ति न्याय है। जैसे 'साधु पुराना घी नहीं खाएँ' इस वाक्य का अर्थापत्ति से मतलब यही निकलता है 'साधु पुरानी मदिरा और पुराना मधु खाने के लिए न लें' इस वाक्य का भी अर्थापत्ति से यह ही अर्थ निकलता है कि 'साधु नई मदिरा और नया मधु खाने के लिए ले लें।' इसलिए आचारांग के इस ६०७वें सूत्र से पुराने घी के समान पुरानी मदिरा, मधु के लेने के निषेध से नए घी के समान नई मदिरा, नए मधु के लेने का विधान सिद्ध होता है।

सूत्र में घी के साथ-साथ मधु और मद्य का उल्लेख है इस कारण घी के समान ही मधु, मदिरा का विधान और निषेध होगा। तदनुसार पुराने घी, मधु, मद्य के निषेध से नए घी, मधु, मद्य का विधान सिद्ध हो जाता है। क्योंकि घी भक्ष्य है। पुराना हो जाने से उसमें जीव-जंतु उत्पन्न हो जाने से वह न लेने योग्य हो जाता है। ऐसा ही उन दोनों के लिए ग्रंथकार के लिखे अनुसार समझना चाहिए।

इस प्रकार साधु-आचार के प्ररूपण करने वाले श्वेतांबरीय ग्रंथों में दबे छुपे शब्दों में इस प्रकार अभक्ष्य भक्षण का विधान देखकर हृदय में बहुत दुःख होता है। यह जानकर आश्चर्य और भी अधिक बढ़ जाता है कि ग्रंथों के आधुनिक गुजराती टीकाकार महाशयों ने भी ऐसे सूत्रों पर, अभक्ष्य भक्षण विधानों पर कुछ ध्यान नहीं दिया है।

कहाँ तो साधु आत्मारामजी अपने जैन तत्त्वादर्श ग्रंथ में मदिरापान में ५१ दोष लिखकर उसका निषेध करते हैं और कहाँ ये प्राचीन ग्रंथ इस प्रकार खोटा विधान करते हैं। इन ग्रंथों में इस प्रकार टेढ़े-सीधे अभक्ष्य भक्षण का विधान रहने पर अन्य मनुष्यों को इनके त्याग करने का उपदेश कैसे दिया जा सकता है?

इस विषय पर भी अधिक कुछ न लिखकर अपने श्वेतांबरी भाइयों को धैर्यपूर्वक विचार करने के लिए इस प्रकरण को हम यहीं समाप्त करते हैं।



## हाईकू

सम्मुख जा के,  
दर्पण देखता तो  
(दर्पण में देखा पै) मैं नहीं दिखा ।

□□□

दीप अनेक,  
प्रकाश में प्रकाश,  
एक मेक सा ।

□□□

शिव पथ के,  
कथक वचन भी,  
शिरोधार्य हो ।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## आगम समीक्षा

### श्वेतांबरीय आगम मान्य क्यों नहीं?

धार्मिक मार्ग के उद्घाटन करने वाले महात्मा के बतलाए गए धार्मिक नियम जिन ग्रंथों में पाए जाते हैं वे ग्रंथ आगम कहे जाते हैं। जैन आगम वे ही कहे जाते हैं जो सर्वज्ञता, वीतरागता, हितोपदेशकता रूप तीन गुणों से विभूषित श्री अर्हत भगवान् के उपदेश के अनुसार ग्रंथ रचे गए हों, जिनमें पूर्वापर विरोध न हो, जो युक्तियों से खंडित न हो सकें, सत्य हितकर बातों का उपदेश जिनमें भरा हुआ हो। आगम का यह लक्षण श्वेतांबरीय ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं।

अब हम इस बात को विचार कोटि में उपस्थित करते हैं कि आगम के उपर्युक्त लक्षण पर श्वेतांबरीय ग्रंथ तुलते हैं या नहीं? इस विचार को चलाने के पहले इतना लिख देना और आवश्यक समझते हैं कि अधिकतर श्वेतांबरी सज्जनों की यह धारणा है जिसको कि अपने भोले-पन से गर्व के साथ वे कह भी देते हैं कि 'इस समय जो आचारांग, समवायांग, स्थानांग आदि आदि श्वेतांबरीय सूत्र ग्रंथ उपलब्ध हैं, ये वे ही ग्रंथ हैं जो कि भगवान् महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनि के अनुर श्री गौतम गणधर ने द्वादशांग रूप रचे थे। भगवान् की अर्द्धमागधी भाषा ही इन ग्रंथों की भाषा है।' इत्यादि।

श्वेतांबरी भाइयों की ऐसी समझ गलत है क्योंकि एक तो श्री गौतम गणधर ने शास्त्र न तो अपने हाथ से लिखे थे और न किसी से लिखवाए ही थे। उस समय जैन साधु द्वादशांग को कंठस्थ स्मरण रखते थे। बुद्धि प्रबल होने के कारण पढ़ने-पढ़ाने के लिए ग्रंथ लिखने-लिखाने का आश्रय नहीं लिया जाता था। गुरुजी मौखिक पढ़ाते थे और शिष्य अपने क्षयोपशम (बुद्धि) के अनुसार उसको मौखिक याद कर लेते थे। जब महावीर स्वामी के मुक्ति समय को लगभग पौने पाँच सौ वर्ष समाप्त हो गए उस समय मनुष्यों के शारीरिक बल के साथ-साथ मानसिक बल भी इतना निर्बल हो गया कि मौखिक पढ़कर अभ्यास कर लेना कठिन हो गया। पहले जो साधु द्वादशाङ्ग को धारण कर लेते थे, उस समय पूर्ण अङ्ग की बात तो अलग रही किंतु पूर्ण पद को धारण कर लेना भी मनुष्यों को असंभव सरीखा हो गया। इस कारण उस समय अङ्ग ज्ञान किसी भी साधु को स्मरण नहीं रहा। यह देखकर आचार्यों ने कलिकाल की विक्राल प्रगति को देखकर भगवान् महावीर स्वामी के प्रदान किए हुए, तथा उस समय बुद्धि अनुसार

थोड़े से बचे हुए तत्त्व ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए जेट सुदी पंचमी के दिन उस ज्ञान को लिखकर शास्त्रों के रूप में निर्माण करना प्रारंभ कर दिया। तदनुसार उस दिन से जैन ग्रंथों की रचना आरंभ हुई। उससे पहले न तो कोई जैन शास्त्र लिखा गया था और न लिखने की पद्धति थी तथा न लिखने की आवश्यकता थी। इस कारण आचारांग आदि ग्रंथों को गौतम गणधर निर्मित कहना गलत है।

दूसरे- ये श्वेतांबरीय ग्रंथ इस कारण भी गणधरप्रणीत द्वादशांग रूप नहीं कहे जा सकते क्योंकि ये बहुत छोटे हैं। कोई भी ग्रंथ ऐसा नहीं जो कि कम से कम एक पद के बराबर भी हो, क्योंकि सिद्धांत ग्रंथों में एक मध्यम पद के अक्षरों की संख्या सोलह अरब, चौतीस करोड़ तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८ अक्षर) बतलाई गई है। जिसके कि अनुष्टुप् छंद (श्लोक) इक्यावन करोड़ आठ लाख, चौरासी हजार, छह सौ इक्कीस (५१०८८४६११) होते हैं। यह सिद्धांत श्वेतांबरीय सिद्धांत ग्रंथों को भी स्वीकार है। तदनुसार यदि देखा जाए तो कोई भी श्वेतांबरीय ग्रंथ इतना विशाल उपलब्ध नहीं है, न किसी श्वेतांबरीय विद्वान ने ही कोई ऐसा विशाल ग्रंथ बनाया है जिसकी कि श्लोक संख्या इक्यावन करोड़ तो अलग रही, पाँच करोड़ या पाँच लाख भी हो। ये आचारांग, स्थानांग आदि शास्त्र ५१ हजार श्लोकों के बराबर भी नहीं हैं। फिर भला ये असली आचारांग, स्थानांग आदि कैसे हो सकते हैं?

श्वेतांबरीय सज्जन शायद यह भूल गए हैं कि उपर्युक्त ५१ करोड़ श्लोक प्रमाण वाले आचारांग में मध्यम पद अठारह हजार हैं। स्थानांग में बयालिस हजार मध्यम पद होते हैं और समवायाङ्ग में एक लाख चौसठ हजार पद होते हैं तथा उपासकाध्ययनांग में ग्यारह लाख सत्तर पद होते हैं। क्या कोई भी श्वेतांबरीय भाई अपने उपलब्ध आचारांग, स्थानांग, समवायांग, उपासकाध्ययनांग आदि ग्रंथों का प्रमाण इतना बतला सकता है? यदि नहीं तो इनको गणधरप्रणीत द्रव्य श्रुतज्ञान के मूल अंग रूप असली शास्त्र मानना तथा कहना कितनी मोटी हास्यजनक भूल है। क्या कोई मनुष्य 'महेंद्र' नाम से ही 'महेंद्र' (चतुर्थ स्वर्ग का इंद्र) हो सकता है?

तीसरे- इन ग्रंथों की भाषा को अर्द्ध मागधी भाषा कहना भी अयुक्त है क्योंकि भगवान् के शरीर से प्रगट होने वाली निरक्षरी (जिसको लिख न सके) दिव्य ध्वनि को मागध देव समवसरण में उपस्थित समस्त जीवों की भाषा में परिवर्तन कर देते हैं उसको अर्द्धमागधी भाषा कहते हैं। इस कारण सभी तीर्थंकरों की भाषा का नाम अर्द्धमागधी भाषा होता है। इन आचारांग सूत्र आदि ग्रंथों की भाषा पुरानी अशुद्ध, प्राकृत है।

अतएव इसको मनुष्य के सिवाय अन्य कोई भी जीव नहीं समझ सकता है। भगवान् की अर्द्धमागधी भाषा को तो भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार की भाषाओं को बोलने वाले सभी मनुष्य, सभी पशु-पक्षी समझते हैं। इन ग्रंथों की भाषा को तो बिना पढ़े, अभ्यास किए श्वेतांबरी लोग भी नहीं समझ सकते। फिर इन ग्रंथों की भाषा वास्तविक अर्द्धमागधी भाषा कैसे हो सकती है? उसका नाम यदि अर्द्धमागधी के स्थान पर दिव्य ध्वनि भी रख दिया जाए तो भी कुछ हानि नहीं।

यह तो हुआ हमारा युक्तिपूर्ण विचार; अब श्वेतांबरीय ग्रंथों का उल्लेख भी देखिए। हमारी धारणा के अनुसार अनेक विचारशील श्वेतांबरी विद्वानों की भी यह सुनिश्चित अटल धारणा है कि आचारांग आदि ग्रंथ श्री महावीर भगवान के निर्वाण हो जाने पर लगभग छह सौ वर्ष पीछे बनाए गए हैं। अतः न तो वे गणधरप्रणीत हैं और न वे वास्तविक आचारांग आदि ही हैं तथा उनकी भाषा भी प्राकृत भाषा है। इन विद्वानों में से एक तो स्वर्गीय मुनि आत्मारामजी हैं उन्होंने अपने तत्त्व निर्णय प्रासाद ग्रंथ के ज्वे पृष्ठ पर लिखा है कि-

‘जो सूत्रार्थ श्री स्कंदिलाचार्यने संधाल करके कंठाग्र प्रचलित करा था सो ही श्री देवार्द्धिगण श्रमा श्रमण जी ने एक कोटी पुस्तकों में आरूढ़ करा।’

इसी बात को मुनि आत्मारामजी प्रश्नोत्तर रूप में आगे इस प्रकार इसी पृष्ठ पर लिखते हैं-

‘पूर्व पक्ष- जब जैन मत के चौदह पूर्वधारी, दशपूर्वधारी विद्यमान थे तब से ही लेकर ग्रंथ लिखे जाते तो जैनमत का इतना ज्ञान काहे को नष्ट होता? क्या तिस समय में लोग लिखना नहीं जानते थे?’

उत्तर पक्ष- हे प्रियवर! पूर्वोक्त महात्माओं के समय में किसी की भी शक्ति नहीं थी जो संपूर्ण ज्ञान लिख सकता, और ऐसे-ऐसे चमत्कारी विद्या के ज्ञान थे जो गुरु योग शिष्यों के बिना कदापि किसी को नहीं दे सकते थे। वे पुस्तक कैसे लिख जाते? और बीजक मात्र किंचित् लिखे भी गए थे।’

मुनि आत्मारामजी के इस लेख से स्पष्ट है कि देवार्द्धिगण जी के समय (वीर सं. ६००) से श्वेतांबरीय ग्रंथ रचना प्रारंभ हुई थी। दिगम्बर श्वेताम्बर रूप में संघ भेद इसके बहुत पहले हो चुका था। श्वेताम्बर साधु मुनि आत्मारामजी यह खुले हृदय से स्वीकार करते हैं कि जिस समय साधुओं को अंगों तथा पूर्वों का ज्ञान हृदयस्थ था, उस समय ग्रंथ रचना नहीं हुई। अतएव वर्तमान में उपलब्ध आचारांग आदि ग्रंथ वास्तविक आचारांग आदि ग्रंथ नहीं हैं। उनके नाम से अपूर्ण, संक्षिप्त दूसरे नवीन छोटे ग्रंथ हैं।

अब हम अपनी पहली उद्दिष्ट बात पर आते हैं। इस समय यहाँ यह बात सामने उपस्थित है कि वर्तमान समय में उपलब्ध श्वेतांबरीय ग्रंथ सच्चे आगम कहे जा सकते हैं या नहीं?

कतिपय श्वेतांबरीय प्रख्यात ग्रंथों के अवलोकन करने से हमारी यह धारणा है तथा अन्य कोई भी निष्पक्ष विद्वान् यदि उन ग्रंथों का अवलोकन करेगा तो वह भी हमारी धारणा अनुसार यह विचार प्रगट करेगा कि कल्पसूत्र, आचारांगसूत्र आदि अनेक प्रख्यात श्वेतांबरीय ग्रंथों को आगम ग्रंथ मानना भारी भूल है। क्योंकि इन ग्रंथों में अनेक ऐसी बातें उल्लिखित हैं जो कि धार्मिक कोटि से तथा जैन सिद्धांत से बाहर की बातें हैं। देखिए-

१- आचारांग सूत्र ग्रंथ केवल महाव्रतधारी साधु के आचरण को प्रकाशित करने वाला श्वेतांबरीय शास्त्रों से परममान्य ऋषिप्रणीत ग्रंथ है। उसमें जो कोई भी बात मिलनी चाहिए वह उच्च कोटि की तथा पवित्र आचार वाली होनी चाहिए। किंतु इस ग्रंथ में ऐसा नहीं पाया जाता। इस ग्रंथ में महाव्रतधारी साधु के लिए मांस-भक्षण, मद्यपान, मधु-सेवन आदि पापजनक बातों की ढील दी गई है जो कि न केवल जैन समुदाय में किंतु सर्व साधारण जनता में भी निंद्य, घृणित कार्य माना जाता है।

देखिए १७५वें पृष्ठ पर ५६५वें सूत्र में लिखा है कि-

कोई साधु किसी गाँव में यह समझकर कि वहाँ पर मेरे पूर्व परिचित मनुष्य स्त्रियाँ हैं। वे मुझे मद्य-मांस, मधु आदि भोजन देंगे। उन्हें मैं अकेला खा-पीकर पात्र साफ करके फिर दूसरी बार अन्य साधुओं के साथ भोजन लेने चला जाऊँगा। ऐसा करना साधु के लिए दोष-जनक है इस कारण साधु को दूसरे साधुओं के साथ जाना चाहिए।

इस प्रकार इस सूत्र में मद्यमान, मांस-भक्षण का उल्लेख करके मांस-भक्षण का विरोध न करते केवल अकेले भोजन लाने का निषेध किया है।

सूत्र के संस्कृत टीकाकार शीलाचार्य इस सूत्र पर अपनी यह सम्मति लिखते हैं कि कभी कोई साधु प्रमादी और लोलुपी हो जाए, मद्य, मांस खाना चाहे, उसके लिए सूत्र में ऐसा लिखा है। परंतु इसका अभिप्राय पाठक महाशय स्वयं निकाल लें।

पृष्ठ १९५ पर ६०७वें सूत्र में लिखा है कि-

‘साधु पुराना शहद (मधु), पुरानी शराब आदि न लें क्योंकि पुरानी शराब आदि में जीव जंतु उत्पन्न हो जाते हैं।’

क्या इसका यह अभिप्राय नहीं कि नई शराब, शहद आदि साधु को कोई दे देवे तो उसे वह ग्रहण कर ले? जिस शहद और शराब में वह चाहे नई हो अथवा पुरानी, अनंत जीव पाए जाते हैं उस शराब, शहद का सेवन पुराने रूप से ही निषेध करना ग्रंथकार के किस अभिप्राय पर प्रकाश डालता है? इसका विचार पाठक स्वयं करें।

इसके आगे २०१ पृष्ठ पर ६१९वें सूत्र में लिखा गया है कि-

‘साधु किसी गृहस्थ को मांस खाता देखकर अथवा गर्म पूड़ियाँ तलते देखकर शीघ्रता से दौड़कर उस गृहस्थ से वे पदार्थ न माँगे। अगर किसी रोगी साधु के भोजन करने के लिए वे पदार्थ माँगे तो कुछ हानि नहीं।’

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रोगी मुनि के लिए अन्य साधु मांस भी ला सकता है। इसमें आचारांग सूत्र रचयिता को कुछ अनुचित नहीं मालूम होता है।

तदनंतर २०६-२०७वें पृष्ठ पर ६२९वें तथा ६३०वें सूत्र में बतलाया गया है कि-

‘साधु को यदि ऐसा मांस या मछली भोजन में किसी गृहस्थ के द्वारा मिले जिसमें खाने योग्य भाग थोड़ा हो और फेकने योग्य हड्डी, कांटे आदि चीजें बहुत हो तो उस मांस, मछली को न लें।’

यदि साधु को कोई गृहस्थ निमंत्रण देकर कहे कि आपको बहुत हड्डी, कांटे वाला मांस मछली चाहिए? तो साधु कहे कि नहीं; मुझे बहुत छोड़ने योग्य हड्डी, कांटे वाला मांस नहीं चाहिए। यदि तुम देना चाहते हो तो खाने योग्य केवल दे दो। हड्डी आदि न दो, ऐसा कहते हुए भी यदि वह गृहस्थ उस हड्डीवाले मांस, मछली को साधु के बर्तन में झट डाल देवे तो साधु उस गृहस्थ से कुछ न कहकर कहीं एकांत में जाकर वह मांस, मछली खा ले और वह हड्डी आदि छोड़ने योग्य चीजें किसी जीव-जंतु रहित स्थान में डाल दे।’

इन सूत्रों के विषय में टीकाकार का कहना है कि यह मांस, मछली साधु को लेने के लिए किसी अनिवार्य दशा में (लाचारी की हालत में) लिखा है।

इस प्रकार आचारांग सूत्र अपने इन सूत्रों से स्पष्ट तौर से मांस-भक्षण का विधान करता है।

ऐसे मांस-भक्षण विधायक ग्रंथ को आगम कहा जाए या आगमाभास? इस बात का निर्णय स्वयं श्वेतांबरी भाई अपने निष्पक्ष हृदय से कर लें। हमने ऊपर सूत्रों का

केवल अभिप्राय इस कारण दिया है कि पिछले प्रकरण में उनका मूल उल्लेख आ चुका है।

२- अब कल्पसूत्र का भी थोड़ा परिचय लीजिए। यह श्वेताम्बर समाज में परम आदरणीय ग्रंथ है। पर्युषण पर्व में यह सर्वत्र पढ़ा जाता है। स्वयं कल्पसूत्र में अपनी (कल्पना सूत्र की) महिमा ५वें पृष्ठ पर इस प्रकार लिखी है कि-

‘श्री कल्पसूत्र थी बीजुं कोई शास्त्र नथी। मुखमां सहस्र जिह्वा होय अने जो हृदयमां केवलज्ञान होय तो पण मनुष्योथी आ कल्पसूत्रनुं महात्म्य कही शकाय तेम थी।’

अर्थात्- कल्प सूत्र के सिवाय अन्य कोई शास्त्र नहीं है। मनुष्य के मुख में यदि हजार जीभें हों और हृदय में केवलज्ञान विद्यमान हो तथापि इस कल्पसूत्र की महिमा नहीं कही जा सकती है।

कल्पसूत्र के रचयिता ने जो इतनी भारी महिमा अपने कल्पसूत्र की लिखकर केवलज्ञानी भगवान का सम्मान किया है वह भी देखने योग्य है। सारांश यह है कि श्वेतांबरी भाई कल्पसूत्र को अन्य ग्रंथों से अधिक पूज्य समझते हैं। इस कल्पसूत्र में भी अनेक सिद्धांत-विरुद्ध, प्राकृतिक नियम-विरुद्ध, धर्म-विरुद्ध बातों का समावेश है।

प्रथम ही २४-२५वें पृष्ठ पर भगवान् महावीर स्वामी के गर्भहरण की बात लिखी है। यह बात प्रकृति विरुद्ध व असंभव है, कर्म सिद्धांत के प्रतिकूल है। संसार का कोई भी सिद्धांत न यह मान सकता है और न प्रमाणित कर सकता है कि ८२ दिन का गर्भ एक स्त्री के पेट में से निकालकर दूसरी स्त्री के उदर में रखा जा सके और फिर बालक का जीवन बना रहे।

दूसरे- जिन भगवान् महावीर स्वामी को श्वेतांबरी पूज्य समझते हैं उन महावीर भगवान् का इस कथन में अपमान कितना होता है, इस बात का विचार भी शायद श्वेतांबरी भाइयों ने नहीं किया है। पूज्य तीर्थंकर देव का पवित्र शरीर दो प्रकार के (ब्राह्मणी व क्षत्रियाणी के) रजों से बने- वास्तविक पिता ब्राह्मण हो और प्रसिद्धि क्षत्रिय पिता के नाम से हो। इत्यादि।

तीसरे- ब्राह्मण को नीच गोत्री लिखना, इंद्र द्वारा भगवान् महावीर स्वामी का नीचा गोत्र बदल देना, इत्यादि बातें भी ऐसी हैं जिनमें असत्य कल्पना के सिवाय जैन-सिद्धांत, कर्म-सिद्धांत रंचमात्र भी साथ नहीं देता।

आगे १०३वें पृष्ठ पर लिखा है कि ‘महावीर स्वामी के ११ गणधरों में से मंडिक तथा मौर्यपुत्र नामक दो गणधरों की माता एक थी किंतु पिता क्रम से धनदेव और मौर्य ये दो थे। गणधरों की माता ने एक पति के मर जाने पर अपना दूसरा पति बनाया था।’

यह बात भी बहुत भारी अनुचित लिखी है। गणधर सरीखे पूज्य पुरुषों को दो पिताओं तथा एक माता से उत्पन्न हुआ कहना इस सरीखा पाप तथा निंदा का कार्य और क्या हो सकता है। कल्पसूत्र के इस कथन के अनुसार स्त्रियों को अनेक पुरुषों को पति बनाकर संतान उत्पन्न करने में कुछ हीनता नहीं। वे इस निंद्य सदाचार विरुद्ध संयोग से भी गणधर हो सकने योग्य (उन्नत आत्मा) पुत्र उत्पन्न कर सकती हैं।

इसकी पीछे १११वें पृष्ठ पर लिखा है कि-

‘साधु शरीर के उपयोग के लिए मांस, मधु और मक्खन को अपवाद दशा में (किसी विशेष हालत में) ग्रहण कर सकता है।’

कल्पसूत्र सरीखे श्वेताम्बर समाज के परमपूज्य ग्रंथ की यह बात कितनी निंद्य और धर्म विरुद्ध है, इसको विशेष स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं। अहिंसा महाव्रतधारी साधु जब अपने शरीर के उपयोग के लिए मांस तक ले सकता है, फिर संसार का अन्य कौन सा निंद्य पदार्थ शेष रह गया?

इत्यादि दो-चार ही नहीं किंतु अनेक बातें इस कल्पसूत्र में ऐसी लिखी हुई हैं जिन पर कि अच्छा आक्षेप हो सकता है, किंतु हमने यहाँ पर केवल तीन बातों का ही दिग्दर्शन कराया है। पाठक स्वयं न्याय कर लें कि यह कल्पसूत्र ग्रंथ भी सच्चा आगम कहा जा सकता है अथवा नहीं?

३- प्रवचन सारोद्धार ग्रंथ भी जो कि अनेक भागों में प्रकाशित हुआ है, श्वेताम्बर समाज में एक अच्छा मान्य प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। इसकी प्रामाणिकता का भी परिचय लीजिए। इस ग्रंथ के तीसरे भाग में ५१७वें पृष्ठ पर लिखा है कि-

‘भक्ष्य (खाने योग्य) भोजन १८ प्रकार का होता है उनमें पाँचवाँ भोजन जलचर जीवों का (मछली आदि का) मांस, छठा भोजन थलचर जीवों का (हिरण आदि का) मांस, सातवाँ नभचर जीवों का (कबूतर आदि पक्षियों का) मांस है। पंद्रहवाँ भोजन पान यानी शराब आदि है।’

इसकी मूल गाथा ४२७वीं ४३१वीं इस प्रकार है।

‘जलथलखयहरमंसाइतित्रिजूसोउजीरयाइ जुओ।

मुग्गरसो भक्खाणिय खंडीखज्जयपमुक्खाणि’ ॥४२७॥

‘पाणं सुराइयं पाणियंजलं पाणगं पुणो इच्छ।

दक्खावणिय पमुहं सागो सोतक्क सिद्धंजं’ ॥४३१॥

इस प्रकार के भोजन में मांस, मदिरा का समावेश किया है, जबकि मांस, मदिरा सरीखे पदार्थ ग्रंथकार की दृष्टि में भक्ष्य भोजन हैं तो पता नहीं, अभक्ष्य भोजन कौनसे होंगे?

इसी प्रवचन सारोद्धार के तीसरे भाग के ४३वें द्वार में २६३वें पृष्ठपर ६८३वीं गाथा में साधु के लिए पाँच प्रकार चमड़ा बतलाया गया है। गाथा यह है-

‘अय एल गावि महिसीमिगाणमज्जिणं च पंचमं होइ।

तलिगाखल्लग वद्धे कोसग किच्चीअ वीयं तु ॥६८३॥’

इस गाथा के अनुसार महाव्रतधारी साधु विशेष अवसर पर जूते के लिए, दो प्रकार से घायल अंगूठे पर बाँधने के लिए, बिछाने तथा पहनने-ओढ़ने के लिए भी चमड़े का उपयोग कर सकता है ऐसा ग्रंथकार का अभिमत है।

जबकि चमड़े सरीखी अशुद्ध, असंयम-कारक, निषिद्ध वस्तु जनसाधारण में अपवित्र, हेय समझी जाती है (गृहस्थाश्रम की झंझट में लाचारी से भले ही उसका पूर्ण त्याग न किया जा सके) फिर ऐसे निंद्य हिंसाजनक पदार्थ का उपयोग, परिधारण अहिंसा, परिग्रह त्याग महाव्रतधारी साधु के लिए बतलाना कहाँ तक उचित, सिद्धांत अनुसार धर्म का साधक है इसका विचार स्वयं करें। हम तो केवल इतना लिखते हैं कि यह ग्रंथ भी सच्चा आगम ग्रंथ कदापि नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा ग्रंथ भी प्रामाणिक ग्रंथ हो सकता है तो हिंसा विधान करने वाले अजैन ग्रंथ भी अप्रामाणिक, झूठे आगम नहीं हो सकते।

४- इसी प्रकार भगवती सूत्र ग्रंथ भी श्वेताम्बर समाज का एक अच्छा प्रामाणिक आगम ग्रंथ माना जाता है। इसमें ऐसे-वैसे साधारण के विषय में नहीं किंतु भगवान् महावीर स्वामी के विषय में अर्हत दशा के समय रोग उपशम करने के लिए १२७० तथा १२७१-१२७३वें पृष्ठ पर कुक्कुट-कबूतर का मांस खाना लिखा है जिसके कि खाते ही भगवान् का रोग समूल नष्ट हो गया बताया गया है।

विचार-चतुर पाठक महाशय स्वयं निष्पक्ष हृदय से विचार करे कि यह ग्रंथ भी प्रामाणिक आगम ग्रंथ हो सकता है या नहीं?

पाठक महानुभावों के समक्ष श्वेतांबरीय चार प्रख्यात ग्रंथों का संक्षिप्त प्रदर्शन किया है। अन्य ग्रंथों के विषय में भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। उन ग्रंथों में भी अनेक विषय सिद्धांत विरुद्ध, प्रकृति विरुद्ध विद्यमान हैं। इस कारण कहना पड़ता है कि श्वेतांबरीय ग्रंथ आगम कोटि में सम्मिलित नहीं हो सकते हैं।



## हाईकू

पुण्य फूला है,  
पापों का पतझड़,  
फल अनन्त ।

□□□

शब्द पंगु हैं,  
जवाब न देना भी,  
लाजवाब है ।

□□□

पक्षी कभी भी,  
दूसरों के नीड़ों में,  
घुसते नहीं ।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

# श्वेताम्बरीय शास्त्रों का निर्माण दिगम्बरीय शास्त्रों के आधार से हुआ है

अब हम इस बात पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं कि श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों की रचना में दिगम्बरीय ग्रंथों का आधार लिया है। इस कारण हम उनको मौलिक तथा प्राचीन नहीं कह सकते। वैसे तो कोई भी ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रंथ उपलब्ध नहीं जो कि दिगम्बरीय ग्रंथ रचना के प्रारंभ काल से पहले का बना हुआ हो। किंतु फिर भी जो कुछ भी श्वेताम्बरीय ग्रंथ उपलब्ध हैं उनका निर्माण दिगम्बरीय ग्रंथों की छाया लेकर हुआ है। यह बात सिद्धांत, न्याय व्याकरण आदि समस्त विषयों के लिए है। जिन प्राचीन श्वेताम्बरीय विद्वानों को महाप्रतिभाशाली, सर्वज्ञतुल्य प्रख्यात पंडित माना जाता है, स्वयं उन्होंने अपने ग्रंथों के निर्माण में दिगम्बरीय ग्रंथों का आधार लिया है। इसी विषय को हम प्रकाश में लाते हैं।

श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी के मुक्त हो जाने के पीछे तीन केवलज्ञानी हुए उनके पीछे पाँच श्रुतकेवली हुए। फिर कलिकाल के प्रभाव से 'आत्माओं में ज्ञान शक्ति का विकास दिन पर दिन घटने लगा जिससे कि भगवान् महावीर स्वामी से प्राप्त द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान को धारण करने का क्षयोपशम किसी मुनिश्वर के आत्मा में न हो पाया। इस कारण कुछ दिनों तक कुछ ऋषि ग्यारह अंग दश पूर्व के धारक हुए। तदनंतर पूर्वों का ज्ञान भी किसी को न रहा, अतः केवल ग्यारह अंगों को धारण करने वाले ही पाँच साधु हुए। उनके पीछे केवल एक आचारांग के ज्ञाता ही चार मुनिवर हुए। शेष दश अंग चौदह पूर्व का पूर्ण ज्ञान किसी को न रहा।

तत्पश्चात् चार ऋषिश्वर ऐसे हुए जिनको पूर्ण एक अंग का ज्ञान भी उपस्थित न रहा। वे अंग और पूर्वों के कुछ भागों के ही ज्ञाता थे। उनमें अंतिम मुनि का नाम श्री १०८ धरसेनाचार्य था। इन्होंने विचार किया कि मेरा आयु समय थोड़ा अवशेष है, इस कारण जो कुछ मुझको गुरु प्रसाद से तत्त्व ज्ञान है, उसको किसी योग्य शिष्य को पढ़ा जाऊँ। क्योंकि आगे मुझ सरीखा ज्ञानधारी भी कोई न हो सकेगा। ऐसा विचार कर वेणाक तटपर एक मुनिसंघ विराजमान था उसमें से 'पुष्पदंत' और 'भूतबलि' नामक दो तीक्ष्ण बुद्धिशाली शिष्यों को बुलाया और उनको उन्होंने पढ़ाया। वे दोनों मुनि शीघ्र धरसेनाचार्य से पढ़कर विद्वान हो गए। तत्पश्चात् धरसेनाचार्य स्वर्गयात्रा कर गए।

यहाँ तक जैन साधु तथा गृहस्थ श्रावक मौखिक रूप से अपने गुरु से पढ़ते तथा स्मरण रखते रहे। निर्मल बुद्धि और स्मरणशक्ति प्रबल होने के कारण उनको पाठ पढ़ने-पढ़ाने तथा याद करने-कराने के लिए ग्रंथों के सहारे की आवश्यकता न होती। किंतु पूज्य श्री पुष्पदंत तथा भूतबलि आचार्य ने मनुष्यों के दिनोंदिन गिरते हुए क्षयोपशम, बुद्धिबल एवं स्मरण शक्ति की निर्बलता देखकर जैन सिद्धांत की रक्षा के लिए विचार किया कि अब तत्त्वज्ञान लोगों को बिना शास्त्रों के रचे, मौलिक पढ़ने-पढ़ाने से नहीं हो सकता। इस कारण अवशिष्ट तात्विक बोध को ग्रंथ रूप में रख देना अति आवश्यक है। ऐसा निर्णय कर श्री १०८ भूतबलि आचार्य ने सबसे प्रथम 'षट्खंडागम' नामक कर्म ग्रंथ लिखकर ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी के शुभ दिवस में बड़े समारोह उत्सव में उस ग्रंथ की पूजा करके शास्त्र निर्माण का प्रारंभ किया। इससे पहले कोई भी जैन शास्त्र नहीं बना था। तदनंतर फिर अन्य-अन्य ग्रंथों की रचना होती रही। श्री भूतबलि आचार्य का यह समय अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से विक्रम संवत् से पहले का निश्चित होता है।

तदनंतर कुछ समय पीछे विक्रम संवत् ४९ में श्री कुंदकुंदाचार्य हुए। उन्होंने समयसार, षट्पाहुड, रयणसार, नियमसार आदि अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों की रचना की तथा श्री भूतबलि आचार्य विरचित षट्खंड आगम ग्रंथ पर बड़ी टीका रची। इस प्रकार कर्म ग्रंथों की तथा आध्यात्मिक आदि विषयों के ग्रंथों की रचना दिगम्बरीय ऋषियों ने विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी तथा उससे भी पहले कर दी थी।

श्वेताम्बरीय ग्रंथों में से वैसे तो अधिकांश सूत्रग्रंथ श्री देवर्द्धिगण सूरिने छठी शताब्दी में बनाए थे। किंतु कर्मग्रंथों में से शिवशर्मसूरि विरचित 'कर्मप्रकृति' नामक ग्रंथ (४७६ गाथाओं में) पाँचवीं शताब्दी में बना था। उससे पहले कोई भी श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों ने कर्म ग्रंथ नहीं बनाया था। अतएव श्वेताम्बरीय कर्म ग्रंथ दिगम्बरीय कर्म ग्रंथों से बाद के हैं। 'तदनुसार कर्म ग्रंथों की रचना का आश्रय श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों ने दिगम्बरीय ग्रंथों पर से लिया होगा न कि दिगम्बरीय ग्रंथकारों ने श्वेताम्बरीय ग्रंथों पर से' यह एक साधारण बात है कि जिसको प्रत्येक पुरुष मान सकता है।

अनेक श्वेताम्बरीय सज्जन यह कह दिया करते हैं कि दिगम्बरीय ग्रंथ श्वेताम्बरीय ग्रंथों के आधार से बनाए गए हैं इस कारण दिगम्बरीय ग्रंथों का महत्त्व नहीं बनता। उन सज्जनों को अपने तथा दिगम्बरीय कर्म ग्रंथों पर दृष्टिपात करना चाहिए। आधार प्राचीन पदार्थ का ही लिया जाता है न कि पीछे बने हुए का। इस कारण जब दिगम्बरीय कर्मग्रंथ श्वेताम्बरीय कर्म ग्रंथों से पहले बन चुके थे तब आप लोगों के आक्षेप को रंचमात्र भी

स्थान नहीं रहता। हाँ, दिगम्बर संप्रदाय यह कहना चाहे कि श्वेताम्बरीय कर्म ग्रंथ दिगम्बरीय कर्म ग्रंथों के आधार से बनाए गए हैं तो वह कह सकता है क्योंकि उसको कहने का स्थान है। इतिहास बतला रहा है कि श्वेताम्बरीय ग्रंथ दिगम्बरीय ग्रंथों से ३००-४०० वर्ष पीछे बने हैं।

आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल आगरा से प्रकाशित 'पहला कर्मग्रंथ' नामक श्वेताम्बरीय पुस्तक के १९१वें पृष्ठ पर मानचित्र खींचकर श्वेताम्बरीय कर्मग्रंथों का विवरण दिया है। वहाँ पर 'कर्म प्रकृति' नामक ग्रंथ को पहला श्वेताम्बरीय कर्मग्रंथ लिखकर उसका रचना समय पाँचवीं विक्रम शताब्दी लिखी है। श्री भूतबलि आचार्य (दिगम्बर ऋषि) 'षट्खंड आगम' नामक दिगम्बरीय कर्म ग्रंथ के बनाने वाले हैं जो कि श्री कुंदकुंदाचार्य से भी पहले हुए हैं। श्री कुंदकुंदाचार्य विक्रम की प्रथम शताब्दी में (अनुमान ४९ में) हुए हैं यह अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध हैं। इस कारण सिद्ध हुआ कि दिगम्बरीय कर्म ग्रंथ श्वेताम्बरीय कर्म ग्रंथों से पहले बन चुके हैं।

अब हम न्यायविषयक ग्रंथों पर भी प्रकाश डालते हैं कि न्याय ग्रंथों के निर्माण में किस संप्रदाय ने किस संप्रदाय की नकल की है।

## जैन न्यायग्रंथों के आदि विधाता

श्री कुंदकुंदाचार्य के पीछे श्री उमास्वामी आचार्य प्रख्यात जैन साधु हुए। उनके पीछे विक्रम संवत् दूसरी शताब्दी के प्रथम भाग में स्वामी 'समंतभद्राचार्य' नामक असाधारण विद्वत्ता और वाग्मिता के स्वामी दिगम्बर जैन आचार्य हुए। ये बालब्रह्मचारी तथा एक क्षत्रिय नरेश के पुत्र थे। सरस्वती इनकी रचना पर नृत्य करती थी। इन्होंने कांची (कर्नाटक) से लेकर पूर्वीय भारत के ढाका (बंगाल) नगर तक दिग्विजय की थी। उस जमाने में जिस किसी भी नगर में दिग्गज विद्वानों का समुदाय होता था उसी नगर में जाकर समंतभद्राचार्य वादभेरी को बजा देते थे और वहाँ के विद्वानों से शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित कर देते थे और जैन धर्म का तथा उसके स्याद्वाद सिद्धांत का असाधारण प्रभाव जनता पर डालते थे।

कांचीपुर, मंदसौर (मालवा), बनारस, पटना, सिंधदेश, ढाका आदि नगरों में पहुँचकर समंतभद्राचार्य ने बड़े-बड़े शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी, यह बात अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्रमाणित कर रहे हैं।

काशी में अनुपम शिवभक्त राजा शिवकोटि ने अपने राजमद में आकर समंतभद्राचार्य से दुराग्रह किया था कि आप हमारे पूज्य शिवलिंग को नमस्कार कीजिए। समंतभद्राचार्य ने कहा कि राजन् मेरे नमस्कार को केवल अर्हत प्रतिमा सहन कर सकती है। तुम्हारा शिवलिंग मेरे नमस्कार को न सह सकेगा। किंतु राजहठ से वशीभूत शिवकोटि राजा ने न माना और शिवलिंग को नमस्कार करने का दुराग्रह किया। तब समंतभद्राचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र बनाकर चौबीस तीर्थकरों का स्तवन किया। उस समय सात तीर्थकरों का स्तोत्र पढ़ लेने पर जब उन्होंने आठवें तीर्थकर श्री चंद्रप्रभ का स्तोत्र प्रारंभ किया तब दूसरा श्लोक-

'यस्यांगलक्ष्मीपरिवेशभिन्नं, तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्।  
ननाश बाह्यं बहु मानसं च, ध्यान प्रदीपातिशयेन भिन्नम्॥

पदा, उस समय शिवलिङ्ग फट कर चूर-चूर हो गया और उसमें से चंद्रप्रभ तीर्थकर की मूर्ति प्रगट हो गई। इस दिव्य अतिशय को देखकर शिवकोटि राजा राज्य का त्याग कर समन्तभद्राचार्य का शिष्य दिगम्बर साधु हो गया। पश्चात् उसने 'भगवति आराधना' नामक प्राकृत ग्रंथ बनाया जो कि इस समय उपलब्ध भी है।

श्रवणबेलगोला (मद्रास) के ५४वें शिलालेख में अंतिम श्लोक इस प्रकार है-

'पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,  
पश्चान्मालवसिंधुदक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।  
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,  
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥'

यह श्लोक समंतभद्राचार्य ने 'करहाट' यानी कराड (सतार) नगर में वहाँ के राजा के सामने कहा था। इसका अर्थ ऐसा है कि-

पहले मैंने पटना नगर में वाद भेरी (शास्त्रार्थ करने की सूचना देने वाला नगर) बजाई फिर मालवा, सिंधु, ढाका, कांचीपुर, भैलसा इन प्रधान-प्रधान नगरों में भी बेरोकटोक वाद भेरी बजाई। अब विद्या के स्थान भूत, सुभटों से भरे हुए इस कराड नगर में आया हूँ। हे राजन् मैं शास्त्रार्थ करने का इच्छुक सिंह के समान निर्भय सर्वत्र घूमता फिरता हूँ।



काशी में शिवकोटि राजा के सन्मुख समन्त, भद्राचार्य ने जो श्लोक कहा था उसका अंतिम पद यह है -

‘राजन्! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रथवादी।’

अर्थात्- हे राजन्! जिसमें मेरे साथ शास्त्रार्थ करने की शक्ति हो वह मेरे सामने आ जाए मैं दिगम्बर जैनवादी हूँ।

श्रवणबेलगोल के १०५वें (२५४) शिलालेख के अंत में लिखा हुआ है कि-

समन्तभद्रस्य चिराय जीया-वादीभवज्रांकुशसूक्तिजातः।  
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं वंध्यास दुर्वादुकवार्ता यापि॥

अर्थात्- वह समन्तभद्राचार्य सदा जयशाली रहे क्योंकि वादी (शास्त्रार्थ करने वाले) रूपी हाथियों को निर्मद करने के लिए वज्र अंकुश के समान जिसका वचन है तथा जिसे प्रभाव से समस्त पृथ्वी मंडल दुर्वादियों से शून्य हो गया है। अर्थात् समन्तभद्र के प्रभाव से कोई भी वादी बोलने की शक्ति नहीं रख पाता है।

इत्यादि २-४ शिलालेखों में ही नहीं किंतु सैकड़ों भिन्न-भिन्न ग्रंथकारों ने समन्तभद्राचार्य को अपने ग्रंथों में आदर के साथ ‘वादिर्सिंह, सरस्वती विहार भूमि, कवि कुंजर, परवादिदन्तिपंचानन, महाकविब्रह्म, महाकवीश्वर, कविवादिवाग्मिचूडामणि’ इत्यादि विशेषणों के साथ स्मरण किया है।

अन्य बातों को दूर रख कर हम यदि श्वेतांबरी ग्रंथकारों की ओर दृष्टिपात करें तो उन्होंने भी स्वामी समन्तभद्राचार्य की प्रखर विद्वता को हृदय से स्वीकार किया है। देखिए श्वेताम्बर संप्रदाय के प्रधान आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने अपने अनेकांतजयपताका नामक ग्रंथ में ‘वादि मुख्य’ (शास्त्रार्थ करने वालों में प्रधान) विशेषण से समन्तभद्राचार्य का स्मरण किया है। अनेकांत जयपताका की स्वोपज्ञ टीका में लिखा है कि ‘आह च वादिमुख्यः समन्तभद्रः’ अर्थात्- वादिमुख्य समन्तभद्र भी यों कहते हैं।

ऐसी विश्वविख्यात विद्वत्ता के अधिकारी श्री समन्तभद्राचार्य ने ही सबसे प्रथम जैन न्याय ग्रंथों की रचना प्रारंभ की थी। यद्यपि समन्तभद्राचार्य सिद्धांत, साहित्य, व्याकरण आदि विषयों के भी असाधारण पंडित महाकवि ब्रह्मा कहलाते थे किंतु इसमें संदेह नहीं कि समस्त विषयों से अधिक उन्होंने न्याय विषय का पांडित्य प्रगट किया था। वे अपने भगवत्स्तोत्रों में भी असाधारण विद्वता के साथ न्याय विषय को भर गए हैं जिससे कि मनुष्य उनके बनाए हुए स्वयंभूस्तोत्र, युक्तयनुशासन आदि ग्रंथों को पढ़कर न्यायवेत्ता विद्वान् बन सकता है।

समन्तभद्राचार्य ने ‘प्रमाणपदार्थ, जीवसिद्धि’ आप्तमीमांसा, युक्तयनुशासन आदि अनेक न्याय ग्रंथों की रचना की है जिनमें प्रत्येक ग्रंथ अपने विषय का असाधारण ग्रंथ है। समन्तभद्राचार्य ने न्याय का सबसे प्रधान ग्रंथ तत्त्वार्थ सूत्र पर ‘गंधहस्तिमहाभाष्य’ नामक ग्रंथ चौरासी हजार ८४००० श्लोकों के परिमाण वाला लिखा है जो कि दुर्भाग्य से आज दिन अनुपलब्ध है।

सारांश यह है कि जैन न्याय ग्रंथ रचना की नींव समन्तभद्राचार्य ने ही डाली थी। इनके पहले कोई भी जैन न्याय ग्रंथ किसी श्वेताम्बर विद्वान् ने नहीं बनाया था। श्वेताम्बरीय न्याय ग्रंथ के आदि विधाता सिद्धसेन दिवाकर को बतलाया जाता है जिन्होंने कि न्यायावतार ग्रंथ बनाया है। किंतु ये सिद्धसेन समन्तभद्राचार्य के पीछे हुए हैं। क्योंकि इन्होंने समन्तभद्राचार्य विरचित रत्करंड श्रावकाचार का ९वाँ श्लोक ‘आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य’ इत्यादि श्लोक का उल्लेख न्यायावतार में मूल रूप से लिखा दिखाया है।

समन्तभद्राचार्य के पीछे श्री ‘अकलंकदेव’ हुए। ये एक राज्यमंत्री के बालब्रह्मचारी पुत्र थे। स्मरण शक्ति इनकी इतनी असाधारण थी कि एक बार पढ़ लेने से ही इनको पाठ याद हो जाता था। इसी कारण इनका नाम एकस्थ था। इनके लघु भ्राता निष्कलंक भी बहुत भारी विद्वान् थे, इन दोनों भ्राताओं का जीवन चरित बहुत रोचक है। निष्कलंक ने जैन धर्म के लिए प्राण दान किया था। श्री अकलंक देव के समय में बौद्ध धर्म इस भारत वर्ष में बहुत फैला हुआ था। इस बौद्ध धर्म के प्रभाव का अंत इन अकलंक देव ने किया था।

राजा हिमशीतल की राजसभा में इन्होंने बौद्ध गुरु के साथ शास्त्रार्थ किया था जिसमें थोड़ी सी देर में ही वह दिग्गज विद्वान् अकलंक देव से हार गया। फिर उसने दूसरे दिन अपनी इष्ट तारा देवी का आराधन करके उसको एक घड़े में स्थापित करके उसके द्वारा अपनी बोली में अकलंक देव के साथ शास्त्रार्थ कराया जो कि बराबर ६ महीने तक चलता रहा। अंत में देवलीला समझकर अकलंक देव ने उस तारादेवी को भी एक दिन में ही हरा दिया।

यह शास्त्रार्थ अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से सत्य प्रमाणित है। इन शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करके श्री अकलंक देव ने बौद्ध विद्वानों के साथ अनेक स्थानों पर अनेक शास्त्रार्थ किए और उनमें असाधारण विजय प्राप्त करके भारत भर में जैन धर्म का ऊंचा बजाया तथा बौद्ध धर्म का उग्र तेज बहुत फीका कर दिया।

श्रवण बेलगोल के शिलालेखों में श्री अकलंकदेव स्वामी के निम्नलिखित श्लोक पाए जाते हैं-

राजन् साहसतुङ्ग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः  
किन्तु त्वत्सद्वशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।  
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयोवागीश्वरा वाग्मिनो  
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्धिधाः।

अर्थात्- हे साहसतुङ्ग राजन्! यद्यपि सफेद छत्रधारक भूपति बहुत से हैं किन्तु तुझ सरीखा युद्ध में विजय प्राप्त करने वाला राजा कोई भी नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि इस समय अनेक विद्वान पाए जाते हैं किन्तु इस कलिकाल में मुझ सरीखा कवि, वागीश्वर, वाग्मी तथा अनेक प्रकार के शास्त्र विचारों में चातुर्य रखने वाला विद्वान् भी कोई नहीं है।

राजन् सर्वारिपर्दप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध-  
स्तद्वत्ख्यातोहमस्यं भुवि निखिलमदोत्पाटने पंडितानाम्।  
नो चेदपोहमेते तव सदसि सदा संति सन्तो महान् तो  
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदिस्यात्।

अर्थात्- भो राजन्! जिस प्रकार तुम समस्त शत्रुओं का मान भङ्ग करने में कुशल प्रसिद्ध हो उसी प्रकार मैं इस भूमंडल पर विद्वानों का विद्यामद दूर करने के लिए प्रसिद्ध हूँ। यदि इस बात को तुम असत्य समझते हो तो तुम्हारी सभा में बहुत से उद्भट विद्वान् विद्यमान हैं उनमेंसे यदि किसी में शक्ति है तो समस्त शास्त्रवेत्ता विद्वान् मेरे सामने शास्त्रार्थ करने आ जाएँ।

इन उपर्युक्त श्लोकों से श्री अकलंक देव का जो असाधारण प्रखर पांडित्य प्रगट होता है उसको जुदे बतलाने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि इन अकलंक देव की विद्वत्ता समस्त विषयों में विद्यमान थी किन्तु समय के अनुसार तर्क विषय उनमें से असाधारण था। इसी कारण अनेक शास्त्रार्थों में ये यशस्वी हुए एवं उन्होंने जो ग्रंथ बनाए हैं उनमें से अधिकांश ग्रंथ न्यायविषयक हैं।

राजवार्तिक, अकलंक प्रायश्चित्त के सिवाय अष्टशती, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रयी, वृहत्रयी, न्यायचूलिका आदि ग्रंथ न्याय विषय के श्री अकलंक देव ने लिखे हैं, जो श्री अकलंकदेव कैसे विद्वान् थे, उसकी साक्षी ये ग्रंथरत्न दे रहे हैं।

ये स्वामी अकलंकदेव विक्रम संवत् की आठवीं शताब्दी में हुए हैं ऐसा श्रीमान् सतीशचंद्र विद्याभूषण आदि विद्वानों ने निश्चय किया है।

अकलंक देव के पीछे श्री विद्यानंद स्वामी भी एक बड़े प्रभावशाली असाधारण तार्किक विद्वानों ने निश्चय किया है।

अकलंक देव के पीछे श्री विद्यानंद स्वामी भी एक बड़े प्रभावशाली असाधारण तार्किक विद्वान् हुए हैं। ये पहले वेदानुयायी थे किन्तु स्वामी समंत भद्राचार्य के बनाए हुए श्री देवागम स्तोत्र को मार्ग में चलते हुए सुनकर जैन धर्म की सत्यता जाँचकर दिगम्बर जैन साधु हो गए थे। पीछे उन्होंने जो अनेक ग्रंथ रचे हैं वे सभी न्याय विषय के ग्रंथ हैं। उन ग्रंथों के अवलोकन करने से विद्वान् उनकी अनुपम विद्वत्ता का पता चला सकते हैं।

इन्होंने अष्टसहस्री श्लोकवार्तिक, विद्यानंदमहोदय, आप्तपरीक्षप्रमाण निर्णय, युक्त्यनुशासनटीका, प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, प्रमाणमीमांसा आदि अनेक उच्च कोटि के ग्रंथ निर्माण किए हैं। इनका समय विक्रम सं. ८३२ से ८९५ तक निश्चित होता है। यहाँ तक भी कोई श्वेताम्बरीय ग्रंथ न्याय विषय का नहीं बन पाया था।

इनके पीछे श्री माणिक्यनंदि आचार्य हुए हैं। इन्होंने न्याय विषय की सूत्र रूप में रचना करके 'परीक्षा मुख' नामक ग्रंथ बनाया। ये अकलंक देव के पीछे हुए हैं, किन्तु कहीं-कहीं पर इनका समय विक्रम सं. ५६९ उल्लिखित है।

इस परीक्षामुख ग्रंथ की श्री प्रभा चंद्र आचार्य ने बहुत भारी टीका रचकर प्रमेय कमलमार्तंड नामक उच्च कोटि का न्याय ग्रंथ बनाया है। जिसकी बराबरी का न्याय ग्रंथ अन्य कोई नहीं पाया जाता। इन्हीं प्रभाचंद्र आचार्य ने प्रमेय कमलमार्तंड की समानता रखने वाला न्यायकुमुदचंद्रोदय ग्रंथ भी बनाया है तथा राजमार्तंड, प्रमाण दीपक, वादिकौशिकमार्तंड, अर्थ प्रकाश आदि अनेक न्याय विषय के ग्रंथ भी प्रभाचंद्राचार्य ने बनाए हैं जो कि उनकी न्याय विषय विद्वत्ता की साक्षी दे रहे हैं।

श्री प्रभाचंद्र आचार्य विक्रम संवत् १०६० से १११५ तक के समय में हुए हैं। इस समय तक भी कोई श्वेताम्बरीय न्याय ग्रंथ नहीं बन पाया था। इस कारण न्याय शास्त्रों के विषय में भी श्वेताम्बर संप्रदाय दिगम्बर संप्रदाय पर यह आक्षेप नहीं कर सकता कि दिगम्बरीय न्याय ग्रंथ श्वेताम्बरीय न्याय ग्रंथों के आधार पर बने हैं। किन्तु दिगम्बर संप्रदाय को इसके विपरीत कहने का अवसर है कि श्वेताम्बरीय न्यायग्रंथ दिगम्बरीय न्याय ग्रंथों से पीछे बने हैं। इस कारण हो सकता है श्वेताम्बरीय विद्वानों ने

न्याय ग्रंथों के निर्माण में दिगम्बरीय न्याय ग्रंथों का आधार लिया है। यह बात केवल संभावना रूप में ही नहीं है किंतु सत्य भी है। इस पर हम प्रकाश डालते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों में न्यायशास्त्र के प्रख्यात रचयिता श्री वादिदेवसूरि हुए हैं। ये वादिदेवसूरि विक्रम सं. ११७४ में सूरि पद पर आरूढ़ हुए थे। श्वेताम्बरीय ग्रंथों में उल्लेख है कि बड़े-बड़े ८४ शास्त्रार्थों में प्रबल विजय प्राप्त करने वाले दिग्विजयी श्री कुमुदचंद्राचार्य को वादिदेवसूरि ने शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। इसी कारण इन वादिदेवसूरि की विद्वता का श्वेताम्बरीय ग्रंथों में बहुत गुणगान किया गया है। श्री कुमुदचंद्राचार्य श्री वादिदेवसूरि के साथ शास्त्रार्थ में हारे या जीते थे इसका उत्तर हम पीछे देंगे किंतु उसके पहले हय दिग्विजयी श्री कुमुदचंद्राचार्य को जीतने वाले वादिदेवसूरि की विद्वता का परिचय कराते हैं।

वादिदेवसूरि ने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामक एक न्याय ग्रंथ सूत्र रूप में लिखा है। वादिदेवसूरि इतने भारी उद्भट नैयायिक विद्वान थे कि उन्होंने अपना यह ग्रंथ बनाने में दिगम्बरीय न्याय ग्रंथ परीक्षामुख की आद्योपांत नकल कर डाली है। केवल सूत्रों के शब्दों में उलटफेर की है अथवा कुछ अधिक सूत्र बनाए हैं। शेष कुछ भी विशेषता नहीं रखी है। हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि परीक्षामुख के सिवाय आपने प्रमेय- कमलमार्तंड को भी सामने रखा और कुछ विषय उसमें से लेकर भी सूत्र बना दिए हैं। इस प्रकार परीक्षा-मुख और प्रमेयकमलमार्तंड के आधार पर प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ग्रंथ की काया तैयार हुई है। इसका चित्र निम्नलिखित रूप से अवलोकन कीजिए।

प्रथम ही परीक्षा-मुख और प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के प्रथम परिच्छेद के सूत्रों को देखिए-

परीक्षा-मुख में पहला सूत्र है 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं' तब प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में दूसरा सूत्र 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्' है। यहाँ केवल परीक्षा-मुख की नकल करने में 'अपूर्व' विशेषण छोड़ दिया है।

परीक्षा मुख का दूसरा सूत्र है 'हिताहितप्राप्ति परिहारसमर्थ हितप्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्' इसके स्थान पर वादिदेवसूरि ने 'अभिमतानभिमत वस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणमतो ज्ञानमेवेदम्' यह सूत्र बना दिया है।

जब परीक्षामुख में तीसरा सूत्र 'तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्' है तब प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में छठा सूत्र 'तद्व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपन्थित्वात् प्रमाणत्वाद्वा' है।

परीक्षा मुख के सातवें, आठवें सूत्र 'अर्थन्येव तदनुमुखतया, घटमहमात्मना वेद्वि' के स्थान पर प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में एक १८वाँ सूत्र 'बाह्यस्येव तदामुख्येन करिकलभकमहमात्मना जानामीति' है। यहाँ पर केवल दृष्टांत और क्रिया बदली है।

परीक्षा मुख के ११वें, १२वें सूत्र 'को वा तत्प्रतिभासिनमर्थ मध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत, प्रदीपवत्' हैं और प्रमाणनयतत्त्वालंकार में एक १७वाँ सूत्र उसकी नकल का 'कःखलु ज्ञानस्यावलंबन बाह्यं प्रतिभातमभिमन्यमानस्तदपि तत्प्रकारं नाभिमन्येत मिहिरालोकवत्' है।

परीक्षामुख का अंतिम सूत्र 'तत्प्रमाणण्यं स्वतः परतश्च' है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में अंतिम सूत्र 'तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतेश्चचेति' है। इस सूत्र के निर्माण में वादि देव सूरि ने प्रमेयकमलमार्तंड का विषय भी उधार ले लिया है।

इस प्रकार प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारका प्रथम परिच्छेद परीक्षा मुख के प्रथम परिच्छेद से बिल्कुल मिलता-जुलता है, केवल शब्दों का थोड़ा सा अंतर है। शेष विषय वर्णन-शैली और सूत्र रचना परीक्षा मुख के ही समान है।

अब दोनों ग्रंथों के द्वितीय परिच्छेद पर दृष्टिपात कीजिए। वहाँ भी ऐसी ही बात है। परीक्षा-मुख ने जब अपने दूसरे परिच्छेद में प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप बतलाया है तब प्रमाण नयतत्त्वालंकार ने भी ऐसा ही किया है। देखिए-

परीक्षा मुख के प्रारंभिक दो सूत्र 'तद्वेधा, प्रत्यक्षेतस्भेदात्' हैं तब प्रमाणनयतत्त्वालंकार का पहला सूत्र 'तद्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च' है। इनमें कुछ भी अंतर नहीं।

परीक्षा मुख तीसरा सूत्र 'विशदं प्रत्यक्षम्' विद्यमान हैं। प्रमाणनयतत्त्वालंकार में उसकी समानता पर 'स्पष्टं प्रत्यक्षम्' सूत्र कर दिया है। अर्थ दोनों का ठीक एक ही है।

परीक्षामुख तीसरा सूत्र 'विशदं प्रत्यक्षम्' विद्यमान हैं। प्रमाणनयतत्त्वालंकारमें उसकी समानता पर 'स्पष्टं प्रत्यक्षम्' सूत्र कर दिया है। अर्थ दोनों का ठीक एक ही है।

परीक्षा मुख का चौथा सूत्र 'प्रतीत्यन्तराव्यवधानने विशेषवत्तया वा वैशद्यम्' है। वादिदेवसूरि ने इसके स्थान पर 'अनुमानाद्याधिक्येन विशेष प्रकाशन स्पष्टतम्' सूत्र बना दिया है।

परीक्षामुख कारने पाँचवाँ सूत्र 'इन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तं देशतः सांख्यवहारिकम्' लिखा है, तब वादिदेवसूरि ने भी 'तत्राद्यं द्विविधमिन्द्रियनिबन्धनमानिन्द्रियनिबन्धनं चं यह पाँचवाँ सूत्र बनाया है।

परीक्षामुख के इस द्वितीय परिच्छेद के अंतिम सूत्र 'सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबंधसंभवात्' की टीका रूप में प्रमेयकमलमार्तंड ग्रंथ में श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने केवलिकवलाहार का तथा स्त्री मुक्ति का युक्ति पूर्वक निराकरण किया है। वादिदेवसूरि ने उस निराकरण को धो डालने के इरादे से अपने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के द्वितीय परिच्छेद का अंतिम सूत्र बनाया है- 'नच कवलाहारवत्त्वेन तस्यासर्वज्ञत्वं कवलाहारसर्वज्ञत्वयोरविरोधात्' यहाँ पर त्रुटि फिर भी यह रह गई कि स्त्री मुक्ति के मंडन में वादिदेवसूरि ने कुछ नहीं लिखा। अथवा लिख न सके।

इस प्रकार दोनों ग्रंथों के द्वितीय परिच्छेद को अवलोकन करने से भी यह निश्चित होता है कि प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार का ढाँचा परीक्षामुख के विषय तथा अर्थ एवं शैली को लेकर ही तैयार किया गया है।

अब दोनों ग्रंथों के तीसरे परिच्छेद को भी देखिए। इस परिच्छेद में परोक्ष प्रमाण का स्वरूप बतलाया गया है।

परीक्षामुख का पाँचवाँ सूत्र 'दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं'। तदेवेदं तत्सदृश तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि' है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार का तीसरा सूत्र इसी की समानता पर 'अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यग्धूर्त्वा सामान्य दिगोचरं सङ्गनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं' बनाया गया है।

तर्क प्रमाण का लक्षण परीक्षामुख के ११वें सूत्र में 'उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः' यों किया है। उसी तर्क प्रमाण का लक्षण प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारके ५वें सूत्र में 'उपलम्भानुलम्भसम्भवं त्रिकालीकलिताध्यसाधन संबंधाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमुहापरनामा तर्कः' ऐसा किया है। इन दोनों सूत्रों के अर्थ, तात्पर्य, लक्षण में कुछ भी अंतर नहीं है। शब्द भी समान हैं।

साध्य का लक्षण परीक्षामुख ने २०वें सूत्र में 'इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्' किया है। यही लक्षण वादिदेवसूरि ने १२वें सूत्र में 'अपतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्' इस तरह लिखा दिया है केवल इष्ट, अबाधित और असिद्ध इन तीनों शब्दों के पर्यायवाचक अभीप्सित, अनिराकृत, अपतीत ये दूसरे शब्द रख दिए हैं। लक्षण और तात्पर्य एक ही है।

परीक्षामुख में ३६वाँ सूत्र 'को वा त्रिधा हेतु मुक्तत समर्थयमानो न पक्षयति' है। इसके स्थान पर प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विद्धानः कः खलु न पक्ष प्रयोगमङ्गीकुरुते' यह २३वाँ सूत्र लिखा है। तात्पर्य और शब्द रचना में रंचमात्र भी अंतर नहीं है।

उपनय का लक्षण परीक्षामुख ५०वें सूत्र में 'हेतोरूपसंहार उपनयः' किया है तब वादिदेवसूरि ने ४६वें सूत्र में 'हेतोःसाध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः' यों किया है। विज्ञ पाठक दोनों सूत्रों के शब्द देखकर स्वयं समझ सकते हैं कि इन दोनों सूत्रों में जरा भी अंतर नहीं है।

हेतु के भेद करते हुए परीक्षामुख में ५७वाँ सूत्र 'स हेतुर्द्वेषोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्' है। इस सूत्र के स्थान पर वादिदेवसूरि ने ५१वाँ सूत्र 'उक्तलक्षणो हेतुर्द्विपकार उपलब्धनुपलब्धिभ्यां भिद्यमानत्वात्' ऐसा लिखा है। इन दोनों सूत्रों में कुछ भी अंतर नहीं है।

इसके आगे का सूत्र परीक्षामुख में 'उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधोरनुपलब्धिश्च' यों लिखा है उसी प्रकार प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में 'उपलब्धिर्विधिनिषेधयोः सिद्धि निबंधनमनुपलब्धिश्च' ऐसा सूत्र लिखा है। विद्वान् पुरुष विचार करें। हेतुओं के भेद कथन, शाब्दिक रचना तथा तात्पर्य रूप से इन दोनों सूत्रों में कुछ भी अंतर नहीं है।

सत्तात्मक साध्य के समय अविरुद्ध, उपलब्ध्यात्मक हेतु के छह भेद करते हुए परीक्षामुख में ५९वाँ सूत्र 'अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्तकार्यकारण-पूर्वोत्तरसहचरभेदात्' लिखा गया है। इस एक सूत्र की नकल करते हुए वादिदेवसूरिने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में ६४ व ६५ वे 'तत्रा-विरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढा, साध्येनाविरुद्धानां व्याप्तकार्यकारणपूर्वचरोत्त- रचरसह चराणामुपलब्धिरिति' ये दो सूत्र लिखे हैं। शब्दों में थोड़ा सा फेरफार किया है। शेष सब परीक्षामुख का वाक्य, विन्यास कर दिया है। हेतु के भेद जैसे जिनने तथा जिस नाम के श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने परीक्षामुख में किए हैं ठीक उसी प्रकार वादिदेवसूरिने भी लिख दिए हैं।

इस सूत्र के आगे के सूत्रों में प्रत्येक प्रकार के हेतु भेद के दृष्टांत जैसे परीक्षामुख में लिखे हैं उसी प्रकार के दृष्टांत श्वेताम्बरीय ग्रंथ प्रमाणनयतत्त्वालंकार में उल्लिखित है।

अभावात्मक साध्य के अवसर परसाध्य के अविरुद्ध अनुपलब्धि रूप हेतु के साथ भेद बतलाने वाले ७८वाँ सूत्र परीक्षामुख में 'अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा

स्वभाव व्यापक कार्य कारण पूर्वोत्तर सहचरानुपलम्भभेदात्' लिखा है। तब वादिदेवसूरि ने इस सूत्र स्थान पर प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में ९० तथा ९१वाँ सूत्र 'तत्राविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधावबोधे सप्तप्रकार, प्रतिषेध्येनाविरुद्धानां' लिख दिया है। परीक्षामुख के उपर्युक्त सूत्र से इन सूत्रों में किसी भी बात का अंतर नहीं है। यदि प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ग्रंथ को वादिदेवसूरि ने परीक्षामुख का बिना आश्रय लिए स्वतंत्रता से बनाया होता तो परीक्षामुख के सूत्र के साथ इतनी भारी समानता न होती।

इन सात प्रकार के हेतुओं के दृष्टांत जिस प्रकार परीक्षामुख में दिए हैं ठीक उसी प्रकार प्रमाणनयतत्त्वालंकार में भी दिए गए हैं।

आगम प्रमाण का स्वरूप परीक्षामुख के तीसरे परिच्छेद के अंत में ही कर दिया है। वादिदेवसूरि चने आगम प्रमाण के लिए एक परिच्छेद अलग बना दिया है। परंतु परीक्षामुख में आगम प्रमाण का लक्षण बतलाते हुए ९९वाँ सूत्र 'आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागमः' लिखा है। इसी प्रकार इस सूत्र के स्थान पर प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के चौथे परिच्छेद का पहला सूत्र 'आप्त वचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः' लिखा है। दोनों सूत्रों के शब्द समान हैं और तात्पर्य में भी कुछ अंतर नहीं है।

इस प्रकार उक्त दोनों ग्रंथों के तीसरे परिच्छेद का अवलोकन करने से सिद्ध होता है कि प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार की शारीरिक रचना परीक्षामुख का फोटो लेकर हुई है।

इसके आगे परीक्षामुख के चौथे परिच्छेद और प्रमाणनयतत्त्वालंकार के पाँचवें परिच्छेद का मिलान किया जाए तो वे दोनों परिच्छेद आदि से अंत तक ज्यों के त्यों मिलते हैं। सूत्र संख्या भी ८ और ९ ही हैं परीक्षामुख में केवल एक सूत्र उससे अधिक है।

परीक्षामुख के पहले सूत्र में प्रमाण के गेय विषय का स्वरूप 'सामान्याविशेषात्मा, तदर्थो विषयः' ऐसा बतलाया है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में इसी सूत्र को 'तस्य विषयः सामान्य विशेषाद्यने कान्तात्मकं वस्तु' ऐसे लिख दिया है। पाठक महाशय समझ सकते हैं कि दोनों सूत्रों के शब्द, अर्थ, तात्पर्य, उद्देश्य आदि में कुछ भी अंतर नहीं है।

इन ही परिच्छेदों के तीसरे सूत्र को देखिए- परीक्षामुख में 'सामान्य द्वेवा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्' ऐसे लिखा है। प्रमाणनयतत्त्वालंकार में सामान्यं द्विप्रकारं तिर्यक्सामान्यमूर्ध्वतासामान्यञ्च' इस प्रकार लिख दिया है। द्वेधा और द्विप्रकार शब्दों का अर्थ एक ही है अंतर इतना है कि सूत्र रचना की दृष्टि से अक्षरलाघव के कारण 'द्वेधा' शब्द ही होना अच्छा है।

इस प्रकार दोनों ग्रंथों के ये दोनों परिच्छेद भी समान ही हैं।

उक्त दोनों ग्रंथों में से परीक्षामुख के पंचम परिच्छेद में और प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के षष्ठ परिच्छेद में प्रमाण का फल बतलाया गया है। यह विषय परीक्षामुख ने तीन सूत्रों में और प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ने २२ सूत्रों में समाप्त किया है। इस प्रकरण में भी परीक्षामुख का आश्रय लेकर ही प्रमाणनयतत्त्वालंकार का यह परिच्छेद रचा गया है। देखिये-

परीक्षामुख का तीसरा सूत्र 'यःप्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः' इस प्रकार लिखा है तब इसके स्थान पर प्रमाणनयतत्त्वालंकार में 'प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजत्युपेक्षते चेति सर्वसंख्यवहारिभिरस्खलित मनुभवात्' इस प्रकार लिखा है। बुद्धिमान पुरुष विचार सकते हैं कि दोनों सूत्रों के तात्पर्य में तथा शब्दों में कुछ अंतर नहीं है। केवल वादिदेवसूरि ने सूत्र में अंतिम कुछ शब्द बढ़ा दिए हैं।

इस प्रकार श्वेताम्बर आचार्य वादिदेवसूरि चने अपना प्रमाणनयतत्त्वा लोकालंकार नामक न्याय ग्रंथ परीक्षामुख तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक दिगम्बरीय ग्रंथों के आधार से बनाया है। आरंभ से अंत तक वादिदेवसूरि ने परीक्षामुख की छाया ग्रहण की है। कहीं-कहीं पर कुछ सूत्र नवीन भी निर्माण कर दिए हैं। इस कारण निष्पक्ष व्यक्ति को हृदय से स्वीकार करना पड़ेगा कि वादिदेवसूरि ने परीक्षामुख की नकल करके प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ग्रंथ को बनाया है।

वादिदेवसूरि परीक्षामुख ग्रंथ के रचयिता श्रीमाणिक्यनंदि आचार्य से तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड के बनाने वाले श्रीप्रभाचंद्राचार्य से पीछे हुए हैं ऐसा श्वेताम्बरीय विद्वानों को भी ऐतिहासिक प्रमाणों के बल पर स्वीकार करना पड़ेगा। तदनुसार किसने किसके ग्रंथ की नकल की यह बात स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

श्वेताम्बरीय प्रख्यात आचार्य वादिदेवसूरि की उद्भट विद्वत्ता का यही एक ज्वलंत उदाहरण है कि उन्होंने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामक सूत्रबद्ध न्याय ग्रंथ बनाने में स्वयं मौलिक प्रयत्न नहीं किया किंतु झूठा यश चाहने वाले साधारण विद्वान के समान परीक्षामुख नामक दिगम्बरीय ग्रंथ की आद्योपांत नकल कर डाली। जो विद्वान् एक साधारण ग्रंथ रचना में पूर्ण रूप से किसी अन्य ग्रंथ की छाया लेकर ही कृतकार्य हो सकता है वह विद्वान् चौरासी महान् शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करने वाले कुमुदचंद्राचार्य सरीखे दिग्विजयी विद्वान को शास्त्रार्थ में पराजित कैसे कर सकता है? यह प्रश्न विचारणीय है।

# श्री कुमुदचंद्राचार्य और देवसूरि का शास्त्रार्थ

अब हम प्रसङ्गवश श्री कुमुदचन्द्राचार्य और देवसूरि के शास्त्रार्थ पर प्रकाश डालते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रंथों में यह बात लिखी हुई है कि श्री कुमुदचंद्राचार्य दिगम्बर सम्प्रदाय के एक बहुत भारी प्रतिभाशाली विद्वान् थे उन्होंने भिन्न-भिन्न ८४ प्रसिद्ध स्थानों पर उद्भट अजैन विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करके उनको हराया था और जैन धर्म का यश फैलाया था उन ही दिग्विजयी कुमुदचंद्राचार्य ने अणहिल्लपुर के शासक जयसिंह राज की राजसभा के श्वेताम्बरीय आचार्य देवसूरि के साथ शास्त्रार्थ किया था कि कुमुदचंद्राचार्य हारे थे और देवसूरि जीत गए थे। अतएव कुमुदचंद्राचार्य को अपमानित करके नगर के अपद्वार से बाहर निकाल दिया गया था।

इस समय तक जितने भी दिगम्बरीय ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें से किसी भी ग्रंथ में इस शास्त्रार्थ के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं है। इस कारण इस शास्त्रार्थ के विषय में दिगम्बरीय शास्त्रों के आधार पर कुछ नहीं लिखा जा सकता।

दिगम्बरीय ग्रंथों के सिवाय इतर कोई अजैन निष्पक्ष ऐतिहासिक ग्रंथ भी श्री कुमुदचंद्राचार्य के शास्त्रार्थ में हार जाने को प्रमाणित नहीं करता है। इस कारण किसी निष्पक्ष पुष्ट प्रमाण से भी श्री कुमुदचंद्राचार्य की पराजय सिद्ध नहीं होती है।

अतएव इस बात परविचार दो प्रकार से ही हो सकता है, एक तो श्वेताम्बरीय शास्त्रों के आधार पर, कि उनमें जो श्री कुमुदचंद्राचार्य के हार जाने का विवरण लिखा है वह बनावटी असत्य एवं केवल हुल्लड़बाजी ही है या कि सचमुच ठीक है? दूसरे-युक्ति कसौटी पर इस बात की परीक्षा की जा सकती है कि वास्तव में श्री कुमुदचंद्राचार्य उस शास्त्रार्थ में हार सकते थे अथवा हारे थे या नहीं। इन दो मार्गों से विचार करने पर शास्त्रार्थ में देवसूरि श्वेताम्बरीय आचार्य से दिगम्बरीय आचार्यश्री कुमुदचंद्राचार्य के हार जाने की बात सत्य है अथवा असत्य, यह सिद्ध हो जाएगा।

तदनुसार हम प्रथम ही कवि यशश्चंद्र विरचित 'मुदितकुमुदचंद्रप्रकरण' नामक

श्वेताम्बरीय नाटक (वीर सं. २४३२ में बनारस से प्रकाशित) पर प्रकाश डालते हैं। यह नाटक केवल श्री कुमुदचंद्राचार्य और देवसूरि के शास्त्रार्थ के समस्त आद्योपांत विषय को प्रगट करने के लिए बनाया गया है, अतएव अन्य ग्रंथों की अपेक्षा इसी एक ग्रंथ के आधार पर उक्त शास्त्रार्थ के विषय में बहुत कुछ निर्णय हो सकता है।

इस मुदितकुमुदचंद्र नाटक के ८वें पृष्ठ पर श्री कुमुदचंद्राचार्य की प्रशंसा में १३ पंक्तियों की संस्कृत गद्य लिखी है उसमें ग्रंथकार ने स्पष्ट बतलाया है कि कुमुदचंद्राचार्य ने बंगाल, गुजरात, मालवा, निषध, सपादलक्ष, लाट आदि समस्त भारतवर्षीय विख्यात देखों के उद्भट, वाग्मी विद्वानों को शास्त्रार्थों में हराकर निर्मद कर दिया था। गद्य के अंत में लिखा है कि-

'जयतु... चतुरशीति विवाद विजयार्जितोर्जितयशःपुञ्जसमर्जितचंद्र,  
कुमुदचंद्रनाम वादीन्द्र!'

अर्थात्- चौरासी शास्त्रार्थों की विजय से जिसने बहुत भारी कीर्ति समूह प्राप्त किया है ऐसा कुमुदचंद्र वादीश्वर जयवंत हो।

इसके आगे ९वें पृष्ठ पर कुमुद चंद्राचार्य की प्रशंसा में एक पद्य इस प्रकार लिखा है कि-

'जीयादसौ कुमुदचंद्र दिगम्बरेन्द्रो दुर्वादिदन्तिमदनिर्दलनेन येन।  
भेजे मुदा चतुरशीति विलास भङ्गी सम्भोगचारुकरणेः सततं जयश्रीः।'

अर्थात्- वह कुमुदचंद्र दिगम्बराचार्य विजयी हो जिसने वादिरूपी हाथियों का मद सुखा दिया है और चौरासी शास्त्रार्थों में बराबर भाग लेने के कारण जयश्री (जीत) सदा जिसके साथ रहती है।

यद्यपि यह कुमुदचंद्राचार्य की प्रशंसा उनके ही वादी द्वारा की गई है किंतु यह बात भी असत्य नहीं है कि वे इस प्रशंसा के पात्र थे। क्योंकि एक तो कुमुदचंद्राचार्य की विद्वता की प्रशंसा इसी रूप से अन्य श्वेताम्बरीय ग्रंथों ने भी की है और दूसरे यदि वास्तव में कुमुदचंद्राचार्य ऐसे दिग्गज विद्वान् न होते तो यह श्वेताम्बरीय नाटककार यहाँ भी उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा कदादि न करता जैसे कि उसने आगे भी नहीं की है। इस कारण मानना पड़ेगा कि श्री कुमुदचंद्राचार्य कोई ऐसे वैसे साधारण विद्वान् नहीं थे किंतु व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विषयों के असाधारण पंडित थे। इसी कारण उन्होंने बंगाल, मालवा आदि सर्वत्र देशों में बड़े-बड़े वादियों के साथ शास्त्रार्थ करके विजय पाई थी। कहीं भी किसी से वे हारे नहीं थे।

ऐसे प्रतिवादि-भयंकर श्री कुमुदचंद्राचार्य ने सिद्धराज भूपति की राजसभा में देवसूरि के साथ शास्त्रार्थ किस ढंग से किया यह मुदितकुमुदचंद्र नाटक के ४६, ४७वें पृष्ठ पर लिखा हुआ है।

कुमुदचंद्र : प्रयोगमुदगृणाति।

देवसूरि : (तं दूषयित्वा) वादिना हि द्वयं कार्यं, पर पक्ष विक्षेपः, स्वपक्ष सिद्धिश्चेति, (स्त्रीनिर्वाणसिद्धये प्रयोगमारचयति)

(भाषार्थ)- कुमुदचंद्रा- स्त्री मुक्तिखंडन के लिए प्रयोग करते हैं।

देवसूरि- उस प्रयोग को दूषित सिद्ध करके स्त्री मुक्ति सिद्ध करने के लिए प्रयोग करते हैं। वादी को परपक्षखंडन और स्वपक्षमंडन ये दोनों कार्य करने चाहिए।

कुमुदचंद्र : पुनरुच्यताम्।

देवसूरि : प्रयोगं पुनः पठति।

कुमुदचंद्र : (सखेदकालुष्म) भूयोप्यभिधीयताम्।

देवसूरि : पुनः प्रकाशयति।

अर्थात्- (देवसूरि के कहे हुए युक्तियुक्त प्रयोग को न समझ सकने के कारण) कुमुदचंद्र ने कहा कि अपना प्रयोग फिर कहिये।

देवसूरि ने अपना प्रयोग फिर कह दिया।

कुमुदचंद्र : (खेद खिन्न और घबड़ाकर प्रयोग को न समझ सकने के कारण) प्रयोग फिर भी कहिये।

देवसूरि : फिर तीसरी बार कहते हैं।

अर्थात्- कुमुदचंद्र तीसरी बार भी देवसूरि के कहे हुए प्रयोग को न समझकर अंतर्संत तरह से उसका खंडन करते हैं।

देवसूरि : अस्य भवद्भासितस्य अनवबोध एवोत्तरम्

देवसूरि : न समझना ही आपके इस कहने का उत्तर है।

कुमुदचंद्र : लिख्यतां कडिन्ने प्रयोगः।

अर्थात्- कुमुदचंद्र ने देवसूरि से कहा कि आप पत्र पर अपना प्रयोग लिख दीजिए।

देवसूरि : सोयं गुरुशिष्यन्यायः।

अर्थात्- देवसूरि ने कहा कि लिखकर बतलाना गुरु शिष्य के मध्य होता है।

महर्षिः देव! समाप्ता वादकथा, जितं श्वेताम्बरेण, हारितं दिगम्बरेण, अतोप्यूर्ध्वं विकथनं पराभूतजुम्भारिसभे महाराजसदसि गोवधमन्बध्नाति।

महर्षि नामक सदस्य ने कहा कि महाराज! शास्त्रार्थ समाप्त हो गया श्वेताम्बर पक्ष की विजय और दिगम्बर पक्ष की हार हो गई। अब इससे आगे इस शास्त्रार्थ को चलाना आपकी सभा में गोवध का अनुकरण होगा।

देवसूरि : (अनूद्य तदूषणं च परिहृत्य स्वपक्षं स्थापयन् कोटा- कोटिशब्दं प्रयुक्ते)

अर्थात्- देवसूरि ने कुमुदचंद्र के कथन का अनुवाद करके अपने ऊपर आए हुए दूषण को हटाकर तथा अपना पक्ष जमाते हुए कोटाकोटि शब्द का प्रयोग किया।

कुमुदचंद्रा : आः! अपशब्दोयम्।

यानी- कुमुदचंद्र ने कहा कि आपका कहा हुआ 'कोटाकोटि' शब्द अशुद्ध है।

उत्साह : अन्तरिक्षाम्बर! मैवमाचक्षीथः।

कोटाकोटिः कोटिकोटिः कोटीकोटिरिति त्रयः।

शब्दाः साधुतया हन्त सम्मताः पाणिनेरपि।

(इति पाणिनिप्रणीतसूत्रं व्याकरोति)

अर्थात् : उत्साह नामक सदस्य ने कहा कि भो दिगम्बर यह बात मत कहो क्योंकि पाणिनिने कोटाकोटि, कोटिकोटि, कोटीकोटि ये तीनों शब्द ठीक बतलाए हैं।

देवसूरि : आः स्वशास्त्रस्यापि न स्मरसि 'अन्तःकोटाकोटिस्थितिके सति कर्मणि' इति।

देवसूरि ने कुमुदचंद्रा से कहा कि तू अपने शास्त्र के वाक्य को भी याद नहीं करता; वहाँ लिखा हुआ है कि 'अन्तःकोटाकोटि सागर की स्थिति वाले कर्म के रह जाने पर' इत्यादि।

इस प्रकार लिखते हुए देवसूरि की विजय और कुमुदचंद्राचार्य की पराजय ग्रंथकार ने प्रगट कर दी है।

उक्त ग्रंथलेखक का लिखना कितना पक्षपातपूर्ण है इसको एक साधारण मनुष्य भी समझ सकता है।

चूँकि कुमुदचंद्राचार्य दिगम्बर साधु थे और लेखक श्वेताम्बर साधु का उपासक था। इस कारण कुमुदचंद्राचार्य सरीखे दिग्गज विद्वान् को साधारण विद्वान् से भी गया बीता लिख दिखाया है। मानो उनको 'कोटाकोटि' शब्द का भी परिज्ञान नहीं था। देवसूरि जो कि प्रमाण नयतत्त्व लोकालंकार सरीखे साधारण ग्रंथ को भी स्वतंत्र रूप से अपनी प्रतिभा के आधार पर परीक्षामुख की नकल किए बिना नहीं बना सके, उन देवसूरि को श्वेताम्बर साधु होने के कारण बड़ा भारी उद्भट विद्वान् कह दिया। ग्रंथलेखक ने स्वयं ८वें पृष्ठ पर निम्नलिखित शब्दों में कुमुदचंद्राचार्य की प्रशंसा यों की है।

'जयतु जयतु कुन्तलकलाविदतुलाभिमानाचलदलनदम्भोलिदंड,  
चौडचतुरपाण्डित्यखण्डनप्रचण्ड, गौडगुणिगर्वसारङ्गशार्दूल, वङ्कविष-  
विदुषमुखकालुष्यमूल, निषिद्धनैषधबुधदर्पान्धकार, यशःशेषीकृत  
कान्यकुब्जविद्वज्जनाहङ्कार, विशदशरदादशकोविदमदच्छे दवैदुष्यपात्र, प्रगल्भ  
मालवीयकुशलशेषीकुशलतालवनदात्र, प्रकृतिवाचाट-लाटमुखघटित-  
मौनकपाट, कृतकौङ्कणकविकुलोच्चाट, विक्षिप्तसपादल-क्षदक्षपक्ष, जर्जरीकृत-  
गुर्जरजनगर्जितकक्ष, तार्किकचक्रचूडामणे, वैयाकरणकमलतरणे, छात्री-  
कृतच्छन्दश्छेक, साहित्यलतासुधासेक, सरस्वतीहृदयहार,  
श्वेताम्बरविडम्बनप्रहसनसूत्रधार, चतुरशीतिविवाद-विजयार्जितोर्जितयशःपुञ्ज,  
समर्जित-चन्द्र, कुमुदचंद्रनाम वीदीन्द्र!

अर्थात्- भो कुमुदचंद्र नामक वादीन्द्र! तुम्हारी जय हो जय हो। तुम कुन्तलदेशीय विद्वानों के अतुल अभिमान रूपी पर्वत को चूर्ण करने के लिए वज्र समान हो, चौड देश के चतुर पंडितों का पांडित्य खंडित करने के लिए प्रचंड हो, गौडदेशवासी विद्यावानों के गर्वरूपी हरिण को नष्ट करने के लिए सिंह समान हो, बंगाल के विद्वानों के मुख पर कालिमा पोतने वाले हो, निष्पक्ष देश के विद्वानों के गर्वरूपी अंधकार को दूर करने वाले हो, कान्यकुब्ज के उद्भट विद्वानों का अहंकार तुमने निःशेष कर दिया है, शारदा देश के विद्वानों का विद्यामद छेद डाला है, मालवा देशवासी प्रतिभाशाली पंडितों की कुशल बुद्धि की चतुरता छेदने के लिए तुम दांते (हँसिया) समान हो, लाट देश निवासी वाचाल (बहुत बोलने वाले) विद्वानों के मुख को बंद करने वाले हो, तुमने कोंकण देश के कविवरों को भगा दिया है, सपादलक्ष देश के चतुर पंडितों को विक्षिप्त बना दिया है, न्यायवेत्ता विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ हो, वैयाकरण विद्वानों में सूर्यतुल्य हो, छन्दशास्त्र के विद्वानों को

आपने अपना शिष्य बना लिया है, साहित्यरूपी लता के सीचने वाले हो, सरस्वती के हृदय-हार समान हो, श्वेताम्बरी विद्वानों का तिरस्कार करने के सूत्रधार हो और आपने चौरासी ८४ शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करके बहुत भारी यश उपाजित किया है।

अब पाठक महानुभाव स्वयं विचार करें कि जिन श्रीकुमुदचंद्राचार्य ने कुन्तल, चौड, गौड, बंगाल, निषध, कान्यकुब्ज, मालवा, लाट, सपादलक्ष, गुजरात, आदि प्रायः सभी भारत वर्ष के देशों में पहुँच कर वहाँ के प्रसिद्ध नगरों के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त की थी, कहीं भी पराजित नहीं हुए थे, तर्क, छंद, व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि सभी विषयों के असाधारण विद्वान् थे, दो चार नहीं किंतु चौरासी शास्त्रार्थ इसके पहले कर चुके थे। फिर भला स्वप्न में भी कोई बुद्धिमान निष्पक्ष पुरुष यह संभावना कर सकता है कि वास्तव में कुमुदचंद्राचार्य 'कोटाकोटि' शब्द को भी नहीं समझ पाते थे? देवसूरि के पक्षप्रयोग का ठीक अवधारण कर उसका उत्तर भी नहीं दे सकते थे? तथा जो देवसूरि शास्त्रार्थ करने में कुमुदचंद्राचार्य के समान न तो पटु थे और न प्रसिद्ध शास्त्रार्थ विजेता एवं यशस्वी ही थे, जिन देवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार ग्रंथ का निर्माण अपनी प्रतिभाशक्ति से न कर सकने के कारण परीक्षामुख नामक दिगम्बरीय ग्रंथ का आधार लिया; वे साधारण विद्वत्ता के अधिकारी देवसूरि दिग्विजयी पंडित कुमुदचंद्राचार्य पर विजय पा गए? इस बात को यदि 'कूजड़ा अपने खट्टे बरों को भी मीठा बताता है' इस कहावत का अनुसरण कहा जाए तो कुछ अनुचित नहीं।

वादी की अथवा प्रतिवादी की जय या पराजय उनकी अकार्य युक्तियों पर निर्भर होती है। तदनुसार यदि वास्तव में देवसूरि ने चौरासी शास्त्रार्थों के विजेता कुमुदचंद्राचार्य को हराया था तो नाटककार को अथवा अन्य किसी श्वेताम्बर ग्रंथकार को वे २-४ प्रबल युक्तियाँ तो लिखनी थी जिनका प्रत्युत्तर कुमुदचंद्राचार्य नहीं दे सके। किंतु उस युक्तिजाल का नाममात्र भी उल्लेख न करके केवल 'कोटाकोटि' शब्द पर हार-जीत का निर्णय दे दिया है। मानों दिग्विजयी विद्वान् श्री कुमुदचंद्राचार्य को उतना भी व्याकरणबोध नहीं था। पक्षपातवश न्याय्य बात पर परदा डाल देना इसी को कहते हैं।

इस कारण श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों के लिखे अनुसार दिग्विजेता श्री कुमुदचंद्राचार्य और परीक्षामुख नामक दिगम्बरीय न्याय ग्रंथ की नकल करके प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार पुस्तक के बनाने वाले श्री देवसूरि की विद्वत्ता की तुलना करते हुए तथा देवसूरि द्वारा प्रतिपादित दो-एक भी प्रबलयुक्ति का अभाव देखकर यह कहना पड़ता है कि चौरासी प्रबल शास्त्रार्थों के विजेता प्रकांड विद्वत्ता के अधिकारी श्री कुमुदचंद्राचार्य के देवसूरि द्वारा पराजित होने की बात सर्वथा असत्य है।



हाँ यह हो सकता है कि गत दो वर्ष पहले श्वेताम्बर जैन पत्र में हेमचंद्राचार्य का जो जीवनचरित प्रकाशित हुआ था उसके लिखे अनुसार जिस राजसभा में शास्त्रार्थ हुआ था, वहाँ के राज्यमंत्री, सदस्य तथा स्वयं राजा तक देवसूरि के भक्त थे तथा हेमचंद्राचार्य ने रानी को भी 'कुमुदचंद्राचार्य स्त्रियों की मुक्ति होना निषेध करते हैं', ऐसी बातों द्वारा बहका कर कुमुदचंद्राचार्य के विरुद्ध कर दिया था। इस प्रकार समस्त उपस्थित जनता एकमात्र देवसूरि के पक्ष में थी। वहाँ पर यदि हुल्लड़बाजी के नाम पर कुमुदचंद्राचार्य की पराजय कर दी गई हो, तो क्या बात है। वास्तव में विद्वत्ता तथा अखंड युक्तिजाल से कुमुदचंद्राचार्य पराजित नहीं हुए, यह समस्त उपलब्ध सामग्री से सिद्ध होता है।



## हाईकू

उनसे डरो,  
जो तुम्हारे क्रोध को,  
पीते ही जाते ।



मान शत्रु है  
कछुवा बनूँ बचूँ,  
खरगोश से ।



भूख लगी है,  
स्वाद लेना छोड़ दे  
भर लें पेट ।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## साहित्य विषय की नकल

अब हम इस विषय पर प्रकाश डालते हैं कि साहित्य ग्रंथों की रचना में भी अनेक श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों ने दिगम्बरीय ग्रंथों की छाया ली है। इस कारण साहित्य विषय में भी श्वेताम्बरीय ग्रंथ दिगम्बरीय साहित्य ग्रंथों से अधिक महत्त्व नहीं रखते। इस विषय को सिद्ध करने के लिए हम केवल एक साहित्य ग्रंथ का नमूना पाठक महाशयों के सामने रखेंगे।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हेमचंद्राचार्य एक अच्छे प्रभावशाली विद्वान् हो गए हैं। उन सरीखा कोई अन्य विद्वान् कलिकाल में नहीं हुआ, ऐसा सब श्वेताम्बरी भाई मुक्तकंठ से कहते हैं। इसी कारण इनको 'कलिकाल सर्वज्ञ' भी श्वेताम्बरी भाई कहते हैं। ये हेमचंद्राचार्य प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ग्रंथ के रचयिता देवसूरि के समकालीन बारहवीं विक्रम शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने न्याय, व्याकरण, साहित्य, कोष आदि अनेक ग्रंथ बनाए हैं।

उन्हीं ग्रंथों में से उन्होंने 'काव्यानुशासन' नामक एक साहित्य ग्रंथ भी लिखा है। ग्रंथ यद्यपि अपने विषय का एक अच्छा ग्रंथ है किंतु इसमें भी संदेह नहीं कि यह ग्रंथ दिगम्बरीय महाकवि वाग्भट विरचित काव्यानुशासन ग्रंथ की खासी नकल है। महाकवि वाग्भट हेमचंद्राचार्य से पहले हुए हैं और इन्होंने 'नेमिनिर्वाण, वाग्भटालंकार, ऋषभदेवचरित आदि अनेक महाकाव्य, अलंकार, वैद्यक आदि ग्रंथ निर्माण किए हैं। इन्होंने काव्यानुशासन नामक साहित्य ग्रंथ गद्यरूप में लिखकर स्वयं उसकी टीका भी लिखी है। इसी ग्रंथ की छाया लेकर हेमचंद्राचार्य ने भी गद्य रूप में स्वोपज्ञटीकासहित उसी नाम का 'काव्यानुशासन' ग्रंथ लिखा है। देखिये-

कवि वाग्भट्ट ने प्रथम ही काव्यरचना का उद्देश्य बतलाया है-

काव्यं प्रमोदायनार्थपरिहाराय व्यवहारज्ञानाय त्रिवर्गफललाभाय

कान्तातुल्यतयोपदेशाय कीर्तये च ।

इसके स्थान पर हेमचंद्राचार्य ने पहला सूत्र यह लिखा है-

'काव्यमानंदाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च'

उपर्युक्त दोनों वाक्य बिलकुल समान हैं। दो एक शब्दों का अंतर है।

काव्यरचना का हेतु कविवर वाग्भट्ट ने यह लिखा है-

‘व्युत्पत्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः’

इसके स्थान पर हेमचंद्राचार्य ने यों लिखा दिया है-

‘प्रतिभास्य हेतुः’

अभ्यास का लक्षण वाग्भट्ट ने यह किया है-

काव्यज्ञाशिक्षया परिशीलनमभ्यासः

इसी को हेमचंद्राचार्य ने यों लिख दिया है-

काव्यविच्छिक्षया पुनः पुनः प्रवृत्तिरभ्यासः

काव्य का लक्षण वाग्भट्ट ने यह लिखा कि-

शब्दार्थो निर्दोषो सगुणो प्रायः सालंकारौ काव्यम्

हेमचंद्राचार्य ने इसको यों लिख दिया है-

अदोषो सगुणो सालंकारौ शब्दार्थो काव्यम्

काव्य के दोष वाग्भट्ट ने ये बतलाये हैं-

निरर्थकनिर्लक्षणाश्लीलाप्रयुक्तासमर्थानुचितार्थश्रुतिकटुकिलिष्टा-  
विमृष्टविधेयांशविरुद्धबुद्धिकृत्रेयार्थनिहिताप्रतीतग्राम्यसंदिग्धावा- चकत्वानि  
शब्ददोषाः पदे वाक्ये च भविन्त ।

इसके स्थान पर हेमचंद्राचार्य ने यह लिखा

अप्रयुक्ताश्लीलासमर्थानुचितार्थश्रुति- कटुकिलिष्टाविमृष्टविधेयां-

शविरुद्धबुद्धिकृत्वान्युभयोः ।

दोनों वाक्य एक सरीखे हैं। इसके आगे अलंकारों के लक्षण भी हेमचंद्राचार्य ने वाग्भट्ट कवि के लिखे हुए लक्षणों सरीखे ही किए हैं। रूपकालंकार को देखिये-

साश्याद्भेदेनारोपो रूपकम् ।

हेमचंद्राचार्य ने इसको यों लिख दिया है-

साद्श्ये भेदेनारोपो रूपकमेकानेकविषयम् ।

दोनों लक्षण शब्द अर्थ से समान हैं। अर्थान्तरन्यास अलंकार का लक्षण महाकवि वाग्भट्ट ने यह किया है-

विशेषस्य सामान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यासः साधर्म्येण वैद्यर्म्येण च

इसके स्थान पर हेमचंद्राचार्य यों लिख गए हैं-

विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यं समर्थनमर्थान्तरन्यासः ।

दोनों लक्षण बिलकुल समान हैं। स्मृति अलंकार लक्षण जब वाग्भट्ट कवि ने यह लिखा है-

सहशदर्शनात्पूर्वार्थस्मरणं स्मृतिः

तब हेमचंद्राचार्य ने भी उसको यों लिख दिया है-

सहशदर्शनात्स्मरणं स्मृतिः

परिसंख्यालंकार वाग्भट्ट ने यह लिखा है-

पृष्टमपृष्टं वा यदन्यव्यवच्छेदपरतयोच्यते सा परिसंख्या ।

इसकी नकल हेमचंद्राचार्य ने यों की है-

पृष्टेऽपृष्टे वान्यापोहपरोक्तिः परिसंख्या

दोनों समान हैं। संकर अलंकार को जब महाकवि वाग्भट्ट ने इन शब्दों में लिखा है-

स्वातन्त्र्येणाङ्गत्वेन संशयेनैकपद्येनवा

अलंकाराणामेकत्रावस्थानं संकरः ।

इसकी नकल हेमचंद्राचार्य ने इन शब्दों में की है-

स्वातन्त्र्याङ्गत्वसंशयैकपद्यैरेषामेकत्र स्थितिः संकरः ।

दोनों लक्षण बिलकुल एक सरीखे हैं। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के लक्षण भी हेमचंद्राचार्य ने कतिपय शब्दों के हेरफेर से महाकवि वाग्भट्ट के उल्लिखित लक्षणों को ही लिख दिखाया है।

इसके पीछे यदि रसों के लक्षणों पर दृष्टिपात किया जाए तो वहाँ परभी यह ही हाल है। वहाँ पर तो हेमचंद्राचार्य ने कविवर वाग्भट्ट ने उल्लिखित लक्षणों की समूची ज्यों की त्यों नकल कर डाली है। प्रथम ही करुणरस को देखिए, वाग्भट्ट ने लिखा है-

इष्टवियोगानिषसं (प्र) योगविभावो दैवोपालंभनिःश्वासतानव-  
मुखश्लेषस्वरभेदाश्रुपातवैवर्ण्य-प्रलयस्तम्भ (वै) कम्पभूलुठन-विलापगात्रां-  
शाद्यश्रुभावनिर्वे-दग्लानिचिन्तौत्सुक्यमोहश्रमत्रासविषाद दैन्यव्याधि-  
जडतोन्मादापस्मारालस्यमरण- प्रभृतिदुःखमयव्यभिचारी चित्तवैधुर्यलक्षणः  
शोकाभिधानः स्थायिभावश्चर्वणीयतां गतःकरुणरसतां याति ।

इसके स्थान पर हेमचंद्राचार्य ने जो कुछ लिखा है वह उनके काव्यानुशासन के ७६वें पृष्ठपर यों हैं-

इष्टवियोगानिष्ट- संप्रयोगविभावोदैवोपालंभनिः श्वासतानवमुख-  
शोषणस्वर भेदाश्रुपातवैवर्ण्यप्रलस्तम्भकम्पभूलुठन-गात्रसंसाक्रंदाद्यनुभाव  
निर्वेदग्लानिचिन्तौ- त्सुक्यमोह-श्रमत्रासविषाददैन्यव्याधिजडतो-  
न्मादापस्मारालस्य मरणपृभृति-दुःस्वमयव्यभिचार चित्तवैधुर्यलक्षणः शोकः  
स्थायीभावश्चर्वणीयतां गतः करुणो रसः ।

उपर्युक्त दोनों लक्षण बिलकुल समान हैं इसको साधारण पुरुष भी समझ सकता है। इसके पीछे वीररस का लक्षण वाग्भट्ट कवि ने इन शब्दों में किया है-

प्रतिनायकवर्तिनयविनयसंमोहाध्यवसायबलशक्तिप्रतापप्रभाव  
विक्रमाधिक्षे-पादिविभावः स्थैर्यौदार्यधैर्यगाम्भीर्य-शौर्यविशारदाद्यनुभवो  
धृतिस्मृत्यौग्रग-वर्मर्षामत्यावेगहर्षादिव्यभिचारी उत्साहाभिधानः  
स्थायिभावश्चर्वणीयतां गतो वीररसतां याति ।

इसकी प्रतिलिपि हेमचंद्राचार्य ने अपने काव्यानुसार के ७७वें पृष्ठ पर यों की है-

प्रतिनायकवर्तिनयविनयासंमोहाध्यवसायबलशक्तिप्रतापप्रभाविक्रमा-  
विक्षेपादिविभावः स्थैर्यधैर्यशौर्यगाम्भीर्यत्यागवैशारद्याद्यनुभावो  
धृतिस्मृत्यौग्रगर्वामर्षाम- त्यावेगहर्षादिव्यभिचारी उत्साहः  
स्थायिभावश्चर्वणीयतां गतो धर्मदानयुद्धभेदात्रेधा वीरः ।

इन दोनों लक्षणों में भी रंचमात्र अंतर नहीं। वीर के जो तीन भेद यहाँ अधिक जोड़े हैं वे भी वाग्भट्ट ने आगे बताये हैं। इसी प्रकार वीभत्स रस के लक्षण भी देखिये। महाकवि वाग्भट्ट ने अपने काव्यानुशासन के ५६वें पृष्ठ पर इस रस का लक्षण यों लिखा है-

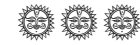
अहद्यानामुद्धान्तव्रणपूतिकृमिकीटादीनां दर्शनश्रवणादि-विभावोङ्गसकोच-  
हल्लास- नासामुखविकूणनाच्छादननिष्ठीवनाद्यनुभावोप ऽस्मारौग्रमोहदादि  
व्यभिचारी दव्यभिचारी जुगुप्साभिधानः स्थायिभावश्चर्वणीयतां गतो  
वीभत्ससामाप्नोति ।

इस गद्य की हूबहू नकल हेमचंद्राचार्य ने अपने काव्यानुशासन के ७९वें पृष्ठ पर इस प्रकार की है-

अहद्यानामुद्धान्तव्रणपूतिकृमिकीटादीनां दर्शनश्रवणादिविभावा अङ्गसङ्को-  
चहल्लास नामामुखविकूणनाच्छादननिष्ठीवनाद्यनुभावा ऽस्मारौग्रव्यभिचारिणी  
जुगुप्सा स्थायिभावरूप चर्वणीयतां गता वीभत्सः ।

पाठक महानुभाव स्वयं समझ सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों गद्यों में शब्द तथा अर्थ रूप से कुछ भी अंतर नहीं है। इसी प्रकार अदभुत, भयानक, शांत, रौद्र आदि रसों का लक्षण रूप गद्य भी परस्पर बिलकुल मिलता है। उसको पाठक स्वयं दोनों ग्रंथ सामने रखकर मालूम कर सकते हैं। अन्य अनेक बातें भी इन दोनों काव्यानुशासनों की आपस में गद्य, पद्य अर्थ रूपसे मिलती-जुलती हैं, जिससे कि निःसंदेह यह सिद्ध हो जाता है कि हेमचंद्राचार्य ने महाकवि वाग्भट्ट-विरचित काव्यानुशासन की प्रतिलिपि करके ही अपना काव्यानुशासन ग्रंथ बनाया है।

इसके सिवाय कलिकालसर्वज्ञ पदवी प्राप्त हेमचंद्राचार्य ने सिद्धहेम शब्दानुशासन नामक व्याकरण भी दिगम्बरीय आचार्यों के निर्माण किए हुए व्याकरणों की नकल करके बना दिखाया है। शाकटायन तथा जैनेंद्र व्याकरण के सूत्र भाष्य आदि की आद्योपांत नकल की है। स्वतंत्र रूप से मौलिक ग्रंथ नहीं बनाया है।



## हाईकू

सामायिक में,  
कुछ न करने की,  
स्थिति होती है ।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## नवीन- नकल

अब हम इसी शताब्दी होने वाले प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य श्री आत्मारामजी के विषय में ऐसा ही एक उदाहरण पाठकों के सामने रखकर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

श्वे. आचार्य आत्मारामजी को श्वेताम्बरी भाई कलिकालसर्वज्ञ कहते हैं। सम्यक्त्वशाल्योद्धार आदि छपे हुए ग्रंथों के ऊपर यह पदवी छापी भी है इस कारण कम से कम यह तो अवश्य मानना पड़ेगा कि ये श्वे. आचार्य भी बहुत भारी विद्वान हुए होंगे। इन्होंने कई ग्रंथ लिखे हैं। तदनुसार अनेक पद भी बनाए हैं जो कि श्वेताम्बर आमनाय में बहुत प्रचलित हैं। सौभाग्य से आपके रचे हुए पदों की संग्रह रूप छपी हुई पुस्तक हमें भी मिल गई जिसका नाम प्रकाशक ने 'श्री ६ सम्बेगी आनंदबिजेजी प्रसिद्ध श्री आत्मारामजी कृत सत्रा भेदी पूजा स्तवन' रखा है।

यह पुस्तक जौहरी हजारीमल रामचंद्र ने काशी में लीथो प्रेससे माघ सुदी १२ रविवार संवत् १९३९ में छपवाई है। इस कारण यह स्वयं सिद्ध हो गया कि यह पुस्तक श्री श्वे. आचार्य आत्मारामजी के जीवनकाल में यानी उनके सामने ही छप गई थी। क्योंकि आत्मारामजी का स्वर्गवास संवत् १९५३ में हुआ था। इस कारण उनके देहावसान होने के १४ चौदह वर्ष पहले उपर्युक्त पुस्तक छप गई थी।

---

**टीप १-** अधिक न लिखकर हम केवल उदाहरण देते हैं। जैनैन्द्र व्याकरण के कर्ता, हेमचंद्र से बहुत ही पुराने हैं और अष्ट महाव्याकरणों में जैनैन्द्र का ही उल्लेख आया है। इस जैनैन्द्र का प्रथम सूत्र है- 'सिद्धिरनेकान्तात्'।

इसकी नकल हमेचंद्र ने की है वह, 'सिद्धिः स्याद्वादात्'।

क्या इन दोनों सूत्रों में जरा भी फर्क कहा जा सकता है? नहीं। इसी प्रकार 'ज्ञानार्णव' की नकल 'योगार्णव' है।

अनेक सज्जनों ने कहा था श्वे. आचार्य आत्मारामजी ने दिगम्बरीय कवि पं. दानतरायजी आदि के बनाए हुए पदों की नकल करके अपने नाम से अनेक पद लिख दिए हैं। इस बात की सत्यता जाँचने के लिए हमने उक्त पुस्तक के पदों का स्व. कविवर दानतरायजी विरचित दानतविलास के पदों के साथ मिलान किया तो उन महाशयों का कथन सत्य पाया। मुनि आत्मारामजी ने दानतरायजी के पदों की नकल की है। अन्य भी दिगम्बरी कवियों की कविताओं की नकल की हो इस अनुमान को हम सत्य या असत्य नहीं कह सकते, क्योंकि इस विषय में हमने अधिक अनुसंधान नहीं किया।

इस विषय में पाठक महानुभावों के समक्ष एक पद उपस्थित करते हैं जो कि स्व. पं. दानतरायजी ने बनाया था और उसकी मुनि आत्मारामजी ने नकल की। इसके पहले पाठकों को यह बतलाना आवश्यक है कि स्वर्गीय पं. दानतरायजी का जन्म विक्रम सं. १७३७ में हुआ था और उन्होंने दानतविलास संवत् १७८० में बनाकर समाप्त किया था। श्वेताम्बरीय आचार्य आत्मारामजी का जन्म संवत् १८९३ में हुआ था। इस प्रकार स्वर्गीय कविवर दानतरायजी आत्मारामजी से १५० डेढ़ सौ वर्ष पहले हुए हैं।

उन्होंने अपने विलास में एक यह पद लिखा है-

ब्रह्म ज्ञान नहीं जाना रे भाई, ब्रह्मज्ञान नहीं जानारे।

इसी पद की नकल करके मुनि आत्मारामजी ने यह पद बनाया है-

ब्रह्मज्ञान नहीं जान्यारे तैंने, ब्रह्मज्ञान नहीं जान्यारे।

दानतरायजी ने लिखा है कि-

तीन लोक के सब पुद्गल तैं, निगल निगल उगलानारे।

छर्दि डारके फिर तू चाखै, उपजै तेहि न गिलानारे॥

आत्मारामजी ने नकल करके इसको यों लिखा है-

सब जगमाही जेता पुद्गल निगल निगल उगलानारे।

छरद डारकर फिर तू चाखे, उपजत नहीं गलानारे॥

पाठक महाशय स्वयं विचार करें, क्या इन दोनों में कोई अंतर है?

इसके आगे दानतरायजी ने लिखा है-

आठ प्रदेशाबिना तिहुं जगमें, रहा न कोय ठिकानारे।

उपज्या मरा जहाँ तू नाहीं, सो जाने भगवाना रे ॥

इसके स्थान पर आत्मारामजी ने यों लिखा है-

चौदा भुवन में एक तिलमात्र, कोइ न रह्या ठीकाणारे ।

जनम मरण होयवार अनंते, जहाँ न जिया कराना रे ॥

इन दोनों पद्यों में केवल 'तिहु जग और चौदा भुवन' का अंतर है शेष सब समान है। और जो 'चौदह भुवन' शब्द बदला वह बे सिरपैरका। चौदह भुवन कौन से हैं यह मालूम नहीं हुआ?

तदनन्तर पं. दानतरायजी ने लिखा है-

तोहि मरणतैं माता रोई, आंसूजल सग लानारे ।

अधिक होय सब सागर सेती, अज हूं त्रास न आना रे ॥

इस पद्य की नकल मुनि आत्मारामजी ने इन शब्दों में की है-

जनम जनम में माता रोई, आंसूनासंख कराना रे ।

होय अधिक न सब सागरथी, अजहूं चेत अज्ञानारे ॥

इन दोनों पद्यों में कुछ भी अंतर नहीं। दानतरायजी के पद्य की २-१ शब्द के फेरफार से पूरी नकल है।

यह एक पद है जो कि अकस्मात् हमारी दृष्टि में आ गया। संभव है इसी प्रकार मुनि आत्मारामजी ने अन्य ने कविताएँ भी दिगम्बरी कवियों की कविताओं की नकल करके अपने नाम से लिख दी होंगी। अस्तु।

इस प्रकार के लिखने का हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि हमारे अनेक श्वेताम्बरीय भाई यह कह दिया करते हैं तथा अनेक का खयाल है कि 'हमारे श्वेताम्बरीय ग्रंथ सबसे प्राचीन हैं, खास गणधरों के रचे हुए हैं, दिगम्बरी विद्वानों ने उनकी नकल करके अपने ग्रंथ बनाए हैं।' उनकी यह धारणा सर्वथा असत्य है। जैन ग्रंथों का लेखन जिस समय प्रारंभ हुआ उस समय प्रथम ही दिगम्बरीय ऋषियों ने ही सिद्धांत शास्त्र बनाए। उनके पीछे श्वेताम्बरीय शास्त्रों की रचना हुई है इस बात को हम श्वेताम्बरीय शास्त्रों से ही सिद्ध करते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रंथरचना प्रारंभ होने के विषय में प्रसिद्ध श्री श्वेताम्बर आचार्य आत्मारामजी ने अपने तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रंथ के सातवें पृष्ठ पर लिखा है कि,

'सूत्रार्थ स्कंदिलाचार्यने संधान करके कंथाग्र प्रचलित करा था सो ही श्री देवर्द्धिगणिकक्षमाश्रमणजीने एक कोटी (१००००००) पुस्तकों में आरूढ़ करा'...

'श्री देवर्द्धिगणिकक्षमाश्रमणजीने जो लिखे सो अन्य गति के न होने से और सर्वज्ञान व्यवच्छेद होने के भयसे और प्रवचन की भक्ति से लिखे हैं।'

इससे यह निश्चित सिद्ध हो गया कि श्री देवर्द्धिगणिकक्षमाश्रमण ने ही श्वेताम्बरीय ग्रंथरचना की नींव डाली। उनके पहले मुनि आत्मारामजी के कथानुसार श्वेताम्बरीय शास्त्र कंठस्थ थे, ग्रंथस्थ नहीं थे।

श्री देवर्द्धिगणिकक्षमाश्रमणजी किस समय हुए इस बात को उक्त कलिकालसर्वज्ञ मुनि आत्मारामजी ने तत्त्वनिर्णयप्रासाद के ५५४वे पृष्ठ पर यों लिखा है-

'प्रथम सर्व पुस्तक ताडपत्रोपरि लिखने लिखाने वाले श्री देवर्द्धिगणिकक्षमाश्रमण पूर्व के ज्ञान के धारक हुए हैं वे तो श्री वीरनिर्वाण से ९८० वर्ष पीछे हुए हैं।'

श्वेताम्बरीय आचार्य आत्मारामजी श्वेताम्बरीय भाइयों के लिखे अनुसार 'कलिकालसर्वज्ञ' थे इस कारण वे श्वेताम्बरीय सिद्धांत का विषय कोई अन्यथा लिख सकते हैं ऐसा हम तथा हमारे श्वेताम्बरीय भाई नहीं स्वीकार कर सकते। अतः मानना होगा और हमारी निजी भी धारणा है कि 'श्वेताम्बरीय ग्रंथ विक्रम संवत् छठी शताब्दी से बनने प्रारंभ हुए हैं।' यह ही सुनिश्चित विश्वास हमारे श्वेताम्बरीय भाइयों का है। क्योंकि उनके श्रद्धास्पद मुनि आत्मारामजी स्पष्ट लिखते हैं कि पहले ग्रंथ कंठाग्र रक्खे जाते थे, लिखे नहीं जाते थे। फिर स्मरण शक्ति की निर्बलता देख कर 'देवर्द्धिगणिकक्षमाश्रमणजी ने जो उनको अपनी गुरु परंपरा से स्मरण था उसको सुरक्षित रूप से चलाने के लिए ग्रंथों में लिखकर रख दिया। देवर्द्धिगणिकक्षमाश्रमणजी मुनि आत्मारामजी के ही लिखे अनुसार वीर निर्वाण से ९८० वर्ष पीछे यानी विक्रम संवत् के ५१० (पाँच सौ दस) वर्ष व्यतीत हो जाने पर हुए थे। इसका तात्पर्य वही निकला कि श्वेताम्बरीय ग्रंथरचना देवर्द्धिगणिकक्षमाश्रमण जी द्वारा विक्रम संवत् की छठी शताब्दी में हुई, इसके पहले उनका कोई भी ग्रंथ नहीं बना था।

परंतु दिगम्बरीय ग्रंथों का निर्माण विक्रम संवत् से भी पहले शुरू हुआ है। श्री भूतबलि आचार्य सबसे प्रथम 'षट्खंड आगम' नामक ग्रंथ बनाया था। श्री भूतबलि आचार्य श्री कुंदकुंदाचार्य से बहुत वर्ष पहले हुए हैं जब कि श्री कुंदकुंदाचार्य जिन्होंने कि समयसार आदि अनेक ग्रंथ लिखे, वे विक्रम संवत् की पहली शताब्दी में यानी पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों से विक्रम संवत् ४९ में हुए हैं।

तात्पर्य- इस कारण सिद्ध हो गया कि श्वेताम्बरीय शास्त्रों के निर्माण होने से सैकड़ों वर्ष पहले दिगम्बरीय ऋषियों ने अनेक ग्रंथ बना दिए थे।

# सिद्धांत विरुद्ध कथन

## भोगभूमिज का अकाल मरण

कुछ आयुकाल शेष रहने पर विष, शस्त्र आदि किसी आकस्मिक कारण से आयु समाप्ति के प्रथम ही जो मृत्यु हो जाती है उसके अकालमरण कहते हैं। अकाल मरण कर्मभूमि वाले साधारण जो त्रेसठशलाका पुरुषों में से न हों ऐसे मनुष्य पशुओं का ही होता है। शेष किसी का नहीं होता। इस सिद्धांत को श्वेताम्बरीय संप्रदाय भी स्वीकार करता है।

किंतु फिर भी श्वेताम्बरीय ग्रंथों में भोगभूमि वाले मनुष्यों के अकालमरण का उल्लेख पाया जाता है ऐसे उल्लेख को सिद्धांत विरुद्ध ही कहना चाहिए।

कल्पसूत्र के सप्तम व्याख्यान में भगवान् ऋषभनाथ का चरित वर्णन करते हुए भगवान् की पत्नी सुनंदा के विषय में वह ग्रंथकार लिखता है कि-

‘कोइक युगलीआंने तेमनां मातापिताए तालवृक्षनी नीचे मुष्यं हतुं ते तालवृक्षनुं फल नीचे पडवाथी पुरुष मृत्यु पाग्यो। अने एवी रीते पेहेलजुं अकालमृत्यु थयुं।’

अर्थात्- किसी एक युगलियाको (स्त्री पुरुष को) उनके माता-पिता ने ताल वृक्ष के नीचे छोड़ दिया था। उस समय ताल वृक्ष का फल शिर पर गिरने से पुरुष का मरण हो गया। इस प्रकार यह पहली ही अकाल मृत्यु हुई है।

इस अकाल मरण से मरे हुए पुरुष की स्त्री के साथ ही भगवान् ऋषभनाथ का विवाह किया गया, नाम सुनंदा रखा गया। इस प्रकार यदि उस समय की अपेक्षा से इस बात का विचार करें तो अकाल मृत्यु से मरे हुए उस भोगभूमिया की वह स्त्री बच गई। और उस स्त्री के साथ भगवान् ऋषभदेव ने विवाह किया।

यह भोगभूमिया मनुष्य की अकाल मृत्यु बतलाना सिद्धांत विरुद्ध है क्योंकि स्वयं श्वेताम्बरीय सिद्धांतशास्त्र ही भोगभूमिया मनुष्य तिर्यच की अकालमृत्यु का निषेध करते हैं। आचार्य उमास्वामि विरचित तत्त्वार्थधिगमसूत्र के दूसरे अध्याय के ५२वें सूत्र में बतलाया है-

औपपातिक चरमदेहोत्तमपुरुषासांख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

अर्थात्- औपपातिक, (देव, नारकी) उत्तर चरमशरीरी (त्रेसठ शलाका पुरुष) और असंख्यात वर्षों की आयु वाले (भोगभूमिया) मनुष्य तिर्यचों की अकालमृत्यु नहीं होती है।

इसी सूत्र की सिद्धसेनगणिप्रणीत संस्कृत टीका में 'असंख्येयवर्षायुषः' का खुलासा २२३वें पृष्ठ पर यों किया है।

‘कर्मभूमिषु च ये मनुष्याः।’ अर्थात्- कर्म-भूमियों में (भरत, ऐरावत, पूर्व पश्चिम विदेहों में) जो मनुष्य पहले, दूसरे, तीसरे समय में जब उत्पन्न होते हैं तब वे असंख्यात वर्षों की आयु वाले होते हैं और तब वे ही अनपवर्त्य आयु वाले यानी अकालमृत्यु से न मरने वाले होते हैं।

इस प्रकार तत्त्वार्थधिगम सूत्र के अटल, अमिट सिद्धांत के विरुद्ध कल्पसूत्र का कथन छहता है। दोनों ही ग्रंथ श्वेताम्बर संप्रदाय में ऋषिज्ञ-प्रणीत माने जाते हैं किंतु एक के प्रामाणिक मानने पर दूसरा अप्रामाणिक ठहरता है।

## भोगभूमिया का नरकगमन

श्वेताम्बरीय ग्रंथों ने १० अछ्रे (आश्चर्यजनक बातें) बतलाए हैं उनमें से ७वाँ अछ्रे हरिवंश की उत्पत्ति वाला इस प्रकार है।

कौशांबी नगर में सुमुख राजा था। उसी नगर में वीरकुविंद नामक एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री वनमाला बहुत सुंदरी थी। एक दिन राजा ने उसकी सुंदरता देख कामासक्त होकर दूती के द्वारा उसको अपने घर बुला लिया। राजा के घर पहुंचकर वनमाला भी राजा के साथ रहने लगी। वीर-कुविंद ने जब अपनी स्त्री को घर पर नहीं पाया तो वह उसके प्रेम से विह्वल होकर इधर-उधर घूमने लगा। मरण समीप आने पर उसने कुछ अपने भाव अच्छे बना लिए इस कारण वह मरकर सौधर्म स्वर्ग में किल्बिषक देव हुआ। उस सुमुखराजा और वनमाला के ऊपर बिजली गिरी जिससे वे दोनों मर कर हरिवर्ष क्षेत्र में युगलिया (भोगभूमिया) उत्पन्न हुए। वीर कुविंदर के जीव विल्बिषक देव ने अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव का वृत्तांत विचार करके उस पूर्व भव में अपने असह्य संताप का कारण सुमुख राजा और अपनी स्त्री वनमाला को समझा। तदनुसार उन दोनों को अपना शत्रु समझकर उनसे बदला लेने के लिए वह हरिवर्ष क्षेत्र में आया। वहाँ आकर उसने उस भोगभूमिया युगल को भोगभूमि के सुखों से वंचित करने के लिए तथा

अकालमरण कराकर उसको (स्त्री, पुरुष को) नरक भेजने के लिए वहाँ से उठाकर इस भरत क्षेत्र की चंपा नगरी में लाकर रख दिया।

उस समय वहाँ का राजा मर गया था। उसका उत्तराधिकारी कोई पुत्र नहीं था, इस कारण उस देव ने उस राजसिंहासन पर उस भोगभूमिया युगल को बैठा दिया। नरक आयु का बंध कराने के लिए उसने उन दोनों को (स्त्री पुरुष को) मद्य, माँस खिलाया तथा अपनी शक्ति से उनकी आयु थोड़ी कर उनको नरक भेज दिया। उस राजा ने वंश का नाम 'हरिवंश' प्रसिद्ध हुआ।

इसी बात को समाप्त करते हुए कल्पसूत्रकार ने कल्पसूत्र के १९वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

'तेथी से बंनेने हुं दुर्गतिमाँ पाडुं, आवुं चिंतवी पोतानी शक्ति थी देह संक्षेप करी तेओने अहीं लाव्यो लावी ने राज्य आपी तेमो ने सात व्यसन शीखडाव्या। ते पछी तेओ तेवा व्यसनी थइ मृत्यु पामी नरके गया। तेनो जे वंश ते हरिवंश कहेवाय। अहीं जुगलियाने अहीं लाव, शरीर तथा आयुष्यनों संक्षेप करवो अने नरकमाँ जवुं ए सर्व आश्चर्य छे।'

यानी- इसलिए कैसे इन दोनों को (स्त्री पुरुषों को) दुर्गति (नरक) में डाल दूँ ऐसा विचार कर अपनी शक्ति से उनका शरीर छोटा बनाकर उनको भरत क्षेत्र में लाया। यहाँ लाकर उनको राज्य देकर उन्हें सात व्यसन सेवन करना सिखलाया। तद्नंतर वे दोनों व्यसनी होकर, मरकर नरक गए। उनका वंश हरिवंश कहलाया। यहाँ पर भोगभूमि के जुगलिया को भरत क्षेत्र में लाना, उनके शरीर, आयु को घटाना तथा उनका मरकर नरक में जाना यह सब आश्चर्य है।

इस सातवें अष्ट्रे के कथन में अनेक सिद्धांत से विरुद्ध बातें हैं। पहली तो यह कि उस युगलिया का शरीर छोटा कर दिया। क्योंकि देवों में यद्यपि अपने शरीर में अणिमा महिमा आदि रूप से छोटा-बड़ा रूप करने की शक्ति होती है। किंतु उनमें यह शक्ति नहीं होती कि नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए किसी मनुष्य शरीर के आकार को घटा-बढ़ा देवे। क्योंकि यह कार्माण शक्ति का कार्य है। देव ही यदि अन्य जीवों के शरीर का आकार छोटा-बड़ा कर दें तो समझना चाहिए कि उनकी शक्ति नामकर्म से भी बढ़ाकर है। यदि ऐसी शक्ति उन किल्बिषक देवों में हो तो वे अपने शरीर का भी रंग-रूप-प्रभा आदि को बढ़ाकर ऊंचे देवों से भी अधिक सुंदर कर सकते हैं। किंतु ऐसा न तो होता है और न कोई साधारण देव ही क्या इंद्र अहर्निद्र भी ऐसा कर सकता है। अतः पहली सिद्धांत विरुद्ध बात तो उनके शरीर को छोटा करने की है।

दूसरी- सिद्धांत विरुद्ध बात यह है कि उस किल्बिषक देव ने उस युगलियों की आयु कम कर दी। हमारी समझ में नहीं आता कि कर्मसिद्धांत के जानकार श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों ने यह बात कैसे लिख दी है? क्या कोई देव किसी भी जीव की आयु कम कर सकता है? यदि ऐसा ही हो तो सब कुछ कर सकने वाले देव ही हो गए। पूर्व उपार्जित कर्मों में कुछ भी शक्ति नहीं हुई। आयुकर्म नाम मात्र का हुआ। क्योंकि हरि वर्ष के युगलिया के दो पत्य की अखंडनीय आयु का उदय था जिससे कि उसे अवश्य ही दो पत्य तक जीवित रहना चाहिए था। किंतु किल्बिषक देव ने उस की आयु घटा दी। इसका अभिप्राय यह होता है कि या तो श्वेताम्बरीय कर्मसिद्धांत झूठा है क्योंकि आयु को देव भी घटा सकते हैं। भले ही वह आयु कर्म की लंबी स्थिति के कारण बड़ी क्यों न हो। अथवा यदि श्वेताम्बरीय कर्मसिद्धांत सत्य है और तदनुसार आयु घटाने-बढ़ाने की शक्ति अन्य किसी में नहीं है स्वयं आयु कर्म में ही विद्यमान है तो कल्पसूत्र, प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रंथों को झूठा कहना पड़ेगा।

भोगभूमि के युगलियों की बंधी आयु किसी भी प्रकार कम नहीं हो सकती इस बात को श्वेताम्बरों का मान्य तत्वार्थाधिगम सूत्र अपने दूसरे अध्याय के ५२वें सूत्र-

'औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवत्यायुषः।'

से प्रगट करता है। ऐसी अवस्था में स्वयं श्वेताम्बर लोग तत्वार्थाधिगमसूत्र और कल्पसूत्र में से किसी एक ग्रंथ को प्रामाणिक कह सकते हैं और उन्हें दूसरे ग्रंथ को अप्रामाणिक अवश्य कहना पड़ेगा।

तीसरी- सिद्धांतविरुद्ध बात इस कथा में यह है कि भोगभूमिया मनुष्य स्त्री मरकर नरक को गए। भोगभूमि मनुष्य तिर्यच नियम से देवगति को प्राप्त होते हैं इस बात को स्वयं श्वेताम्बर ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं फिर हरिवर्ष का युगलिया मरकर नरक में कैसे जा सकता है? ऐसे गड़बड़पूर्ण सिद्धांतों और कथाओं से श्वेताम्बरीय ग्रंथों की अनेक बातें सत्य नहीं मानी जा सकती है।

इस प्रकार हरिवंश उत्पत्ति का उक्त कथानक सिद्धांतविरुद्ध है।

## केवलज्ञानी का घर में निवास

गृहस्थ को मोक्ष होना यह तो एक जुदी बात रही किंतु एक दूसरी अद्भुत बात श्वेताम्बरीय ग्रंथों में और भी पाई जाती है। वह यह कि केवलज्ञानी घर में छह मास तक रह सकते हैं। श्वेताम्बर आचार्य आत्मानंदजी ने अपनी सम्यक्त्वशाल्योद्धार पुस्तक के १५७वें पृष्ठ पर लिखा है कि-

‘कूर्मापुत्र केवलज्ञान पाने पीछे ६ महीने घर में रहे’ कहा है (यह ब्रूढिया विद्वान जेठमलजी का श्वेताम्बर संप्रदाय पर आक्षेप है) अब आत्मानंदजी इसका उत्तर देते हैं- जो गृहस्थवास में किसी जीवको केवलज्ञान होवे तो उसको देवता साधु का भेष देते हैं और उसके पीछे वे केवलज्ञानी विचरते तथा उपदेश देते हैं। परंतु कूर्मापुत्र को ६ महीने तक देवता ने साधु का भेष नहीं दिया और केवलज्ञानी जैसे ज्ञान में देखे तैसे करे। इस बात से जेठमल के पेट में क्यों शूल हुआ सो कुछ समझ में नहीं आता है।’

आत्मानंदजी के इस लेख से यह प्रमाणित हो गया कि कूर्मापुत्र नामक किसी गृहस्थ को बिना तपस्या, त्याग आदि किए ही अपने घर में केवलज्ञान हो गया और अर्हत हो जाने पर भी यह कूर्मापुत्र ६ मास तक साधारण मनुष्यों के समान घर में ही रहे। क्योंकि तब तक किसी देव ने वहाँ पर आकर उस कूर्मापुत्र के वस्त्र आभूषण आदि उतारकर वीरराग भेष नहीं बनाया था। शायद देव यदि भूल से १०/५ वर्ष तक भी नहीं आते तो कूर्मा पुत्र को १०/५ वर्ष तक घर में रहना पड़ता और यदि आयु समाप्ति के पहले तक भी संयोगवश किसी देव का उनके घर आगमन न होता तो उनको मोक्ष होने तक घर में ही रहना पड़ता तथा अंत तक वे सराग गृहस्थ के समान वस्त्र-आभूषणों से सुसज्जित रहते। इस प्रकार कूर्मापुत्र केवली का विहार देवों के अधीन रहा। अनंतचुष्टय प्राप्त कर लेने पर भी वे पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो पाए।

घर में रहते हुए वे अपने घर के बने हुए षड्स भोजन भी करते होंगे। क्योंकि श्वेताम्बर मतानुसार केवलज्ञानी भोजन करते हैं जो कि उनके लिए बनाया जाता होगा। इस प्रकार उद्दिष्टदोष वाला भोजन भी वे साधारण मनुष्यों के समान करते होंगे।

आत्मानंदी कहते हैं कि ‘केवलज्ञानी जैसे ज्ञान में देखे तैसे करें’ सो इससे क्या आत्मानंदजी के अनुसार केवलज्ञान हो जाने पर भी इच्छापूर्वक कोई काम किया जाता है?

न मालूम यह घटना किस सिद्धांत वाक्य के अनुसार सत्य प्रमाणित हो सकती है? और आत्मानंदजी का युक्तिशून्य उत्तर किस सैद्धांतिक नियम के अनुसार चरितार्थ हो सकता है? तथा क्या केवलज्ञान हो जाने पर भी केवलज्ञानी देवों द्वारा चलाने पर ही चल सकते हैं?

## क्या केवलज्ञानी नाटक भी खेलते हैं?

श्वेताम्बरीय कथा ग्रंथों में ऐसी-ऐसी कथाएँ उल्लिखित हैं जो कि सिद्धांतविरुद्ध तो हैं ही किंतु साथ ही वे अच्छी हास्यजनक भी हैं। हम यहां पर एक कथा ऐसी ही बतलाते हैं।

श्वेताम्बरीय परममान्य ग्रंथ भवगती सूत्र में कपिल नामक केवली के विषय में ऐसा लिखा है कि ‘उन्होंने चोरों को प्रतिबोध (आत्मज्ञान) कराने के लिए नाटक खेला था।’ इसी बात को श्वेताम्बरी आचार्य आत्मानंदजी ने सम्यक्त्वशाल्योद्धार पुस्तक के १५९वें पृष्ठ पर इस तरह से समाधान सहित दिखाया है-

‘श्री भवगती सूत्र में कहा है कि केवली हँसना, रमना, सोना, नाचना इत्यादि मोहनी कर्म का उदय न होवे और प्रकरण में “कपिल केवली ने चोरों के आगे नाटक किया” ऐसे कहा। (इसका) उत्तर-कपिल केवली ने ध्रुपद छंद प्रमुख कहके चोर प्रतिबोध और तालसंयुक्त छंद कहे तिसका नाम नाटक है परंतु कपिल केवली नाचे नहीं हैं।’

एक : आत्मानंदजी के इस लेख से यह प्रमाणित हो गया, कपिल केवली ने चोरों के आगे नाटक किया था, यह बात श्वेताम्बरी ग्रंथ में विद्यमान है। जेठमलजी की बलवती अखंडनीय शंका का जो कुछ आगमविरुद्ध, युक्तिशून्य, उपहासजनक उत्तर दिया है उसको प्रत्येक साधारण मनुष्य भी समझ सकता है।

दूसरे- मोहनीय कर्म समूल नष्ट हो जाने पर न तो रागभाव रहता है और न द्वेषभाव। केवल उपेक्षा भाव रहता है। ऐसा श्वेताम्बरीय सिद्धांत भी कहते हैं। फिर कपिल केवली ने चोरों को प्रतिबोध करने का क्यों उद्योग किया? इच्छापूर्वक किन्हीं विशेष मनुष्यों का उपकार करना रागभाव से शून्य नहीं। जबकि उन्होंने चोरों को आत्मज्ञान कराने के विचार से उनके सम्मुख नाटक तक खेला, तब यह कौन कह सकता है कि चोरों पर कपिल केवली को अनुराग नहीं था। अन्यथा वे अपनी विशेष चेष्टा क्यों बनाते?



तीसरे- ध्रुपद या ताल संयुक्त छंदों का गाना भी मोहनीय कर्म का ही कार्य है। आत्मानंदजी अथवा अन्य कोई विद्वान यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि गायन गाना मोहनीय कर्म के बिना भी हो जाता है। क्योंकि गायन अपना तथा अन्य का चित्त प्रसन्न करने के लिए ही गाया जाता है। इस कारण गायन कषायशून्य नहीं हो सकता।

चौथे- कपिल केवली को केवल चोरों को प्रतिबोध कराने की क्या आवश्यकता था? और यदि प्रतिबोध ही कराना था तो नाटक करने की ही क्या जरूरत आ पड़ी थी? क्या उनके अनन्त ज्ञान संयुक्त वचनों में इतनी शक्ति नहीं थी कि वे अपने उपदेश से ही चोरों को प्रतिबोध दे सकते हों?

नाटक अपना तथा दर्शकों का चित्त प्रसन्न करने के लिए सरागी पुरुष खेलते हैं। केवलज्ञानी नाटक खेलें यह श्वेताम्बरीय ग्रंथों के सिवाय अन्यत्र नहीं मिल सकता।

सारांश- यह है कि यदि कपिल ने वास्तव में चोरों को उपदेश देने के लिए नाटक किया था तो वह केवलज्ञानी तो दूर की बात रही किंतु छोटे गुण स्थान से साधु भी नहीं थे क्योंकि नाटक खेलना महाव्रतधारी साधु की चर्या के भी विपरीत है और सभ्य गृहस्थों के भी विरुद्ध है। यदि कपिल वास्तव में केवलज्ञानी अर्हंत थे तो उनसे नाटक नहीं खेला। अतएव नाटक खेलने की कथा का उल्लेख असत्य, अप्रमाणिक है, ऐसा मानना पड़ेगा।

## देव पर मार और स्वर्ग से निर्वासन

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के चौथे अध्याय के प्रथम सूत्र 'देवाच्चतुर्निकायाः' की सिद्धसेनगणिप्रणीत टीका में लिखा है-

दीव्यन्तीति देवाः स्वच्छन्दचारित्वात् अनवरतक्रीडासक्तचेतसः क्षुत्पिपासादि-भिर्नान्त्यन्तमान्धता इति भावार्थः ।

यानी जो स्वच्छन्दरूप से (स्वतंत्रता से) निरंतर (सदा) क्रीड़ा भोग विलासों में आसक्त रहते हैं, तथा भूख, प्यास आदि से बहुत नहीं सताए जाते हैं ऐसे देव होते हैं।

किंतु संगम देव के विषय में कल्पसूत्र में लिखा है कि-

एक बार सौधर्म स्वर्ग में इंद्र ने महावीर भगवान के अटल तपश्चरण की प्रशंसा की। उस प्रशंसा को सुनकर एक संगम देव ने प्रतिज्ञा की कि मैं महावीर स्वामी को

ध्यान तथा तपस्या से भ्रष्ट करूँगा। तद्नंतर उसने आत्मध्यान में लगे हुए महावीर स्वामी के ऊपर अनेक प्रकार के घोर उपद्रव किए। किंतु उन उपद्रवों से महावीर भगवान् रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। उसके पीछे उस देव ने ६ मास तक उनके भोजन में अंतराय किया जिससे उन्होंने ६ मास तक आहार ग्रहण नहीं किया। तद्नंतर भगवान् को तपश्चरण से चिगाने में अपने आपको असमर्थ जानकर वह अपने निवास स्थान प्रथम स्वर्ग को चला गया। भगवान् को जब तक अंतराय तथा उपद्रव होते रहे तब तक सौधर्म स्वर्ग के समस्त देव और इंद्र चिंतातुर एवं दुःखित रहे।

इसके पीछे कल्पसूत्र के ७४वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

'पछी भ्रष्ट थएल छे प्रतिज्ञा जेनी तथा श्याममुखवाला एवा ते संगम देव ने त्यां आवतो जोड़ने, इंद्र पराडमुख थड़ने देवों ने कहाँ के, अरे देवो आ दुष्ट कर्मचंडाल आवे छे माटे तेनुं दर्शनमण महापापों आपनारूं थाय छे, वली आणे आपणनो मोटो अपराध कर लो छे केमके तेणे आपने स्वामिने कदर्थना करी छे तेम आपणाथी डर्यो नथी, तो पापथी पण डर्यो नथी, माटे दुष्ट अने अपवित्र एवा, देवने स्वर्गमांथ कहाडी मेलो। एवी रीते आज्ञा अपाएला इंद्रनां सुभटोए तेने मुष्टि लाकडी आदिकनां मारथी मारीने तथा बीजा देव देवओए पण तेने निभूछीने हडकाया कुतरानी पेटे कहाडी मेल्यो। तेथी ठरी गएला अंगरानी पेटे निस्तेज थयो थे. तो परिवारविना फक्त एकांकी मंदराचलनां शिखर पर गयो तथा त्यां पोतानुं बाकी रहेलुं एक सागरोपमनुं आयुघ्य ते संपूर्ण करशे।'

अर्थात्- पीछे टूट चुकी है प्रतिज्ञा जिसकी ऐसे श्याममुख वाले संगमदेव को वहाँ आता देखकर इंद्र ने देवों से कहा कि हे देवो! यह दुष्ट, चांडाल संगम आ रहा है। इसको देखना भी महापाप दायक है। इसने हमारा बहुत भारी अपराध किया है क्योंकि इसने स्वामी महावीर भगवान् का अनादर किया है। उससे यह नहीं डरा तथा पाप से भी नहीं डरा। इस कारण दुष्ट, अपवित्र ऐसे इस देव को स्वर्ग में से निकाल दें। इंद्र की ऐसी आज्ञा पाकर इंद्र के योद्धाओं ने उसको लकड़ी, मुक्के आदि की मारसे मारा तथा अन्य देव देवियों ने उसको भर्त्सना देकर भटकारा, कुत्ते के समान स्वर्ग से निकाल बाहर किया। इस अपमान से बुझे हुए अंगारे के समान तेजरहित होकर वह अपने कुटुम्ब बिना अकेला मंदर पर्वत पर चला गया। वहाँ पर वह अपनी शेष रही एक सागर की आयु को पूर्ण करेगा।

यहाँ पर दो बातें सिद्धांत विरुद्ध है। एक तो यह कि संगम देव पर लात, घूसों, लकड़ी आदि की भारी मार पड़ी। क्योंकि देवों में न कभी परस्पर लड़ाई होती है और न कभी किसी देव पर मार ही पड़ती है। ऐसा जैन सिद्धांत है।

दूसरे- उस संगमक देव को स्वर्ग से बाहर निकाल दिया यह बात भी सिद्धांत विरुद्ध है क्योंकि देवों को अपने स्वर्ग स्थान से आयु पूर्ण होने के पहले किसी प्रकार कोई नहीं निकाल सकता। स्वर्ग से बाहर विहार करने के लिए वे अपनी इच्छा के अनुसार भले ही जाएँ। किसी के निकालने से वे नहीं निकल सकते।

तीसरे- इंद्र में यदि उस देव को दंडित करने की शक्ति ही थी तो वह उसको महावीर स्वामी पर उपसर्ग करते हुए तथा ६ मास तक भोजन में अंतराय करते समय भी रोक सकता था। ऐसा करने से उसके दोनों कार्य बन जाते।



## हाईकू

तेरा सो एक,  
सो सुख, अनेक में,  
दुःख ही दुःख।



खाओ पीयो भी,  
थाली में छेद करो,  
कहाँ जाओगे ?



बिना रस भी,  
पेट भरता, छोड़ो,  
मन के लड़ू।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## महाव्रती साधु क्या रात्रिभोजन करें?

जैन धर्म में अहिंसा व्रत को सुरक्षित रखने के लिए अन्य बातों के सिवाय रात्रि भोजन भी त्याज्य बतलाया है। तदनुसार अणुव्रती श्रावक को भी सूर्य अस्त हो जाने पर भोजन करने का निषेध जैन ग्रंथों में किया गया है। महाव्रती साधु के लिए तो यह रात्रि भोजन त्याग व्रत सर्वथा ही पालनीय है। इस बात को श्वेताम्बरीय ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं। तदनुसार अनेक गृहस्थ श्वेताम्बरी भारी विपत्ति आ जाने पर भी रात को पानी तक नहीं पीते हैं।

किंतु दुःख है कि श्वेताम्बरीय प्रसिद्ध बृहत्कल्प की टीका में महाव्रती साधु को रात्रि भोजन का भी विधान कर दिया है। जैसा कि सम्यक्त्वशाल्योद्धार के १४९वें पृष्ठ १०वें प्रश्नोत्तर में आत्मानंदजी की लेखनी से लिखा हुआ है।

‘श्री दशवैकालिक सूत्र में साधु के लिए रात्रि भोजन करना कहा है। उत्तर बृहत्कल्प के मूल पाठ में भी यह बात है परंतु तिसकी अपेक्षा गुरुगम में रही हुई है।’

इस प्रकार श्वेताम्बर समाज के प्रसिद्ध गुरु महाराज ने भी साधु के रात्रि भोजन का प्रतिवाद न करके उलटे उसकी पुष्टि कर दी। यह बात कितनी अनुचित, साधुचर्या के विपरीत, हास्यजनक और शिथिलाचार पोषक है, इसका विचार स्वयं पाठक महाशय कर लें। इतना हम अवश्य कहते हैं कि श्वेताम्बरीय ग्रंथों ने साधुचर्या को इतना ढीला किया है कि उसकी कुछ बातें साधारण गृहस्थ को भी लजाने वाली हो गई हैं।

## चरबी का लेप

संसार में सर्व साधारण रूप से रक्त, माँस, हड्डी, चमड़ा आदि पदार्थ अपवित्र माने जाते हैं। इसी कारण उनका उपयोग करना प्रायः सभी शास्त्रों ने निषिद्ध ठहराया है। लहू, माँस आदि पदार्थों के समान चरबी भी अपवित्र पदार्थ है। क्योंकि वह भी त्रस जीवों के शरीर का एक भाग है। अतएव किसी भी शास्त्रकार ने चर्बी का व्यवहार करना उचित नहीं बतलाया है। किंतु श्वेताम्बरीय जैन शास्त्रों ने मद्य, माँस आदि पदार्थों के

समान ही चरबी का उपयोग करना भी बतला दिया है। यह आदेश किसी ऐसे वैसे भी श्वेताम्बर ग्रंथों में नहीं है किंतु बृहत्कल्प सरीखे ग्रंथ में विद्यमान है।

इस बात को स्वयं श्वेताम्बर आचार्य आत्मानंदजी ने अपने 'सम्यक्त्वशाल्योद्धार' ग्रंथ में १६७वें पृष्ठ पर यों लिखा है।

‘श्री बृहत्कल्पसूत्र में चरबी का लेप करना कहा है।’

यदि कोई अजैन मनुष्य जैन धर्म के अहिंसातत्त्व के ऐसे विधानों का आश्रय लेकर हँसी उड़ावे और जैन धर्म की निंदा करे तो हमारे श्वेताम्बरी भाई उसका क्या उत्तर दे सकेंगे? इस बात का स्वयं पाठक महोदय विचार करें।



## हाईकू

जैस दूध में,  
बूरा पुरा पूरता,  
वैसा घी क्यों ना।

□□□

गुब्बारा फूटा, क्यों  
मत पूछो, पूछो,  
फुलाया क्यों था

□□□

हमारे दोष,  
जिनसे गले धुले,  
वे शत्रु कैसे ?

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## संघ भेद का इतिहास

श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों ने अपने श्वेताम्बर संप्रदाय की उत्पत्ति की जो बनावटी कल्पना की है। उसको सुनकर हँसी आती है। उनका बनावटी कथन स्वयं उनको असत्य सिद्ध करते हुए दिगम्बर संप्रदाय को पुरातन सिद्ध करता है।

इस बनावटी कथा को प्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु आत्मानंदजी ने तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रंथ के ५४२-५४३ और ५४४ वें पृष्ठों पर यों लिखा है-

‘रहवीर-रथवीरपुर नगर तहाँ दीपकनामा उद्यान तहाँ कृष्णानाम आचार्य समोसरे (पधारे) तहाँ रथवीरपुर नगर में एक सहस्त्रमल्ल शिवभूतिनाम करके पुरुष था तिसकी भार्या तिसकी माता के साथ (सासु के साथ) लड़ती थी कि तेरा पुत्र दिन प्रतिदिन आधी रात्रि को आता है, मैं जागती और भूखी प्यासी तब तक बैठी रहती हूँ। तब तिसकी माता ने अपनी बहू से कहा कि आज तू दरवाजा बंद करके सो रहे और मैं जागूंगी। बहू दरवाजा बंद करके सो गई, माता जागती रही। सो पुत्र अर्द्धरात्रि गये आया। दरवाजा खोलने को कहा। तब तिसकी माता ने तिरस्कार से कहा कि इस बखत में जहाँ उघाड़े दरवाजे हैं तहाँ तू जा, सो वहाँ से चल निकला। फिरते फिरते (उसने) साधुओं का उपाश्रय उघाड़े दरवाजा देखा तिस में गया। नमस्कार करके कहने लगा मुझको प्रब्रजा (दीक्षा) देओ। तब आचार्यों ने ना कही। तब आप ही लोच कर लिया। तब आचार्यों ने तिसको जैनमुनि का वेष दे दिया। तहाँ से सर्व विहार कर गए। वे आचार्य कितनेक काल पीछे फिर तिसनगर में आए। राजा ने शिवभूति को रत्नकंबल दिया था, उसे देखकर आचार्यों ने कहा ऐसा वस्त्र यति को लेना उचित नहीं। तुमने किस वास्ते ऐसा वस्त्र ले लीना? ऐसा कहके तिसको बिना ही पूछे आचार्यों ने तिस वस्त्र के टुकड़े करके रजोहरण के निशीथिये कर दीने। तब सो गुरुओं से कषाय करता हुआ।’

‘एकदा प्रस्तावे गुरु ने जिनकल्याण स्वरूप कथन करा जैसे जिन कल्पी साधु दो प्रकार के होते हैं। एक तो पाणिपात्र (हाथों में भोजन करने वाला) और ओढ़ने के वस्त्रों रहित (नमन) होता है। दूसरा पात्रधारी (खाने-पीने के बर्तन अपने साथ रखने वाला) वस्त्रों करके सहित होता है।... पहिला भेद जो पाणिपात्र और वस्त्ररहित कहा है सो ही आठ विकल्पों में से प्रथम (उत्कृष्ट) विकल्प वाला जानना।’

‘जब आचार्यों ने जिनकल्याण ऐसा स्वरूप कथन करा तब शिवभूमि ने पूछा कि किस वास्ते आप अब इतनी उपाधि रखते हो? जिनकल्प क्यों नहीं धारण करते हो? तब गुरु ने कहा कि इस काल में जिनकल्पकी समाचारी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि जंबूस्वामी के मुक्ति गमन पीछे जिनकल्प व्यवच्छेद हो गया है। तब शिवभूति कहने लगा कि जिनकल्प व्यवच्छेद हो गया क्यों कहते हो? मैं करके दिखाता हूँ। जिनकल्प ही परलोकार्थी को करना चाहिए। तीर्थकर भी अचेल (नग्न) थे। इस वास्ते अचेलता ही अच्छी है। तब गुरुओं ने कहा देह के सद्भाव हुए भी कषाय मूर्छादि किसी को होते हैं तिस वास्ते देह भी तैरे को त्यागने योग्य है और अपरिग्रहपणा मुनि को सूत्र के कहा है सो धर्मोकरणों में भी मूर्छा न करनी और तीर्थकर भी एकांत अचेल नहीं थे क्योंकि कहा है कि सर्व तीर्थकर एक देवदृष्य वस्त्र लेके संसार में निकले हैं, यह आगम का वचन है। ऐसे गुरुओं ने तिसको समझाया भी, तो भी कर्मोदय करके वस्त्र छोड़ के नग्न होके जाता रहा। ...तिस शिवभूति ने दो चले करे- १ कौडिन्य २ कोष्टवीर। इन दोनों की शिष्यपरंपरा से कालांतर में मत की वृद्धि हो गई। ऐसे दिगम्बर मत उत्पन्न हुआ।’

दिगम्बर संघ की उत्पत्ति की यह कथा इसी रूप में अन्य श्वेताम्बर ग्रंथों में भी लिखी है।

विचारशील सज्जन यदि विचार करें तो कल्पित कथा उलटी श्वेताम्बर ग्रंथों के अभिप्राय में बाधा खड़ी करती है क्योंकि साधारण मनुष्य भी इसको पढ़कर यह समझ सकता है कि दिगम्बर संप्रदाय लाखों- करोड़ों वर्ष पहले से ही नहीं किंतु जैन धर्म के आदि प्रवर्तक भगवान् श्री ऋषभदेव के समय से ही विद्यमान था। वीर निर्वाण संवत् ६०९ के पीछे ही नवीन उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि महाव्रतधारी साधु भगवान् ऋषभदेव के समय से ही होने लगे थे। महाव्रतधारी साधु श्वेताम्बरी ग्रंथों के लिखे अनुसार तथा स्वयं मुनि आत्मानंदजी के लिए अनुसार दो प्रकार के होते हैं। एक तो पाणिपात्र जो कि बिलकुल परिग्रहहित नग्न दिगम्बर होते हैं। श्वेताम्बरीय ग्रंथों के मतानुसार वे ही सबसे ऊंचे दर्जे के साधु होते हैं। इन ही पाणिपात्र साधुओं के दिगम्बर संप्रदाय में महाव्रतधारी साधु (मुनि) माना गया है। दूसरे- पात्रधारी-यानी कपड़े, बर्तन, दंड आदि परिग्रह के धारण करने वाले साधु होते हैं। जैसे आजकल श्वेताम्बरीय साधु दिख पड़ते हैं जिनको कि दिगम्बरीय संप्रदाय में नवमी-दशमी, सातवीं-आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक बतलाया गया है। पाणिपात्र वस्त्ररहित नग्न उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु भगवान् ऋषभदेव से समय से ही होते आये हैं, ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं। तदनुसार

श्वेताम्बरीय ग्रंथों से तथा श्वेताम्बरीय मुनि आत्मानंदजी के मुख से स्वयं सिद्ध हो गया कि जब से जैन धर्म का उदयकाल है, नग्न दिगम्बर साधु तब से ही होते हैं।

कल्पसूत्र संस्कृत टीका के प्रथम पृष्ठ पर आचेलक्य कल्प के विषय में इस प्रकार स्पष्ट लिखा है-

आचेलक्यामिति-न विद्यते चेलं वस्त्रं यस्य सोचेलकस्तस्य भावः अचेलकत्वं विगतवस्त्रत्वं इत्यर्थः।

इसकी गुजराती टीकावाले कल्प सूत्र के प्रथम पृष्ठ पर यों लिखा है-

‘जेने चेल एटले वस्त्र न होय तो अचेलक कहेवाय। ते अचेलकनो भाव ते आचेलक्य अर्थात् वस्त्ररहितपणुं। ते तीर्थकरोने रहेलुं छे तेमां पेहेला अने छेल्ला तीर्थकरों ने शक्रेन्द्रे लावी आपेला देवदूष्य वस्त्रनो अपगम थवाथी तेओने सर्वदा अचेलकत्वा एटलो वस्त्ररहितपणुं छे अने बीजा तीर्थकरों ने भी सर्वदा सचेलकत्व वस्त्रसहितपणुं छे। आ विषे किरणावली टीकाकारे जो चौबीस तीर्थकरोने पण शक्र इन्द्रे देवदूष्य वस्त्रना अपगम थवाथी अचेलकपणुं कह्युं छे ते शक भरे लुं छे।’

अर्थात्- जिस साधु के पास कोई कपड़ा नहीं होता उसको अचेलक (नग्न) कहते हैं। अचेलक के भाव को आचेलक्य यानी नग्नपना कहते हैं। वह नग्नपना तीर्थकरों के आश्रय से रहा आया है। उनमें से पहले और अंतिम तीर्थकर के इंद्र द्वारा लाकर दिए गए देवदूष्य वस्त्र के हट जाने से उनके सदा अचेलकत्व यानी नग्न वेष रहा है और अन्य तीर्थकरों के सो सदा सचेलकत्व यानी वस्त्र-सहितपना है। इस विषय में किरणावली टीकाकार जो चौबीसी तीर्थकरों के इंद्र द्वारा दिए गए देवदूष्य वस्त्र हट जाने से नग्नपना कहता है सो संदेह भरी हुई बात है। कल्पसूत्र के इस लेखसे यह सिद्ध हुआ कि श्वेताम्बरीय ग्रंथकार जैन साधुओं के नग्न दिगम्बर वेष को केवल दो हजार वर्ष पहलेसे ही नहीं किंतु भगवान् ऋषभदेव केसमय से ही स्वीकार करते हैं। कतिपय श्वेताम्बरीय ग्रंथकार (किरणावली टीकाकार आदि) समस्त तीर्थकरों की साधु अवस्था को नग्न दिगम्बर रूप में मानते हैं और लिखते हैं। फिर मुनि आत्मानंदजी के लिखने में कितनी सत्यता है इसका विचार स्वयं श्वेताम्बरी भाई करें।

समस्त राजवैभव, धनसंपत्ति का परित्याग करने पर भी तीर्थकर इंद्र के दिए हुए लाखों रुपए के मूल्य वाले देवदूष्य कपड़े को अपने पास क्यों रखते हैं? उस वस्त्र से उनके साधु चारित्र में क्या सहायता मिलती है? इंद्र इस देवदूष्य वस्त्र को तीर्थकरों के कंधे पर रख देता है। फिर उस वस्त्र को तीर्थकर ओढ़ लें तो उनके वस्त्र के ममत्वभाव

होने से परिग्रह का दोष क्यों नहीं। और ओढ़ने नहीं तो वह वस्त्र कंधे पर सदा रक्खा कैसे रह सकता है? उठने, बैठने, चलने, ठहरने आदि दशा में शरीर के हिलने चलने से तथा हवा आदि से दूर क्यों नहीं हो जाता? समस्त परिग्रह छोड़ देने पर उस अमूल्य देवदूष्य वस्त्र को स्वीकार करके अपने पास रखने की तीर्थकरों को आवश्यकता क्या है? यदि देवदूष्य वस्त्र रखकर भी तीर्थकर निर्दोष रहते हैं तो मुकुट, अंगरखा, धोती, दुपट्टा आदि वस्त्र पहन कर भी निर्दोष क्यों नहीं रह सकते? इत्यादि अनेक प्रश्न ऐसे हैं जो कि तीर्थकरों के देवदूष्य वस्त्र रखने की कल्पना को एक दम उड़ा देते हैं।

कल्पसूत्र के ६६वें पृष्ठ पर उल्लेख है कि-

‘हवे एवी रीते श्रमण भगवंत श्री महावीर स्वामी एक वर्ष अने एक मास सुधि वस्त्रधारी रह्या। तेवार पछी वस्त्र रहित ह्या तथा हाथ रूपीज पात्र वाला रह्या।’

यानी- इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी एक वर्ष एक महीने तक वस्त्र धारी रहे। उसके पीछे वस्त्र रहित नग्न ही रहे और हाथ रूपी पात्र में भोजन करने वाले हुए।

कल्पसूत्र के इस लेख से यह सिद्ध हुआ कि १३ मास पीछे अंत समय तक स्वयं भगवान् महावीर स्वामी नग्न दिगम्बर साधु रहे। फिर ऐसा होने पर तत्त्वनिर्णयप्रासाद के ५४२वें पृष्ठ पर लिखा हुआ मुनि आत्मानंद का ‘श्री महावीर भगवंत के निर्वाण हुआ पीछे ६०९ वर्षे वोटिकों के मत की दृष्टि अर्थात् दिगम्बर मत की श्रद्धा रथवीरपुर नगर में उत्पन्न हुए’ यह लेख कैसे मेल खा सकता है? इन दोनों में से या तो कल्पसूत्र का कथन असत्य होना चाहिए अथवा तत्त्वनिर्णय प्रासाद का लेख असत्य होना चाहिए।

किंतु कल्पसूत्र का कथन तो इसलिए असत्य नहीं कि आचारांग सूत्र आदि ग्रंथों में भी भगवान् ऋषभदेव, महावीर आदि तीर्थकरों के नग्न दिगम्बर वेष का उल्लेख है तथा सर्वोत्कृष्ट जैन साधु जिनकल्पी मुनि का नग्न दिगम्बर होना ही बतलाया है जिसको स्वयं मुनि आत्मानंदजी भी स्वीकार करते हैं। अतएव दो हजार वर्षों से ही दिगम्बर मत की उत्पत्ति कहने वाला आत्मानंदजी का लेख ही असत्य है।

हम को बहुत भारी आश्चर्य तो मुनि आत्मानंदजी की (जिनको श्वेतांबरी भाई अपना प्रख्यात कलियुगी सर्वज्ञ आचार्य मानते हैं अतएव पालीताना के मंदिरों में उनकी पाषाण प्रतिमा विराजमान करके पूजते हैं) समझ पर आता है कि उन्होंने दिगम्बर संघ की उत्पत्ति कहने वाली कल्पित कथा लिखते समय यह विचार नहीं किया कि हमारे इस कल्पित लेख से भी दिगम्बर मत की प्राचीनता ही सिद्ध होती है।

विचार करने का विषय है कि प्रथम तो रथवीरपुर और उसमें रहने वाला शिवभूति कोई पुरुष नहीं हुआ। किसी भी दिगम्बर शास्त्र में उसका रंच मात्र उल्लेख नहीं। केवल कल्पित उपन्यास या गल्प के ढंग पर कपोलकल्पित कथा जोड़ने के लिए श्वेताम्बरीय ग्रंथों में रथवीरपुर और शिवभूति का नाम लिख दिया है।

दूसरे- यदि कपोल कल्पित रूप से रथवीरपुर नगर तथा उसके रहने वाले शिवभूति का अस्तित्व मान भी लिया जाए तथापि दिगम्बर संघ की उत्पत्ति वीर निर्वाण सं. ६०९ अथवा विक्रम सं. १३८ में न होकर लाखों- करोड़ों वर्ष पहले के जमाने से अर्थात् प्रथम तीर्थकर के समय से ही सिद्ध होती है। क्योंकि इन कल्पित कथा का लिखने वाला स्वयं कहता है कि ‘एक समय गुरु ने जिन कल्प का स्वरूप वर्णन किया जिसमें उत्तम जिनकल्पी साधु वस्त्र रहित (नग्न) पाणिपात्र हाथों में भोजन करने वाले बतलाया।’ यदि नग्न वेष (दिगम्बर) के धारण करने वाले साधु पहले समय में नहीं होते थे तो श्वेतांबरी गुरु ने उनका स्वरूप कैसे बतलाया? स्वरूप तो उसी का कहा जाता है जो पहले विद्यमान हो। गंधे का सींग यदि संसार में अब तक कहीं नहीं पाया गया तो अब तक उसकी मूर्ति का वर्णन भी किसी ने नहीं किया। अतः सिद्ध होता है कि उत्तम जिन कल्पधारी साधु अर्थात् दिगम्बर मुनि पहले जमाने से ही पाए जाते थे।

यदि जिनकल्पधारी अर्थात् नग्न दिगम्बर साधु पहले जमाने से ही होते आए हैं जैसा कि स्वयं मुनि आत्मानंदजी कल्पित कथाकार की ओर से कहते हैं कि ‘जम्बूस्वामी के मुक्ति गमन पीछे जिनकल्प का (अर्थात् दिगम्बर संघ का) व्यवच्छेद हो गया’ तो फिर दिगम्बर संघ की मूल उत्पत्ति जम्बु स्वामी के ६०० वर्ष पीछे कहना भारी हास्यजनक मूर्खता है। इस प्रकार कल्पित कथा का लिखने वाला स्वयं अपने मुख से आप झूठा ठहरता है। उसको अपने आगे पीछे के कथन का रंचमात्र भी बोध नहीं था। आश्चर्य इतना है कि आत्मानंद भी इस बुद्धि शून्य मूलभरी कथा को सत्य मानकर प्रमाण रूप से लिख गए।

अब जरा कल्पित कथा पर भी ध्यान दीजिए। शिवभूति को अपनी माता की फटकार मिलने पर वैराग्य हो गया। वह रात्रि के समय ही उपाश्रय में साधुओं के पास पहुँचा और अपने साधु बनने की प्रार्थना की। साधुओं ने उसको दीक्षा देने का निषेध कर दिया। (रात्रि को महाव्रती साधु बोलते नहीं हैं फिर उसको निषेध कैसे किया?) तब शिवभूति अपने आप लोंच करके साधु हो गया। जब वह केशलॉच करके साधु बन गया, तब उन आचार्यों ने भी उसे दीक्षा दे दी। फिर आचार्य वहाँ से चले गए। राजा ने उस शिवभूति साधु को रत्नकंबल दिया, उसने ले लिया। कुछ समय पीछे जब आचार्यों ने फिर उस नगर में आकर शिवभूति के पास रत्नकंबल देखा तो कहना न

माना, तो आचार्यों ने गुप्त रूप से उसका कंबल ले लिया और उसके टुकड़े करके रजोहरण (ओघा-पीछी) के निशीथिये बिना दिए। फिर किसी समय उन आचार्यों ने उत्कृष्ट जिनकल्पी साधुओं का स्वरूप बतलाया तब शिवभूति साधु आचार्यों के निषेध करने पर भी समस्त वस्त्र, बर्तन, बिस्तर, कंबल, लाठी आदि परिग्रह को छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनि (उत्कृष्ट जिन कल्पी) हो गया।

यहाँ पर प्रथम तो यह बात विचार करने की है कि रात के समय साधु बोलते नहीं। ध्यान, सामायिक आदि में लगे रहते हैं। वचन गुप्ति (मौन) धारण करते हैं फिर उन्होंने शिवभूति को साधु दीक्षा देने का निषेध कैसे किया? यदि सचमुच निषेध किया ही तो उन श्वेतांबरी आचार्यों को सिद्धांत प्रतिकूल स्वच्छंद विहारी मानना चाहिए।

दूसरे- शिवभूति को साधु की दीक्षा देने के लिए उन आचार्यों ने प्रथम इन्कार (निषेध) क्यों किया? और थोड़ी देर पीछे ही उसको साधु दीक्षा क्यों दे दी?

तीसरे- शिवभूति ने रत्न कंबल लेकर श्वेताम्बरीय सिद्धांत के अनुसार अन्याय कौनसा किया जिसको न रखने के लिए आचार्यों ने उसको कहा, क्योंकि श्वेतांबरी ग्रंथों में सर्वत्र लिखा है कि महाव्रत धारण करते समय तीर्थकर भी सौधर्म इंद्र के दिए हुए दिव्य, बहुमूल्य देवदृष्य वस्त्र को अपने पास रखते हैं। शिवभूति तो उन तीर्थकरों की अपेक्षा नीचे दर्जे का साधु था तथा उसका रत्न कंबल भी तीर्थकरों के देवदृष्य वस्त्र से बहुत थोड़े मूल्य वाला वस्त्र था।

चौथे- आचार्यों ने शिवभूति के बिना पूछे उसका रत्न कंबल क्यों लिया? क्या दूसरे की वस्तु बिना पूछे ग्रहण करना चोरी पाप नहीं है? जिसके कि साधु लोग बिल्कुल त्यागी होते हैं। उसमें भी आचार्य तो साधुओं को प्रायश्चित्त देने वाले होते हैं। फिर भला उन्हें दूसरे की बहुमूल्य वस्तु बिना पूछे उठाकर चोरी का पाप करना कहाँ तक उचित है।

पाँचवें- जब शिवभूति से रत्नकंबल ही छुड़वाना था तो उस कंबल को दूर क्यों नहीं फेंक दिया, टुकड़े करके निशीथिये क्यों बना दिए? क्या निशीथिये बना देने से रत्न कंबल का बहुमूल्यपना न रहा? तथा साधु को निशीथिये रत्न कंबल के बनाकर अपने पास रखने की आज्ञा भी कहाँ है?

छठे- उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु का स्वरूप सुनकर जब शिवभूति अपने वस्त्र, पात्र छोड़कर नग्न रूप धारण कर उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु हो गया, तब उसने अन्याय कौनसा किया। जिससे कि श्वेताम्बरीय ग्रंथकार उसको मिथ्यादृष्टि कहकर अपनी बुद्धिमानी प्रगट करते हैं। शिवभूति ने सबसे ऊँचे दर्जे का जिनकल्पी साधु बनकर साधुचर्या का उन्नत आदर्श ही संसार को दिखलाया जो कि आप लोगों के कहे अनुसार

जम्बू स्वामी के मुक्त हुए पीछे कठिन तपस्या के कारण भले ही बंद हो गया था। उत्तम धर्मानुकूल कार्य करने पर मिथ्या दृष्टि कहना श्वेताम्बर ग्रंथकारों का बुद्धि से बेर करना है।

सातवें- शिवभूति ने नवीन पंथ ही क्या चलाया? नग्न दिगम्बर जैन साधु आपके कल्पसूत्र आदि ग्रंथों के कहे अनुसार भगवान् ऋषभदेव के जमाने से होते चले आए हैं तथा कल्पित कथाकार के लेखानुसार जम्बूस्वामी तक वस्त्र रहित (नग्न) जिनकल्पी साधु होते रहे हैं। फिर शिवभूति के जिनकल्पी साधु बनने की बात को कौन बुद्धिमान पुरुष नवीन कह सकता है? नवीन पंथ वह ही कहलाता है जिसको पहले किसी ने न चलाया हो।

आठवें- कल्पित कथाकार ने विक्रम संवत् की दूसरी शताब्दी में (१३८वें वर्ष में) दिगम्बर पंथ की उत्पत्ति बतलाया है, किंतु समयसार, षट्पाहुड, रयणसार, नियमसार आदि आध्यात्मिक ग्रंथों के रचयिता श्री कुंदकुंदाचार्य प्रथम शताब्दी (४९वें वर्ष में) हुए हैं जो कि शिलालेखों आदि प्रमाणों से प्रमाणित हैं। कुंदकुंदाचार्य नग्न दिगम्बर साधु ही थे यह सारा संसार समझता है। फिर दिगम्बर पंथ दूसरी शताब्दी में उत्पन्न हुआ कैसे कहा जा सकता है। दूसरी शताब्दी में भी कल्पित कथाकार द्वारा बतलाए १३८वें वर्ष वाले समय के पहले १२५वें वर्ष में गंधहस्तिमहाभाष्य, रत्नकरंड, स्वयंभूस्तोत्र आदि अनुपम ग्रंथ रत्नों के निर्माता संसार प्रख्यात आचार्य श्री समंतभद्र हुए हैं जिनके विषय में श्वेताम्बर ग्रंथकार श्री हेमचंद्राचार्य अपने सिद्ध हेमशब्दानुशासन नामक व्याकरण ग्रंथ के द्वितीय सूत्र की व्याख्या में स्वयंभूस्तोत्र के 'नयास्तव स्यात्पदसत्थलांछिताः' इत्यादि श्लोक का उल्लेख करते हैं तथा श्री मलयगिरिसूरि अपने आवश्यक सूत्र की टीका में- 'आद्यस्तुतिकार' शब्द से उल्लेख करते हैं। ये समंतभद्राचार्य दिगम्बर साधु ही थे। जब वे वि.सं. १२५ में हुए तब दिगम्बर पंथ की उत्पत्ति विक्रम सं. १३८ में बतलाना कितनी भारी मोटी अनभिज्ञता है?

नौवें- विक्रम संवत् प्रचलित होने से पहले जो प्राचीन अजैन ग्रंथकार हुए हैं उन्होंने अपने ग्रंथों में जैन साधुओं का स्वरूप नग्न, दिगम्बर रूप में ही उल्लेख किया है, श्वेताम्बर रूप में कहीं नहीं बतलाया। इन प्रमाणों को हम आगे प्रगट करेंगे। फिर दिगम्बर पंथ की उत्पत्ति विक्रम संवत् की दूसरी शताब्दी कैसे कही जा सकती है?

इस कारण दिगम्बर पंथ की उत्पत्ति के विषय में जो कथा श्वेतांबरी ग्रंथकारों ने लिखी है वह असत्य तो है ही किंतु उलटी उनकी हँसी कराने वाली भी है तथा उनके अभिप्राय पर पानी फेरने वाली है।

# संघभेद का असली कारण

## श्री भद्रबाहु की कथा

भगवान् श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर स्वामी तक जो जैन धर्म एक धारा के रूप में चला आया वही जैन धर्म भगवान् महावीर के मुक्त हुए पीछे दिगम्बर, श्वेताम्बर रूप में विभक्त कैसे हो गया इसकी कथा भी बड़ी करुणाजनक तथा दुःख उत्पादक है। असह्य विपत्ति शिर के ऊपर आ जाने पर धीर वीर मनुष्य का हृदय भी धार्मिक पथ से किस प्रकार विचलित हो जाता है, स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थ पोषण के लिए संसार का पतन कर डालने को भी अनुचित नहीं समझते, इसका पूर्ण रंगीन चित्र इस कथा से प्रगट होता है। कथा इस प्रकार है।

आज से २५१९ वर्ष पहले अंतिम तीर्थंकर श्री १००८ महावीर भगवान ने मोक्ष प्राप्त की है। तदनंतर ६२ वर्षों में गौतमस्वामी, सुधर्मा स्वामी और जंबू स्वामी ये तीन केवलज्ञानी हुए। इन तीन केवल ज्ञानियों के पीछे १०० वर्ष के समय में श्री विष्णु मुनि, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली यानी पूर्ण श्रुतज्ञानी हुए। इनमें से अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु के समय में जो कि वीर निर्वाण संवत् १६२ अथवा विक्रम संवत् से ३०७ वर्ष पहले का है, १२ वर्ष का भयानक दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ा था। उसी दुर्भिक्ष के समय बहुत से जैन साधु मुनिचारित्र से भ्रष्ट हो गए और दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने पर उनमें से कुछ साधु प्रायश्चित्त लेकर फिर शुद्ध नहीं हुए। हठ करके उन्होंने अपना भ्रष्ट स्वरूप ही रखा। बस उन्हीं भ्रष्ट साधुओं ने श्वेताम्बर मत को जन्म दिया। खुलासा विवरण इस प्रकार है।

इस भारत वर्ष के पौड्वर्द्धन देश में कोटपुर नगर था। उस नगर में सोम शर्मा नामक एक अच्छा विद्वान् ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री सोमश्री थी। उस सोमश्री के उदर से एक अनुपम, होनहार, बुद्धिमान बालक का जन्म हुआ। उस बालक की भद्र (मनोहर) शरीर आवृत्ति देखकर लोगों ने उस बालक का नाम भद्रबाहु रखा। बाचतीच करने, खेल खेलने, उठने-बैठने आदि व्यवहारों से वह अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय लोगों को देने लगा।

एक समय श्री गोवर्द्धन नामक श्रुतकेवली (समस्त द्वादशांग श्रुतज्ञान के पारगामी)

गिरनार क्षेत्र की यात्रा करके अपने संघ सहित लौट रहे थे। मार्ग में कोटपुर नगर पड़ा। इस नगर के बाहर भद्रबाहु अन्य लड़कों के साथ खेल रहा था। उस समय खेल यह हो रहा था कि कौन लड़का कितनी गोलियों को एक-दूसरे के ऊपर चढ़ा सकता है? इस खेल के समय ही श्री गोवर्द्धन आचार्य भी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि किसी लड़के ने चार गोली एक-दूसरे के ऊपर चढ़ाई तो किसी ने पाँच गोलियाँ चढ़ाई। आठ गोलियों से अधिक कोई भी बालक गोलियों को एक-दूसरे के ऊपर खड़ा न कर सका।

किंतु जब भद्रबाहु की बारी आई तब भद्रबाहु ने कुशलता से एक-दूसरे से ऊपर रखते हुए चौदह गोलियाँ चढ़ाकर ठहरा दीं। जिसको देखकर खेलने वाले सभी लड़कों को तथा देखने वाले श्री गोवर्द्धन आचार्य के संघवाले सब मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ।

गोवर्द्धन स्वामी आठ अंग निमित्तों के ज्ञाता थे यानी- आठ प्रकार के निमित्तों को देखकर आगामी होने वाली शुभ-अशुभ बात को जान लेते थे। उन्होंने भद्रबाहु की खेलने की चतुराई का निमित्त देखकर तथा उसके शरीर के शुभ लक्षण जानकर निश्चय किया कि यह बाल ग्यारह अंग, चौदह पूर्वों का ज्ञाता श्रुतकेवली होगा। जिस समय उन्होंने उसका नाम पूछा तब तो उनको पूर्ण निश्चय हो गया कि श्री महावीर भगवान ने जो भद्रबाहु अंतिम श्रुतकेवली का होना बतलाया है सो वह श्रुतकेवली यह बालक ही होगा।

ऐसे निर्णय करके श्री गोवर्द्धन स्वामी ने भद्रबाहु से कहा कि हे महाभाग! चलो, तुम हमको अपने घर पर ले चलो। भद्रबाहु श्री गोवर्द्धन स्वामी को अपने घर पर ले गया। वहाँ पर भद्रबाहु के माता-पिता ने श्री गोवर्द्धन स्वामी को, ऊँचे आसन पर बिठाकर बहुत सत्कार किया। तब श्री गोवर्द्धन आचार्य ने उनसे कहा कि तुम्हारा भद्रबाहु एक अच्छा होनहार बालक है। यह समस्त विद्याओं का पारगामी अनुपम विद्वान होगा सो तुम इसको पढ़ने के लिए मुझको दे दो। मैं इसको समस्त शास्त्र पढ़ाऊँगा।

भद्रबाहु के माता पिता ने प्रसन्न मुख से कहा कि महाराज! यह बालक आपका ही है। आपको पूर्ण अधिकार है कि आप इसे अपने मन के अनुसार अपने पास रखकर चाहे जो अध्ययन करावें। हमको इस विषय में बोलने का कुछ अधिकार नहीं। ऐसा कहकर उन दोनों ने भद्रबाहु को प्यार करके आशीर्वाद देकर श्री गोवर्द्धन आचार्य के साथ खाना कर दिया।

गोवर्द्धन स्वामी के पास रहकर भद्रबाहु समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने लगा। गुरु ने परोपकारिणी बुद्धि से भद्रबाहु को अच्छी तरह पढ़ाया और भद्रबाहु ने भी गुरु के

विनय, आज्ञापालन आदि गुणों से गुरु के हृदय को प्रसन्न करते हुए थोड़े से समय में समस्त शास्त्र पढ़ लिए। ज्ञानावरण कर्म के प्रबल क्षयोपशम को प्राप्त कर तथा गुरु गोवर्धन का अनुग्रह पूर्ण प्रसाद पाकर भद्रबाहु ने सिद्धांत, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, छन्द आदि सब विषय तथा ग्यारह अंग, चौदह पूर्व, समस्त अनुयोग पढ़कर धारण कर लिए।

समस्त विद्याओं में पारगामी हो जाने पर भद्रबाहु ने अपने गुरु श्री गोवर्द्धन स्वामी से अपने माता पिता के पास जाने के लिए विनयपूर्वक आज्ञा माँगी। गोवर्द्धन स्वामी ने आशीर्वाद देकर भद्रबाहु को घर जाने की आज्ञा दे दी।

भद्रबाहु अपने को अनुपम विद्वान जानकर जब अपने घर पहुँचे तो उनके माता पिता उनको देखकर बहुत प्रसन्न हुए। भद्रबाहु की प्रखर विद्वता की प्रशंसा सर्वत्र होने लगी।

एक दिन भद्रबाहु अपने नगर के राजा पद्मधर की राजसभा में पधारे। राजा ने भद्रबाहु का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए उच्चासन दिया। राजसभा में और भी अनेक अभिमानी विद्वान विद्यमान थे। उन्होंने भद्रबाहु की विद्वता परखने के लिए भद्रबाहु के साथ कुछ छेड़छाड़ की। फिर क्या था, भद्रबाहु ने बात की बात में समस्त अभिमानी विद्वानों को अपनी गंभीर वाग्मिता से जीत लिया। उस समय स्याद्वाद सिद्धांत तथा जैन धर्म का राजसभा के समस्त सभासदों के ऊपर बहुत भारी प्रभाव पड़ा। राजा पद्मधर ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। इस भारी विजय के कारण भद्रबाहु का यश दूर-दूर तक फैल गया।

अपने माता पिता के पास घर में रहते हुए कुछ दिन बीत गये। एक दिन भद्रबाहु को संसार की निःसार दशा देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ। वे घर को विकट जाल अथवा कारावास (जेलघर) समझने लगे। कुटुम्ब परिवार का प्रेम उन्हें विष समान मालूम होने लगा। सांसारिक पदार्थ उन्हें विषफल के समान दिखने लगे। इस कारण उन्होंने घर-परिवार को छोड़कर साधु बनकर वन में रहने का निश्चय किया।

इस विचार को प्रगट करते हुए जब भद्रबाहु ने अपने माता पिता से मुनि बनने के लिए आज्ञा मांग ली तब उनके माता पिता ने गृहस्थाश्रम का सब प्रकार लोभ दिखलाते हुए वैराग्य से भद्रबाहु का चित्त फेरना चाहा। किन्तु भद्रबाहु सच्चे तत्त्वज्ञानी थे। संसार के भोगों की निष्फलता तथा साधु जीवन का महत्त्व उनके हृदय पटल पर अच्छी प्रकार अंकित हो चुका था। इस कारण वे गृहस्थाश्रम के लोभ में तनिक भी नहीं फँसे। पुत्र

का दृढ़ निश्चय देखकर भद्रबाहु के माता पिता ने भद्रबाहु को साधु बनने की अनुमति दे दी।

श्री भद्रबाहु स्वामी अपने माता पिता की आज्ञा पाकर मुनि दीक्षा ग्रहण करने के लिए अपने विद्यागुरु श्री गोवर्द्धन स्वामी के समीप गए। वहाँ पहुँचकर उनके चरण कमलों में मस्तक रखकर भद्रबाहु ने गद्गाद् स्वर में प्रार्थना की कि हे पूज्य गुरु! जिस प्रकार आपने मुझको अनुग्रहपूर्ण हृदय से ज्ञान प्रदान किया है उसी प्रकार अब मुझको निर्वाण दीक्षा देकर चारित्रदान भी कीजिये। मैं सांसारिक विषयभोगों से भयभीत हूँ। मुझे विषयभोग विषभोजन के समान और कुटुम्ब परिजन विषभरे नाग के समान दृष्टिगोचर होते हैं। इनसे आप मेरी रक्षा कीजिए।

श्री गोवर्द्धन स्वामी ने प्रसन्न मुख से आशीर्वाद देते हुए कहा कि वत्स! तुमने बहुत अच्छा विचार किया है। तत्व ज्ञान का अभिप्राय ही यह है कि जिस पदार्थ को अपना स्वार्थनाशक समझे उसका साथ छोड़ने में तनिक भी देर न करें। तपस्या करके आत्मा को शुद्ध बनाना यह ही मनुष्य का सच्चा स्वार्थ है। इस परमार्थ को सिद्ध करने के लिए जो तुमने निश्चय किया है वह बहुत अच्छा है।

ऐसा कहकर गोवर्द्धन स्वामी ने भद्रबाहु को विधिपूर्वक असंयम, परिग्रह का त्याग कराकर साधु दीक्षा दी। भद्रबाहु दीक्षित होकर साधुचर्या पालन करते हुए अपना जीवन सफल समझने लगे।

जैन रत्न स्वयं सुंदर पदार्थ है। किन्तु सुवर्ण में जड़कर उसकी कांति और भी अधिक मनोमोहिनी हो जाती है, इसी प्रकार भद्रबाहु स्वामी का अगाध ज्ञान स्वयं प्रकाशमान गुण था। अब यह मुनिचारित्र के संयोग से और भी अधिक सुंदर दिखने लगा। भद्रबाहु स्वामी को सर्वगुण संपन्न देखकर गोवर्द्धन स्वामी ने उन्हें एक दिन शुभ मुहूर्त में मुनिसंघ का आचार्य बना दिया, आचार्य बनकर भद्रबाहु मुनि संघ की रक्षा करने लगे।

कुछ दिनों पीछे गोवर्धनाचार्य ने अपना मृत्यु समय निकट आया जानकर चार आराधनाओं की आराधना कर समाधि धारण की और अंतिम समय समस्त आहार पान का त्याग करके इस मानव शरीर को छोड़कर स्वर्गों में दिव्य शरीर धारण किया।

श्री गोवर्द्धन आचार्य के स्वर्गारोहण करने के पीछे भद्रबाहु आचार्य अपने मुनिसंघ सहित दिशान्तरों में विहार करने लगे। विहार करते हुए भद्रबाहु स्वामी मालव देश के उज्जयिनी (उज्जैन) नगर के निकट उद्यान में आकर ठहरे। उस समय भारत वर्ष का एकछत्र राज्य करने वाला सम्राट चंद्रगुप्त उज्जयिनी में ही निवास करता था।



उसको रात्रि में अंतिम पहर में सोते हुए १६ सोलह स्वप्न दिखाई दिए। १-कल्पवृक्ष की शाखा टूट गई है। २. सूर्य अस्त होता हुआ देखा। ३. चंद्रमा के मंडल में बहुत से छेद देखे। ४ बारह फण वाला सर्प दिखलाई दिया। ५. देव का विमान पीछे लौटता हुआ दिखा। ६. अपवित्र स्थान में (धूल कूड़े करकट में) फूला हुआ कमल देखा। ७. भूत प्रेतों को नाचते-कूदते देखा। ८. खद्योत (पटवीजना जुगनु) का प्रकाश देखा। ९. एक किनारे पर थोड़े से जल का भरा हुआ और बीच में सूखा ऐसा तालाब देखा। १०. सोने के थाल में कुत्ते को खीर खाते हुए देखा। ११. हाथी के ऊपर बंदर को सवार देखा। १२. समुद्र को अपने किनारों की मर्यादा तोड़ते देखा। १३. छोटे छोटे बछड़ों से खिंचता हुआ रथ देखा। १४. ऊँट के ऊपर चढ़ा हुआ राजपुत्र देखा। १५. धूल से ढँके हुए रत्नों का ढेर देखा तथा १६. काले हाथियों का आपस में युद्ध देखा।

इन अशुभ स्वप्नों को देखकर चंद्रगुप्त को कोई भारी अनिष्ट होने की आशंका होने लगी। इस कारण उसका चिंतातुर हृदय उन अशुभ स्वप्नों का फल जानने के लिए व्यग्र हो उठा। प्रातः काल होते ही नित्य नियम समाप्त करके जैसे ही राजसभा में पहुँचकर राजसिंहासन पर बैठा कि उद्यान के वन पालने उनके सामने अनेक प्रकार के फल फूल भेंट करके निवेदन किया कि महाराज। उद्यान में श्रुत केवली श्री भद्रबाहु आचार्य अपने संघ सहित पधारे हैं।

यह शुभ समाचार सुनकर चंद्रगुप्त को हर्ष हुआ। उसने विचार किया कि आज मेरी चिंता श्री भद्रबाहु के दर्शन से दूर हो जाएगी। यह विचार कर उसने हर्षित होकर वनपाल को अच्छा पारितोषक दिया और नगर में आनंद की भेरी बजवाई। नगर निवासी जनता ने श्री भद्रबाहु आचार्य का आगमन जानकर हर्ष मनाया।

सम्राट चंद्रगुप्त भद्रबाहु आचार्य के समीप वंदना करने के लिए अपने मंत्रिमंडल, मित्र, परिकर, कुटुम्ब, परिजन सहित बड़े समारोह से चला। नगर की जनता भी उसके पीछे पीछे चली।

उद्यान में पहुँचकर चंद्रगुप्त ने बहुत विनय भाव पूर्वक भद्रबाहु स्वामी के चरणों में नतमस्तक होकर प्रणाम किया। फिर यथास्थान बैठ जाने पर चंद्रगुप्त ने हाथ जोड़कर भद्रबाहु स्वामी के सन्मुख रात्रि को देखे हुए १६ अशुभ स्वप्न कह सुनाए और उनका फल जानने की इच्छा प्रकट की।

भद्रबाहु स्वामी ने कहा कि वत्स, १६ अशुभ स्वप्न पंचमकाल में होने वाली घोर अवनति के बतलाने वाले हैं। उनका फल मैं क्रम से कहता हूँ सो तू सावधान होकर सुन।

पहले स्वप्न का फल यह है कि इस कलिकाल में अब पूर्ण श्रुतज्ञान अस्त हो जाने वाला है। अर्थात् अब आगे कोई भी द्वादशाङ्ग का श्रुतकेवली नहीं होगा।

दूसरे स्वप्न का फल है कि अब आगे कोई भी राजा लोग जैन धर्म धारण कर संयम ग्रहण नहीं करेंगे। तीसरा स्वप्न बतलाता है कि जैन मत के भीतर भी अनेक भेद हो जाएँगे। चौथे स्वप्न का फल है कि अब बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष (अकाल) होगा। पाँचवा स्वप्न कहता है कि इस कलिकाल में कल्पवासी आदि देव, विद्याधर, चारणमुनि नहीं आवेंगे। छठे स्वप्न का फल यह है कि उत्तम कुल वाले क्षत्रिय आदि कुलीन मनुष्य कलिकाल में जैन धर्म ग्रहण नहीं करेंगे। जैन धर्म पर निम्न कुल वालों को रुचि उत्पन्न होगी। सातवें स्वप्न का फल है कि इस कलियुग में भूत पिशाचादि कुद्वेषों की श्रद्धा जनता में बढ़ेगी। आठवाँ स्वप्न कहता है कि कलिकाल की विकराल प्रगति से जैन धर्म का प्रकाश बहुत मंद हो जाएगा। नौवें स्वप्न का फल है कि जिन अयोध्या आदि स्थानों पर तीर्थक्षेत्रों के जन्म आदि कल्याणक हुए हैं वहाँ पर जैन धर्म का नाश होगा किन्तु दक्षिण देश में जैन धर्म की सत्ता बनी रहेगी। दशवें स्वप्न का फल है कि धनसम्पत्ति का उपभोग करने वाले निम्न जाति के मनुष्य होंगे। ग्यारहवाँ स्वप्न हाथी पर चढ़ा हुआ बंदर देखा उसका फल यह है कि राज्य करने वाले निम्न जाति होंगे। क्षत्रिय राज्यहीन होंगे। बारहवें स्वप्न का कहना है कि प्रजापालक राजा लोग नीतिमार्ग छोड़कर अनीतिमार्ग पर चलेंगे। तेरहवें स्वप्न का फल है कि कलिकाल में तपश्चरण करने के भाव मनुष्यों को अपनी छोटी अवस्था में ही होंगे। वृद्ध दशावाले लोग संयम नहीं ग्रहण करेंगे। चौदहवें स्वप्न ऊँट पर चढ़ा हुआ राजपुत्र देखने का फल यह है कि राजा लोग अहिंसा छोड़कर हिंसक बनेंगे। पंद्रहवाँ स्वप्न धूल के ढके हुए रत्नों के देखने का फल यह है कि साधु लोग भी परस्पर एक दूसरे की निंदा करेंगे। अंतिम सोलहवें स्वप्न का फल यह है कि बादल ठीक समय पर वर्षा नहीं करेंगे। यानी अतिवृष्टि, अनावृष्टि प्रायः हुआ करेगी।

सम्राट चंद्रगुप्त अपने १६ दुस्वप्नों के ऐसे अशुभ फल होते जानकर संसार से भयभीत हो गया। उसने शरीर, धन, कुटुम्ब, राज्य शासन आदि की असारता समझकर साधु बनकर तपस्या करना ही उत्तम समझा। ऐसे प्रबल वैराग्य भाव से प्रेरित होकर राजसिंहासन पर बैठ राज्य करना जंजाल मालूम हुआ। इस कारण उसने अपने पुत्र सिंहसेन को जिसका कि दूसरा नाम बिन्दुसार था, राजसिंहासन पर बैठाया और उसको राज्य शासन के समस्त अधिकार देकर आप श्री भद्रबाहु आचार्य से मुनि दीक्षा लेकर साधु बन गया। दीक्षा ग्रहण करते समय भद्रबाहु आचार्य ने उसका चंद्रगुप्त नाम बदलकर प्रभाचंद्र रख दिया।

एक दिन भद्रबाहु गोचरी के लिए नगर में गये वहाँ पर जिनदास सेठ ने उनका आह्वान किया। तदनुसार जब आचार्य घर के भीतर भोजन करने घुसे तब एक छोटे से बालक ने भद्रबाहु को घर में आते देखकर कहा कि “जाओ-जाओ” भद्रबाहु स्वामी ने उससे पूछा कि कितने समय के लिए जावें? उस अबोध बालक ने कहा कि १२ वर्ष के लिए। यह सुनकर भद्रबाहु आचार्य अंतराय समझकर बिना आहार ग्रहण किए ही वहाँ से लौटकर वन में चले गए।

वहाँ पर पहुँचकर श्री भद्रबाहु आचार्य ने अपने समस्त मुनिसंघ को पास में बुलाया और उन सबसे कहा कि अब इधर मालवदेश में १२ वर्ष का भयानक दुर्भिक्ष पड़ने वाला है जिसमें लोगों को अन्न का कण मिलना भी दुर्लभ हो जाएगा। उस भयानक समय में पात्रदान आदि शुभ कार्य बंद हो जावेंगे। उस समय इस देश में मुनिसंघ का विहार असंभव हो जावेगा। अतएव जब तक यहाँ दुर्भिक्ष रहे तब तक कर्णाटक आदि दक्षिण देशों में विहार करना चाहिए। भद्रबाहु स्वामी की आज्ञा समस्त मुनिसंघ ने स्वीकार की।

जब यह बात उज्जैन के श्रावकों ने सुनी तब वे सब मिलकर संघ के अधिपति श्री भद्रबाहु स्वामी के पास आये और आकर प्रार्थना करने लगे कि महाराज। आप मालव देश में ही विहार कीजिए, दक्षिण देश की ओर न जाइए।

भद्रबाहु स्वामी ने कहा कि श्रावक लोगो! तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु यहाँ पर १२ वर्ष तक घोर दुष्काल रहेगा जिससे लोगों को एक दाना भी खाने को न मिलेगा। उस भयानक समय में इस देश के भीतर मुनिधर्म का पालना असंभव हो जाएगा।

तब कुबेरमित्र, जिनदास, माधवदत्त, बंधुदत्त सेठों ने क्रम से कहा कि महाराज! आपके अनुग्रह से हमारे पास पर्याप्त धन-धान्य है। यदि इस नगर के समस्त मनुष्य भी १२ वर्ष तक हमारे यहाँ भोजन करते रहें तो भी हमारे भंडार का अन्न समाप्त नहीं हो सकेगा। इस कारण दुर्भिक्ष कितना भी भयानक क्यों न हो, हम अपने भंडारों को खोलकर दुष्काल का प्रभाव इस उज्जैन नगर में रंचमात्र भी नहीं पड़ने देंगे।

भद्रबाहु आचार्य ने कहा कि तुम लोगों की उदारता ठीक है। धनधान्य का उपयोग परोपकार के लिए ही होना सफल है, उत्तम कार्य है। किन्तु निमित्त यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि इस देश के व्यापक दुर्भिक्ष की भयानकता, न सह सकने योग्य दुर्दशा को कोई भी किसी प्रकार भी नहीं मिटा सकेगा। इस कारण मुनिधर्म की रक्षा होना यहाँ पर असंभव है।

भद्रबाहु स्वामी का ऐसा दृढ़ निश्चय देखकर श्रावक लोग राजमल्य स्थूलभद्र, स्थूलाचार्य के समीप गये और उनसे प्रार्थना करके दुर्भिक्ष के कुसमय में भी वहाँ पर ही ठहरने का निवेदन किया। श्रावकों का बहुत आग्रह देखकर उन्होंने वहाँ पर ठहरना स्वीकार कर लिया। उनके संघ के अन्य साधु भी उनके साथ वहाँ पर ठहर गये। शेष बारह हजार साधुओं को अपने साथ लेकर श्री भद्रबाहु आचार्य दक्षिण की ओर चल दिये।

भद्रबाहु आचार्य अपने संघ सहित विहार करते करते श्रवण बेल गुल के समीप वन में पहुँचे। वहाँ पर उनको किसी निमित्त से यह मालूम हो गया कि अब मेरी आयु बहुत थोड़ी रह गई है। ऐसा समझकर उन्होंने समाधिमरण के लिए संन्यास धारण करने का विचार किया। उन्होंने अपना विचार मुनिसंघ के सामने प्रगट किया। फिर अपने आचार्य के पद पर सर्वगुणों से सुशोभित दशपूर्व के धारी विशाख मुनि को प्रतिष्ठित किया और उन विशाखाचार्य के साथ समस्त मुनियों को चोलपाण्ड्य देश में जाने की आज्ञा दी।

भद्रबाहु स्वामी के पास वैयावृत्य (सेवा) करने के लिए प्रभाचंद्र मुनि (पूर्व नाम सम्राट, चंद्रगुप्त) रह गये। वहाँ कटवप्र पर्वत पर एक गुफा के भीतर भद्रबाहु स्वामी संन्यास धारण करके रहने लगे। प्रभाचंद्र मुनि उनकी सेवा करने लगे। कुछ दिन पीछे अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी समाधिपूर्वक स्वर्ग यात्रा कर गये। प्रभाचंद्र मुनि वहाँ पर ही तपश्चरण करने लगे।

उधर उत्तर भारत वर्ष में विन्ध्याचल तथा नील पर्वत के मध्यवर्ती देशों में दुर्भिक्ष का प्रारंभ हुआ। जलवर्षा एक वर्ष नहीं हुई, दो वर्ष नहीं हुई, तीन वर्ष नहीं हुई। दरिद्र लोगों के सिवाय साधारण जनता के पास भी खाने के लिए अन्न नहीं रहा। उधर उज्जैन में कुबेर मित्र आदि सेठों ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भूखे लोगों को खाने के लिए अन्नदान प्रारंभ कर दिया। उज्जैन के सिवाय अन्य नगर के दरिद्र लोगों ने जब यह सुना तो वे भी अपनी भूख मिटाने के लिए चारों ओर से उज्जैन आ गये और सबके सब कुबेरमित्र आदि सेठों की दानशाला में आ गये। सेठों की दानशालाओं ने कुछ दिनों तक काम चलाया भी। किन्तु मांगने वालों की संख्या दिनोंदिन कई गुणी अधिक बढ़ जाने से फिर काम चलाना उनकी शक्ति से बाहर हो गया।

अब अन्य नगरों के समान उज्जैन नगर का भी भयानक, करुणाजनक दृश्य बढ़ने लगा। भूखे लोगों ने पेड़ों के पत्ते खाना प्रारंभ किया। यहाँ तक कि किसी भी वृक्ष

पर एक पत्ती तक न छोड़ी। तदन्तर वृक्षों की छाल खाना प्रारंभ किया, वह भी सब खा डाली। घासआदि जहाँ जो कुछ दिखा पड़ा क्षुधापीड़ित लोगों ने खा पी डाला।

उसके पीछे खाने के लिएकुछ भी वस्तु न मिलने पर सड़कों पर, मकानों के सामने लोग भूख से रोने पीटने चिल्लाने लगे। माता पिताओं ने क्षुधापीड़ित होकर ऐसी निर्दयता धारण की कि वे अपने अपने छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर अपनी क्षुधा मिटाने के लिए इधर-उधर भटकने लगे। फिर कुछ न पाकर जमीन पर पड़कर प्राण देने लगे। सैकड़ों मनुष्य तड़प-तड़प कर, छटपटाते हुए बिलख-बिलख कर प्राण देने लगे। उनकी प्यास मिटाने के लिए उनको पानी देने भी कोई नहीं मिलता था।

ऐसे विकट समय में श्री रामल्य, स्थूलभद्र तथा स्थूलाचार्य ने मुनिसंघ के लिए बहुत भारी कठिनता उत्पन्न हो गई। वे उस समय भद्रबाहु स्वामी के वचन का स्मरण करने लगे।

एक दिन संघ के साधु भोजन करके जब वन में वापस जा रहे थे उस समय एक साधु पीछे रह गये क्षुधापीड़ित निर्दय मनुष्यों ने उनको पकड़ लिया और उनका शरीर चीर डाल। चीरकर उनके शरीर का कलेवर खा गये। ऐसा अनर्थ सुनकर उज्जैन में हाहाकार मच गया। ऐसे अनर्थों को रोक देने के लिए उज्जैन के समस्त श्रावक आचार्यों के निकट जाकर प्रार्थना करने लगे कि महाराज! यह समय बड़ा भयानक है। इस समय आपका भोजन करके वन में जाना बहुत भयानक है। इस समय आप मुनिधर्म की रक्षा के लिए कृपा करके नगर में पधारिए। वहाँ आपको एकांत स्थानों में ठहरने से मुनिचर्या में कोई अड़चन न आवेगी।

श्रावकों का निवेदन उचित समझकर तीनों आचार्यों ने वन छोड़कर नगर में रहना स्वीकार कर लिया। श्रावक लोग उनको नगर में बहुत उत्सव के साथ ले आये और नगर के अनेक मकानों में ठहरा दिया।

नगर में आकर मुनिसंघ को वन में लौटने के समय क्षुधापीड़ित रङ्ग लोगों से जो बाधा होती थी सो तो अवश्य मिट गई। किन्तु दूसरी बाधा यह आ खड़ी हुई कि जब वे आहार लेने श्रावकों के घर जाते तभी भूखे दीन दरिद्र लोग भोजन पाने की आशा में उन मुनियों के साथ हो जाते थे। जब उनको किसी प्रकार से दूर हटाते थे तो वे दीन करुणा जनक स्वर से विलाप करते थे जिससे मुनि अन्तराय समझकर बिना अहार लिये लौट जाते थे।

अंतराय का दूसरा कारण यह भी होता था कि श्रावक लोग दरिद्र लोगों को घर

में घुस आने के भय से दिनभर घर का द्वार बंद रखते थे। मुनि जब आहार के लिए उनके घर पर जाते थे, दरवाजा बंद देखकर लौट जाते थे। इस आपत्ति को दूर करने के लिए श्रावक लोगों ने आचार्यों के समीप पहुँचकर विनयपूर्वक प्रार्थना की कि महात्मन यह समय बहुत भारी संकट का है। इस समय मुनिधर्म की रक्षा के लिए आपको इस प्रकार निराहार रहना ठीक नहीं। दिन में घर पर आकर भोजन लेना असंभव हो रहा है। इस कारण इस विपत्ति काल में आप हमारी यह प्रार्थना स्वीकार करें कि रात्रि के समय भोजन पात्रों में लें जाकर दिन में खा लिया करें। ऐसा किये बिना काम नहीं चल सकता।

आचार्यों ने पहले तो यह बात अनुचित समझकर स्वीकार नहीं की किन्तु अंत में कुछ और उचित उपाय न देखकर दुष्काल के रहने तक यह बात भी स्वीकार कर ली। तदनुसार रामल्य आदि आचार्यों की आज्ञानुसार प्रत्येक मुनि को आहार पान लाने के लिए काठ के पात्र मिल गये। उन पात्रों को लेकर प्रत्येक मुनि रात्रि के समय श्रावकों के घर जाता और वहाँ से भोजन लेकर अपने स्थान पर आकर दूसरे दिन खा लिया करता।

रात्रि के समय श्रावकों के घर आते जाते समय सड़क-गलियों के कुत्ते मुनियों की ओर भौंकते और उन्हें काटने दौड़ते। खाली हाथों वाले अहिंसा महाव्रतधारी साधुओं को यह भी बहुत बाधा खड़ी हो गई। यदि कुत्तों को भगाने के लिए वे कपड़ों में बंधे पात्रों की पोटी से काम लेते तो भोजन खराब होता था। अन्य भी किसी प्रकार कुत्तों से बचने का उपाय उनके पास नहीं था। इस कारण उनके परिणामों में व्याकुलता उत्पन्न होने लगी।

इस बाधा को दूर करने के लिए समस्त श्रावकों ने आचार्य महाराज से सविनय प्रार्थना की कि महाराज! नगर में रहते हुए कुत्तों की बाधा से बचने के लिए एक उपाय केवल यह है कि सब साधु महाराज अपने अपने पास एक-एक लाठी अवश्य रखें। उस लाठी के भय से कुत्ता, चोर, बदमाश आपको बाधा नहीं पहुँचा सकेंगे।

दुष्काल की विकराल दशा को देखकर आचार्यों ने श्रावकों का यह कहना भी स्वीकार कर लिया। फिर उस दिन से प्रत्येक साधु अपने पास एक-एक लाठी रखने लगा, जिसे कि डरकर कुत्तों ने भी साधुओं को आते जाते काटना बंद कर दिया।

एक बार रात्रि के समय एक क्षीण शरीर वाले मुनि लाठी, पात्र लिए यशोभद्र सेठ के घर भोजन लेने गये। तब उसकी गर्भवती स्त्री धनश्री उन मुनि का नग्न काला भयंकर शरीर देखकर डर गई। वह एक दम इतनी डर गई कि उसको गर्भपात हो गया।

जिससे उस घर में हाहाकार मच गया। साधु भी अंतराय समझकर अपने स्थान को बिना भोजन लिए लौट गए।

दूसरे दिन आचार्यों के निकट श्रावकों ने आकर यशोभद्र सेठ के घर सेठानी के गर्भपात का समाचार सुनाया और विनयपूर्वक निवेदन किया कि गुरु महाराज। आप स्वयं समझते हैं कि ऐसे भयानक समय में मुनिधर्म की रक्षा करना बहुत आवश्यक है। उसकी रक्षा के लिए आपने जैसे हमारी प्रार्थना सुनकर नगर में रहना, लाठी पात्रों का रखना आदि स्वीकार कर लिया है। उसी प्रकार कृपा करके एक चादर तथा एक कंबल शरीर को ढँकने के लिए रखना भी अवश्य स्वीकार कर लीजिए। अन्यथा काम चलना बड़ा कठिन है। साधु के नमन शरीर के कारण ही यशोभद्र की सेठानी का भयभीत होकर गर्भपात हो गया। जिस समय दुर्भिक्ष समाप्त हो जाए उस समय आप यह सब उपाधि त्यागकर शुद्ध मुनिवेष धारण कर लेना।

आचार्यों ने यह विचार किया कि दुर्भिक्ष का अंत होने पर हमारे इन दोषों का भी अंत हो जायेगा। हम प्रायश्चित्त लेकर पुनः शुद्ध हो जावेंगे। यदि हम इस समय कपड़े न पहनें तो हमारा रहना बहुत कठिन है। यदि हम तथा हमारे संघ के मुनि न रहे तो जैन धर्म के प्रचार में बहुत बाधा आवेगी। अतः इस समय वस्त्र धारण करना भी आवश्यक है। यह विचार कर उन्होंने श्रावकों की बात स्वीकार कर ली और मुनियों को आज्ञा दी कि प्रत्येक मुनि चादर तथा कंबल पहने ओढ़ें।

आचार्यों की आज्ञानुसार तब से प्रत्येक साधु कपड़े भी पहनने ओढ़ने लगे।

इस प्रकार एक-एक आपत्ति को दूर करने के लिए वस्त्र, पात्र, लाठी रखना, श्रावकों के घर से भोजन लाकर अपने स्थान पर खाना, रात्रि में आना जाना, नगर में रहना इत्यादि अनेक अनुचित बातें जो कि मुनिधर्म के प्रतिकूल थीं, इन रामल्य, स्थूलभद्र, स्थूलाचार्य ने तथा उनके संघ में रहने वाले साधुओं ने स्वीकार कर ली।

दुर्भिक्ष बारह वर्ष के विकट व दीर्घ समय को काटकर क्रमशः समाप्त हुआ पर इस चक्कर में कितने मनुष्य, पशु-पक्षी किस बुरी दशा से छटपटाते हुए प्राण छोड़ गये इसको सर्वज्ञदेव के सिवाय और कोई नहीं जानता।

बारह वर्ष तक चोल पाण्ड्य (दक्षिण कर्णाटक) देशों में विहार करते हुए विशाखाचार्य उत्तरी भारत वर्ष में दुर्भिक्ष का अंत समझकर अपने समस्त मुनिसंघ सहित मालव देश की ओर चल पड़े। मार्ग में जहाँ श्रवण बेलगुल के समीप कटवप्र पर्वत पर भद्रबाहु स्वामी और उनके अनन्य भक्त प्रभाचंद्र मुनि को (पूर्वनाम चंद्रगुप्त) छोड़ा था,

आकर ठहरे। यहाँ पर प्रभाचंद्र मुनि से भद्रबाहु स्वामी के समाधि मरण का समाचार पूछा। फिर प्रभाचंद्र मुनि को भी अपने साथ लेकर मालवा देश के लिए विशाखाचार्य ने प्रयाण किया। तथा वे चलते चलते मार्ग में जैन धर्म का प्रचार करते हुए क्रम से मालव देश में आ पहुँचे।

समस्त संघसहित विशाखाचार्य को मालव देश में आया हुआ जानकर रामल्य, स्थूलभद्र, स्थूलाचार्य ने (इनमें स्थूलाचार्य सबसे वृद्ध थे) एक मुनि को भेजकर विशाखाचार्य के पास यह संदेश भेजा कि आप उज्जैन पधारकर हम सब लोगों को दर्शन दीजिए। हम आपके दर्शनों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

संदेश लाने वाले मुनि को कपड़े पहने हुए, साथ में भोजन पात्र रखे हुए तथा हाथ में लाठी लिए हुए देखकर विशाखाचार्य के हृदय में बहुत दुःख हुआ। उन्होंने उस मुनि से कहा कि परिग्रह त्याग महाव्रत स्वीकार करते हुए तुम लोगों ने संसार वृद्धि का कारण, रागभाव का उत्पादक यह दंड पात्र वस्त्र आदि परिग्रह क्यों स्वीकार कर लिया है? क्या जैन साधु का ऐसा स्वरूप होता है।

संदेश लाने वाले साधु ने नीची आँखें करके दुर्भिक्ष का सारा वृतांत और प्रबल बाधाओं को हटाने के लिए लाठी, पात्र, कपड़े आदि रखने की कथा विशाखाचार्य को कह सुनाई।

विशाखाचार्य ने यह कहकर उसको विदा किया कि तुम लोगों ने दुर्भिक्ष के समय देश में रहकर ऐसा उन्मार्ग चलाया यह ठीक नहीं किया। खैर, अब छेपोपस्थापना प्रायश्चित्त लेकर इस प्रतिकूल मार्ग को छोड़कर फिर उसी पहले निग्रंथ नग्न मुनिवेश को तथा निर्दोष मुनि चारित्र को धारण करो।

उस मुनि ने स्थूलाचार्य अपर नाम शांति आचार्य के पास जाकर विशाखाचार्य की कही हुई समस्त बातें कह सुनाई। विशाखाचार्य का संदेश सुनकर स्थूलाचार्य को अपनी भूल मालूम हुई। उन्होंने समस्त मुनियों को अपने पास बुलाकर विशाखाचार्य का संदेश कहा और मधुर शब्दों में समझाया कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए आप लोगों ने साधुचर्या स्वीकार करके महाव्रत धारण किये हैं। इन महाव्रतों में तथा मुनिचारित्र में दुर्भिक्ष के कारण जो दोष उत्पन्न हो गये हैं उन दोषों को दूर करते हुए प्रायश्चित्त ग्रहण करके शुद्ध होना आवश्यक है। ऐसा किये बिना तुम्हारी कठिन तपस्या और यह मुनिचर्या निष्फल है। जिन आज्ञा के विरुद्ध आचरण पालने से मिथ्यात्व भाव हृदय में प्रवेश करता है। जिस प्रकार सफेद वस्त्र पर जरा सा धब्बा भी सब किसी को दिखता है उसी प्रकार

हम लोगों की चर्या के दोष सारे संसार को दृष्टिगोचर है। इस निमित्त से संसार में जैन धर्म का बहुत उपहास होगा।

स्थूलाचार्य का (अपरनाम शांति आचार्य का) यह उपदेश अनेक भद्र साधुओं को हितकर मालूम हुआ इस कारण उन्होंने अपने मलित चारित्र को परिशोध करते हुए वस्त्र, लाठी, पात्र आदि उपाधि छोड़कर पहले सरीखा नग्न, निर्ग्रन्थ वेश धारण कर लिया।

किन्तु कुछ साधुओं को स्थूलाचार्य का यह उपदेश ऐसा अप्रिय महसूस हुआ जैसे वेश्या गामी-व्यसनी पुरुष को व्याभिचार की निंदा और ब्रह्मचर्य की प्रशंसा सुनकर बुरा मालूम होता है। उन्होंने स्थूलाचार्य से कहा कि पूज्यवर आपका कथन सत्य है किन्तु द्रव्य, क्षेत्र,कालभावकों अपने अनुकूल देखकर प्रवृत्ति योग्य है। यह कलिकाल बड़ा विकराल काल है। इस भयानक समय में मनुष्यों का शरीरहीन संहनन वाला होने से निर्बल होता है। नग्न रहकर लज्जा, सर्दी-गर्मी आदि विकट बाधाओं को जीतना बहुत बलवान शरीर का काम है। हम लोग इस निर्बल शरीर को लेकर नग्न किस प्रकार रह सकते हैं?

स्थूलाचार्य ने कहा कि यदि तुम लोग नग्न रहकर परीषह नहीं सह सकते हो तो बहुत उत्तम बात यह होगी कि मुनिचारित्र छोड़कर ग्यारहवीं प्रतिमा का श्रावकचारित्र धारण करो जिससे तुम्हारा उत्साह, इच्छा भी न गिरने पावे और जैन साधुओं का भी संसार में उपहास न होने पावे। मार्ग एक ही ग्रहण करो। या तो मुनि चारित्र पालना स्वीकार हो तो ये लाठी, पात्र, वस्त्र छोड़कर नग्न निर्ग्रन्थ वेश धारण करो। अथवा यदि वस्त्र नहीं छोड़ना चाहते हो तो ऊँची श्रेणी का गृहस्थ आचरण पालना स्वीकार करो। महाव्रतधारी जैन मुनि नाम रखकर गृहस्थों की सी क्रियाएँ रखना सर्वथा अनुचित है।

स्थूलाचार्य का यह उत्तर सुनकर मुनियों ने फिर कहा कि नग्न निर्ग्रन्थ वेश धारण करने की तो हमारे शरीर तथा आत्मा में शक्ति नहीं और गृहस्थ चारित्र इसलिए नहीं पालना चाहते हैं कि फिर हमारा अपमान होगा। संसार हमारी हीन दशा देखकर हँसी उड़ाएगा। फिर हमको कोई भी महाव्रतधारी मुनि न कहेगा और इसी कारण हमारा फिर इतना आदर सत्कार, सम्मान भी नहीं होगा।

तब स्थूलाचार्य ने उत्तर दिया कि यदि तुम लोग गृहस्थ चारित्र पालना नहीं चाहते और अपने मुनि चारित्र को भी निर्दोष नहीं करना चाहते तो इसका अभिप्राय यह है कि यह भ्रष्ट साधुवेश तुम केवल संसार को दिखाने के लिए ही धारण करते हो। तुम्हारे हृदय में सच्चा वैराग्य भाव नहीं है। इस कारण कहना होगा कि तुम इस मुनिवेश से

केवल उदरपूर्ति करना चाहते हो, लोगों में बड़प्पन प्राप्त करना चाहते हो। आत्मकल्याण का भाव तुम्हारे हृदय में रंचमात्र भी नहीं है।

स्थूलाचार्य के ऐसे खरे वचन सुनकर उन साधुओं में से २-१ साधु को बहुत क्रोध हो आया। वह स्थूलाचार्य की वृद्धदशा, आचार्य पदवी का तथा पूज्यता का कुछ भी खयाल न करके उत्तेजित होकर बोल उठे कि यह तो बुद्धा हो गया है। इसकी बुद्धि भी बुझी हो गई है। अब इसके हित अहित का विचार करने की जरा भी शक्ति नहीं रही। इस कारण यह ऐसा अंड बंड बोल रहा है। इसकी बातें सुनना पाप है तथा इसका देखना भी अशुभ है। यह बुद्धा जब तक रहेगा तब तक हम लोगों को शांति प्राप्त नहीं होगी।

ऐसा कहते हुए एक क्रूरचित्त साधु ने जोकि स्थूलाचार्य का ही शिष्य था लाठी के दश पाँच अच्छे प्रहार स्थूलाचार्य (अपरनाम शांति आचार्य) के सिर पर कर दिए जिसको कि उनका दुर्बल शरीर न सह सका और उनका प्राणपक्षी असार शरीर को छोड़कर उड़ गया।

स्थूलाचार्य का जीव आर्तध्यान से मरा इस कारण व्यन्तरदेव का शरीर पाया। उस व्यन्तर ने अपने पूर्व भव की अवस्था जानकर उस भ्रष्ट साधु संघ में उपद्रव करना आरंभ कर दिया। उसने उन साधुओं से कहा कि जब तक तुम लोग नग्न निर्ग्रन्थ वेश धारण नहीं करोगे तब तक यह उपद्रव करना नहीं रोकूँगा। तब उन साधुओं ने दीनता के साथ कहा कि हम बलहीन हैं। नग्न निर्ग्रन्थ वेश धारण करने में हम असमर्थ हैं। हमने बहुत अपराध किया है जो आपको अज्ञानतावश पहले भव में (स्थूलाचार्य के भव में) कष्ट दिया है। उसको क्षमा कीजिए। हम आपकी पूजा भक्ति करेंगे।

ऐसा कहकर उन्होंने उस व्यन्तरदेव की स्थापना करके पूजन किया। इस पर व्यन्तर देव ने भी अपना उपद्रव बंद कर दिया।

तदनन्तर उन भ्रष्ट जैन साधुओं ने अनेक धनिक सेठों, राजपुत्र, पुत्रियों को मन्त्र, यंत्रादि का प्रभाव दिखलाकर अपना भक्त बना लिया। उन धनिक सेठों तथा राजपुत्रों के कारण अन्य साधारण जनता की भक्ति भी उन साधुओं पर होने लगी। इस कारण महाव्रत को वे साधु उस रूप में भी सम्मान पाने लगे। सम्मान पाने से उन्होंने अपने भ्रष्ट साधुवेश का प्रचार करना आरंभ किया। तदनुसार बहुत से मनुष्यों को जैन मुनि की दीक्षा देकर अपने सरीखा दंड पात्र वस्त्रधारी बना दिया। लोगों ने भी मुनिचर्या का सरल मार्ग देखकर मुनि बनना सहर्ष स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार वे दुर्भिक्ष के समय भ्रष्ट साधु अपना संघ बनाकर शिथिलाचारी फैलाने लगे। उनके शिष्य उनसे भी अधिक शिथिलाचार का पक्ष पकड़कर भ्रम फैलाने लगे। इस प्रकार वह जैन साधुओं का भ्रष्ट स्वरूप उनके शिष्य प्रतिशिष्यों द्वारा भी खूब प्रचार में लाया गया। उधर विशाखाचार्य के संघ के तथा उनके उपदेश से प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होने वाले स्थूलाचार्य के संघ के साधु (मुनि) अपने प्राचीन सत्य मार्ग पर दृढ़ रहे और उनके शिष्य प्रतिशिष्य नग्न निर्ग्रथ वेश का प्रचार करते रहे।

इस प्रकार की कार्यवाही ३-४ शताब्दियों तक चलती रही। उसके पीछे विक्रम संवत् १३६ में गुजरात के वल्लभीपुर नगर में उन्होंने एकत्र होकर अपना संगठन किया। वहाँ पर उन्होंने स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, अन्यलिंगमुक्ति, सग्रंथमुक्ति, महावीरस्वामी का गर्भ परिवर्तन आदि कल्पित सिद्धांत स्थिर किये। वे साधु सफेद चादर ओढ़ते थे इस कारण उन्होंने अपने संघ का नाम 'श्वेताम्बर' यानी सफेद कपड़े वाला रखा और जो साधु विशाखाचार्य की शिष्य परम्परा में नग्न निर्ग्रथ वेशधारी थे उनका नाम 'दिगम्बर' (दिक् अम्बर) रखा, जिसका कि अर्थ दिशारूपी वस्त्र धारण करने वाले अर्थात् नग्न हैं। इसी दिन से एक जैन सम्प्रदाय के दिगम्बर, श्वेताम्बर ऐसे दो विभाग हो गये। इस सम्प्रदाय भेद हो जाने के बहुत दिन पीछे अनुमानतः वीर संवत् ९०० के समय वल्लभीपुर नगरमें देवद्विगण नामक श्वेताम्बर आचार्य ने आचारांगसूत्र आदि अनेक ग्रंथों की प्राकृत भाषा में रचना की। ग्रंथों की इस प्राकृत भाषा का नाम उन्होंने अर्द्धमागधी भाषा रखा। इन ग्रंथों में उन्होंने अपने अनेक कल्पित सिद्धांत तथा शिथिलाचार पोषक सिद्धांत रख दिये जिनका कुछ उल्लेख हमने पीछे कर दिया है।



## हाईकू

मधुर बनो,  
दाँत तोड़ गन्ना भी,  
लोकप्रिय है।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## स्थानकवासी संप्रदाय

इस प्रकार श्वेताम्बर संप्रदाय जैन समाज के भीतर भद्रबाहु स्वामी के पीछे बारह वर्ष के दुर्भिक्ष का निमित्त पाकर एक नवीन भ्रष्ट रूप लेकर उठ खड़ा हुआ। उस समय की विकट परिस्थिति का सामना करते हुए श्वेताम्बर संघ के मूल जन्मदाता साधुओं ने जो वस्त्र, पात्र, लाठी आदि परिग्रह पदार्थ स्वीकार किये थे उन्हीं की प्रवृत्ति आज तक बराबर चली आ रही है। विशेषता केवल इतनी है कि अब श्वेताम्बर साधुओं में और भी अधिक शिथिलता आ गई है। तदनुसार उनका परिग्रह भी पहले से अधिक बढ़ गया है। आज से ३००-४०० वर्ष पहले श्वेताम्बर संघ से निकले हुए स्थानकवासी (दूँढिया) साधुओं ने लाठी रखना छोड़ दिया है। साथ ही जिन मंदिर, जिन प्रतिमा पूजन की भी प्रवृत्ति छोड़ दी है।

भद्रबाहु स्वामी तथा सम्राट चंद्रगुप्त के समय बारह वर्ष का दुर्भिक्ष मालवदेश में पड़ा था और उस समय वे अपने मुनिसंघ सहित दक्षिण देश में गये थे, इसकी साक्षी श्रवणबेलगुल के एक शिलालेख से मिलती है। यह शिलालेख श्रवणबेलगुल में चंद्रगिरि पर्वत के ऊपर चंद्रगुप्तवस्ती के मंदिरके सामने एक १५ फीट ७ इंच ऊँचे तथा ४ फीट ७ इंच चौड़े शिलाखंड पर पुरानी कनडी लिपि में खुदा हुआ है। इस शिलालेख का वीर सं. २६६ (विक्रम संवत् से २०३ वर्ष पहले) सम्राट चंद्रगुप्त के पौत्र सिंहासेन द्वितीयनाम बिन्दुसार के पुत्र महाराज भास्कर अपर नाम अशोक ने (बौद्ध धर्म ग्रहण करनेके पूर्व ३० वर्ष की आयु से प्रथम) उस समय लिखवाया था जबकि वह अपने पितामह मुनि प्रभाचंद्र (पूर्व नाम चंद्रगुप्त) के दीर्घकालीन निवास से तथा भद्रबाहु स्वामी के संन्यास मरण करने से पवित्र इस पर्वत प्रदेश पर आया था। वहाँ उसने अपने पितामह चंद्रगुप्त के नाम से मंदिर बनवाये जो कि अभी तक 'चंद्रगुप्त वस्ती' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा श्रवणबेलगुल नगर बसाया। सम्राट अशोक अपने राज्याभिषेक से १३वें वर्ष तक जैन धर्मनुयायी रहा था। तत्पश्चात् उसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। अतएव विक्रम संवत् से १९३ वर्ष पहले तक के अनेक शिलालेख अशोक के लिखवाये हुए जैन धर्म संबंधी प्राप्त होते हैं।

वह श्रवणबेलगुल का शिलालेख इस प्रकार है-

जिनं भगवता श्रीमद्धर्मतीर्थविधायिना ।  
वर्द्धमानेन सम्प्राप्तसिद्धिसौख्यामृतात्मना ॥१॥  
लोकालोकद्वयाधारवस्तु स्थासु चरिष्णु च ।  
सच्चिदालोकशक्तिः स्वाः व्यश्नुते यस्य केवला ॥२॥  
जगत्यचिन्त्य- माहात्म्यपूजातिशयमीयुषः ।  
तीर्थकृतन्नामपुण्यौघ महार्हन्त्यमुपेयुषः ॥३॥  
तदनु श्रीविशलेयञ्जयत्यद्य जगद्धितम् ।  
तस्य शासनमाव्याजं प्रवादिमतशासनम् ॥४॥

अथ खलु सकलजगदुदयकरणोदितातिशयगुणास्पदीभूतपरम जिनशासन सरस्समभिवर्द्धिभव्यजन-कमल विकशनवितिमिरगुणकिरण सहस्रहोति महावीरसवितरि परिनिर्वृते भगवत्परमर्षिगौतमगणधर- साक्षाच्छिष्यलोहार्यजम्बु-विष्णुदेव-अपराजित गोवर्द्धन भद्रबाहु प्रोष्ठिल- क्षत्रियकार्यजयन नामासिद्धार्थषेणबुद्धिलादिगुरुपरम्परीण माभ्यागतमहापुरुष सन्ततिसमवद्योतान्वय भद्रबाहुस्वामिना उज्जयिन्यां अष्टाङ्गमहानिमित्तत्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसम्बत्सर कालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसङ्घ उत्तरपथात् दक्षिणापथं प्रस्थितः आर्षेणैव जनपदं अनेकग्रामशतसंख्यमुदित जनधनकनक-शस्यगोमहिषाजाविकलसमाकीर्णम् प्राप्तवान् अतः आचार्यः प्रभाचन्द्रेणामा-विनतलललामभूतेथास्मिन् कटवप्रनामकोपलक्षिते विविधतरुवरकुसुमद-लावलिविकलनशवल विपुलस जलजलदनिवहनी लोपलतले बराह-द्वीपिव्याघ्रक्षरक्षुख्याल मृगकुलो पचितो पत्यका कन्दरदरीमहगुहाग हनगोभगवतिसमुत्तुङ्गशृंगे शिखरिणि जीवितिशेषम् अल्पतरुकालं अबुध्याध्वनः सुचकितः तपः समाधिम् आराधयितुम् आपृच्छ्य निरवशेषण संघम् विसृज्य शिष्येणैकेनः सुचकितः तपः समाधिम् आराधयितुम् आपृच्छ्य निरवशेषण संघम् विसृज्य शिष्येणैकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहम् सन्नयस्याराधितवान् क्रमेण सप्तशतं ऋषीणाम् आराधितम् इति । जयतु जिनशासनं इति ।

अर्थ- अन्तरंग, बहिरंग लक्ष्मी से विभूषित, धर्म मार्ग के विधाता, मुक्ति-पद पाने वाले श्री महावीर भगवान् नित्य अनन्त सुखस्वरूप उन्नत पद को प्राप्त हुए हैं।

जगत् में सुर, असुर, मनुष्य, इंद्रादि द्वारा पूजित अर्चित्य महिमा के धारक तथा तीर्थकर नामक उच्च अर्हत पद को प्राप्त होने वाले महावीर स्वामी का केवलज्ञान, लोक अलोकवर्ती समस्त चर अचर पदार्थों को प्रकाशित कर रहा है।

उन महावीर स्वामी के पीछे यह नगरी लक्ष्मी शोभा से शोभायमान थी। इस नगरी में आज भी उन महावीर स्वामी का जगत्हितकारी, वादियों के मतों पर शासन करने वाला सच्चा शासन विद्यमान है। यानी इस नगर में जैन धर्म का अच्छा प्रभाव है।

समस्त जगत् के उदय करने वाले अनुपम गुणों से विभूषित, जैनशासन को उन्नत करने वाले, भव्य जनसमुदाय को विकसित करने वाले, अज्ञान अंधकार को दूर करने वाले श्री महावीर भगवान् रूपी सूर्य से मुक्ति प्राप्त कर लेने पर भगवान् के परम ऋषि गौतम गणधरके साक्षात् शिष्य लोहाचार्य, जम्बूस्वामी, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रियाचार्य, जयनाम सिद्धार्थ, धृतषेण, बुद्धिल आदि गुरु परम्परा क्रम से चली आई महापुरुषों की सन्तान में अष्टाङ्ग महानिमित्तज्ञान से भूत भविष्यत् वर्तमान के होने वाले शुभ अशुभ कार्यों के ज्ञाता भद्रबाहु आचार्य हुए। उन भद्रबाहु स्वामी ने उज्जयिनी में निमित्तज्ञान से यहाँ पर बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ेगा। ऐसा जानकर उन्होंने अपने मुनिसंघ से दक्षिण देश की ओर प्रस्थान करने को कहा। तदनुसार मुनिसंघ उत्तरप्रदेश से दक्षिण देश को चल दिया। संघ के साथ भद्रबाहु स्वामी धन, जन, धान्य, सुवर्ण, गाय, भैंस आदि पदार्थों से भरे हुए ऐसे अनेक ग्राम, नगरों में होते हुए पृथ्वी तल के आभूषण रूप इस कटवप्र नामक पर्वत पर आये। मुनि प्रभाचंद्र (चंद्रगुप्त) भी साथ में थे। अनेक प्रकार के वृक्ष, फल, फूल से शोभायमान, सजल, बादल समूहों से सुशोभित, सिंह, बाघ, सुअर, रीछ, अजगर, हरिण आदि जंगली जानवरों से भरे हुए, गहन गुफाओं और उन्नत शिखरों से शोभायमान इस कटवप्र पर्वत पर अपना अल्प जीवन समय जानकर, समाधिसहित शरीर त्याग करने के लिए समस्त संघ को विदा करके एक शिष्य के साथ भद्रबाहु स्वामी ने विस्तीर्ण शिलाओं पर समाधि मरण किया। संघ के ७०० ऋषियों ने भी समय-समय पर यहाँ चार आराधनाओं का आराधन किया है। जैनधर्म जयवंत होवे।



# श्री भद्रबाहुस्वामी और सम्राट् चन्द्रगुप्त के विषय में इतिहास सामग्री

इस शिलालेख से सिद्ध होता है कि श्री भद्रबाहु स्वामी के शिष्य चन्द्रगुप्त मुनिदीक्षा से दीक्षित होकर चन्द्रगिरि पर्वत पर श्री भद्रबाहुस्वामी के साथ रहे थे।

## शिलालेख नंबर ३

प्रिय पाठक महानुभावो! यद्यपि श्रवण बेलगुल के प्रथम शिलालेख से यह स्पष्ट हो गया है कि “अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी को उज्जयिनी (मालव) में बारह वर्ष के दुष्काल की भीषणता निमित्त ज्ञान से मालूम हुई थी और उससे मुनिचारित्र को निष्कलंक रखने के लिए वे अपने संघसहित जिसमें नवदीक्षित परमगुरुभक्त मुनि प्रभाचंद्र पूर्व नाम सम्राट् चन्द्रगुप्त भी थे, दक्षिण देश को गये थे। वहाँ पर अपना मृत्यु समय निकट जानकर कटवप्र पर्वत पर जिसको कि आजकल चन्द्रगिरि भी कहते हैं अपनी सेवा के लिए चन्द्रगुप्त को अपने पास रखकर श्री भद्रबाहु स्वामी ने सन्यासमरण किया था।” किन्तु कुछ महाशय इस बात की सत्यता में सन्देह करते हैं। उनके विचार में अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी और सम्राट् चंद्रगुप्त का समय एक नहीं बैठता। इतिहास की आड़ लेकर वे दोनों का समय भिन्न-भिन्न ठहराते हैं।

हम उनके इस सन्देह को यहाँ पर दूर कर देना आवश्यक समझते हैं। इस विषय में जो महाशय शंक्ति चित्त हैं उनको पहले श्रवण बेलगुल (चंद्रगिरि) के अन्य शिलालेखों का अवलोकन कर लेना चाहिये। ऐसा करने से उनका सन्देह बिलकुल दूर हो जाएगा। देखिये

## शिलालेख नंबर २

### नागराक्षर में प्रतिलिपि

श्री भद्रबाहु सचन्द्रगुप्त मुनीन्द्र युग्मादी नोप्पोवल भद्रभाग इवाधर्म अन्दुवलि केवदं इनिपुलकुलो... विद्रुमधरे शान्तिसेन मुनीशनाक्कि सचेलेगो... राआद्रिमेल अशनादि विट्टु पुर्नवाकिर... गी।

यानी शान्तिसेन की पत्नी यह कहती हुई पहाड़ पर चली गई कि श्री भद्रबाहु तथा महामुनि चंद्रगुप्त के अनुकूल चलना ही परम सद्धर्म है। बल्कि वह भोजनादि छोड़कर अनेक परीषहों को सहन कर अमर पद को प्राप्त हुई।

श्री भद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।

श्रुतकेवलिनार्थेषु चरमः परमो मुनिः।

चन्द्रप्रकाशोज्वलसान्द्रकीर्तिः।

श्रीचन्द्रगुप्तोजनि तस्य शिष्यः।

यस्य प्रभावाद्भनदेवताभि-राराधितः स्वस्य गणो मुनीनाम्॥

भावार्थ : सर्व प्रकार से कल्याण कारक, श्रुतकेवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु परम मुनि हुए। उनके शिष्य चन्द्रगुप्त हुए जिनका यश चन्द्रसमान उज्ज्वल है और जिनके प्रभाव से वन देवता ने मुनियों की आराधना की थी।

इस शिलालेख से यह बात प्रमाणित होती है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त जिन भद्रबाहु मुनीश्वर के शिष्य थे वे श्री भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली ही थे, दूसरे भद्रबाहु नहीं थे।

## शिलालेख नंबर ४

वर्यः कथन्तु महिमा भण भद्रबाहोः

मोहोरुमल्लमदमर्दनवृत्तवाहोः।

यच्छिष्यताप्तसुकृतेन च चन्द्रगुप्तः

सुश्रूषते स्म सुचिरं वनदेवताभिः।

अर्थ : भला कहे तो सही कि मोहरूपी महामल्ल के मद को चूर्ण करने वाले श्री भद्रबाहु स्वामी की महिमा कौन कह सकता है जिनके शिष्यत्व के पुण्यप्रभाव से वनदेवताओं ने चन्द्रगुप्त की बहुत दिनों तक सेवा की।



## शिलालेख नंबर ५

तदन्वये शुद्धमतिप्रतीते समग्रशीलामलरत्नजाले ।  
अभूद्यतीन्द्रो भुवि भद्रबाहुः पयः पयोधाविव पूर्णचन्द्रः ॥  
भद्रबाहुरग्रिमस्समग्रबुद्धिसम्पदा  
शुद्धसिद्धशासनः सुशब्दबन्धसुन्दरम् ।  
इद्धवृत्तिरत्र बद्धकर्मभित्तपोद्ध  
ऋद्धिवद्धितप्रकीर्तिरुद्धधीर्महर्द्धिकः ॥  
यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां  
मुनीश्वराणामिह पश्चिमोपि ।  
अपश्चिमोभूद्धिदुषां विनेता  
सर्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन ॥  
यदीयशिष्योजनि चन्द्रगुप्तः  
समग्रशीलानतदेववृद्धः ।  
विवेशयत्तीव्रतपः प्रभावात् ।  
प्रभूतकीर्तिर्भुवनान्तराणि ॥

भावार्थ : जिसमें समस्त शीलरूपी रत्नसमूह भरे हुए हैं और जो शुद्धबुद्धि से प्रख्यात है उस वंश में समुद्रमें चन्द्रमासमान श्री भद्रबाहु स्वामी हुए।१।

समस्त बुद्धिशालियों में श्री भद्रबाहु स्वामी अग्रेसर थे। शुद्ध सिद्ध शासन और सुंदर प्रबंध से शोभासहित बड़ी हुई है व्रत की सिद्धि जिनकी तथा कर्मनाशक तपस्या से भरी हुई है कीर्ति जिनकी ऐसे ऋद्धिधारक श्री भद्रबाहु स्वामी थे।२।

जो भद्रबाहु स्वामी श्रुतकेवलियों में अंतिम थे किन्तु अखिल शास्त्रों का प्रतिपादन करने से समस्त विद्वानों में प्रथम थे।३।

जिनके शिष्य चन्द्रगुप्त ने अपने शील से बड़े-बड़े देवों को नम्रीभूत बना दिया था। जिन चन्द्रगुप्त के घोर तपचरण के प्रभाव से उनकी कीर्ति समस्त लोकों में व्याप्त हो गई है।४।

इन शिलालेखों से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि सम्राट चन्द्रगुप्त अंतिम श्रुतकेवली के शिष्य होकर मुनि हुए थे और उनके साथ चन्द्रगिरि पर्वत पर उन्होंने तपस्या की थी। पूर्व अवस्था में चन्द्रगुप्त एक अच्छे प्रसिद्ध शूरवीर सम्राट थे इस कारण शिलालेखों में भी उनका नाम प्रभाचंद्र (मुनिदीक्षा के समय का नाम) न लेकर अधिकांश चन्द्रगुप्त ही लिया गया है। उनके नाम के ऊपर ही कटवप्र पर्वत का नाम चन्द्रगिरि रख दिया गया एवं उनके पौत्र सम्राट अशोक द्वारा निर्माण कराये गये इस पर्वत के जैन मंदिरों का नाम “चन्द्र गुप्तवस्ती” प्रसिद्ध हुआ।

इसके सिवाय गौतम क्षेत्र के ऊपर भाग में बहने वाले कावेरी नदी के पश्चिम भाग में जो रामपुर ग्राम है उसके अधिपति सिंगरी गौडा के खेत में जो दो शिलालेख मिले हैं वे इस प्रकार हैं।

## शिलालेख ६

श्री राज्य विजय सम्बत्सर सत्यवाक्य परमानदिगलु आलुत्त नाल्किनेय वर्षात् मार्गशीर्ष मासद फेरतले दिवासभागे स्वस्ति समस्तविद्यालक्ष्मीप्रधाननिवासप्रभव प्रणत सकल सामन्त समूह भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मुनिपति चरणलाञ्छनाञ्चित विशालसिरक्लवणु गिरिसनाथ वेलगुलाधिपति गणधा लीवर मतिसागर पण्डितभट्टार केसदोल अन्नयनु देव कुमारनु धोरनुं इलटुर आरण्णे वाणपल्लिय कोण्ड श्री के सिंगतले नेरिपुल कट्टन कट्ट सुडर के कोट्टस्थिति क्रमवाएन्तुव यन्दोदे बंडरनियनीर वयगीय गिड वरिस पेत्तेन्दि ऐरदनेय वरिसमेड अलविमुरने चवरिस दन्दिगे यडलवीयेलाकयांक यल्लं इल्द युल्लु सलगु।

अर्थ : समस्त लक्ष्मी तथा सरस्वती का निवास स्थान और समस्त सामन्तों द्वारा नमस्कृत श्री भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त महामुनि के चरणों से मंडित कटवप्र पर्वत सदा विजयशील रहे।

सत्य वाक्य परमानंदी महाराज के राज्य के चौथे वर्ष में मार्गशीर्ष शुक्लाष्टमी को श्री मतिसागर पंडित भट्टार की आज्ञानुसार अन्नय्या, देवकुमार और इन तीनों ने बेनपल्ली के खरीददार केशी के लिए तेल्लुर में सेतु निर्माण के बदले में निम्न लिखित दान दिया है।

सब ग्रामनिवासियों ने खेती के लिए इस सेतु से जल लेने का प्रयोग किया। प्रथम वर्षमें बिना कुछ दिये ही जल का उपयोग करना। दूसरे वर्ष में कुछ देकर उपयोग करना और तीसरे वर्ष में जो कुछ दिया जाएगा वह निश्चित रूप से १६ से निर्धारित कर समझा जाये।

## शिलालेख ७ (९वीं शताब्दी)

भद्रमस्तु जिन शासनाय। अनवरत... अखिलसुरासुर नरपति मौलिमाला... चरणारविन्द युगल सकल श्री राज्य युवराज्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्तनिपतिमुद्रणाडिक्त विशाल... मान जगल ललामायित श्री कलवणु तीर्थसनाथ वेलगुलनिवासि... श्रव (म) णसंघ स्याद्वादाधार भूतरणाश्री मत्स्वस्ति सत्यवाक्योद्गुणि वर्माधर्ममहाराजाधिराजकु बलाल पुरवेश्वर नन्दि गिरिनाथ स्वाति समस्त भुवनविनुतगङ्गकुल्लगगननिर्मलतारापतिजलधि जलविपुलविलयमे खलाकलापालङ्कुतैलाधिपत्य लक्ष्मी स्वयम्भृत पतिवद्य अगणितगुणगणभूषणभूषित विभूति श्री मत्परमानदिगलु यैयप्पसरं इलुचगि परमनदि गल कलावसाद आय्यरणा परपिङ्गे कुमारसेन भट्टारपदे स्थितिविलय अक्कियं सोल्लुगेय विट्टिउनपट्टपरं मन यल्लाकलकम् सर्वबाधा परिहरं आगे विदिसिदार इदनलिड अडोनं कौडन पशुवं केरेयं अर्भेयं वनासियुनं अलिडं पञ्च महापातकं।

देवस्वं तु विषं घोरं न विषं विषमुच्यते।  
विषमेकाकिनं हन्ति देवस्वं पुत्रपौत्रकं ॥

यह शिलालेख क्यातनहल्ली ग्राम के दक्षिण भाग में जो बस्ती है वहाँ पर है।

तात्पर्य : जैन धर्म का कल्याण हो। समस्त देव राक्षस तथा राजा लोगों के मस्तक झुकाने से मुकुटमणि की चमक से प्रकाशमय चरणकमलवाले श्री भद्रबाहु स्वामी को नमस्कार करो। मोक्षराज्य के युवराज, स्याद्वाद के संरक्षक, वेलगुलस्थ श्रमण संघ के अधिपति अपने चरण कमलसे जगद्भूषण कटवप्र पर्वत को पवित्र करने वाले श्रीमान् भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त मुनि हमारा संरक्षण करें। गङ्गरागकुलाकाश में निष्कलंक

चन्द्रमा और कुवल्यपुर तथा नन्दगिरि के स्वामी श्री सत्यवाकोद्गुणि वर्मा धर्ममहाराजधिराज की स्तुति समस्त संसार ने की है। समुद्र मेखला से परिवेष्टित तथा पृथ्वी के स्वयम्भरित पति सकलगुण विभूषित श्री परमानंदि एयेरप्पसरणाने जिनेन्द्र भवन के लिए श्री कुमारसेन भट्टारक को निम्नलिखित दान दिया है।

एक ग्राम स्वच्छ चावल बेगार घी इन दान दी हुई वस्तुओं के अपहरण करने वालों को हिंसा और पंचमहापाप का पातक लगेगा।

केवल विष ही विष नहीं होता है किन्तु देवधन को भी घोर विष समझना चाहिए क्योंकि विष तो भक्षण करने वाले केवल एक प्राणी को मारता है किन्तु देवधन सारे परिवार का नाश कर देता है।

इन शिलालेखों से भी हमारी पूर्वोक्त बात पुष्ट हो गई। इस कारण तात्पर्य यह निकला कि अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी के समय मालवा आदि उत्तर देशों में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष अवश्य पड़ा था। उसके प्रारंभ होने से पहले ही भद्रबाहु स्वामी अपने मुनिसंघ सहित दक्षिण देश को रवाना हो गये थे। वहाँ कटवप्र पर्वत के समीप निमित्त ज्ञान से उनको अपना मृत्यु समय निकट मालूम हुआ इसलिए अपने पास केवल नवदीक्षित चन्द्रगुप्त अपरनाम प्रभाचंद्र को अपने पास रखकर कटवप्र पर्वत पर समाधिमरण धारण कर ठहर गये और समस्त मुनि संघ को चोलपाण्ड्य देश की तरफ भेज दिया।

## शास्त्रीय प्रमाण

अब हम इस विषय में पुरातन ग्रंथों का प्रमाण उपस्थित करते हैं जिससे कि पाठक महानुभावों को उक्त कथा की सत्यता और भी दृढ़ रूप से मालूम हो जावे।

राजबली कथा : नामक कर्नाटक भाषा में एक अच्छा प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथ है जो कि देवचंद्र ने संवत् ०८०० में लिखा है। उस ग्रंथ में ग्रंथ लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि-

“सम्राट् चन्द्रगुप्त अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु से मुनिव्रत की दीक्षा लेकर मुनि हुआ था। मुनि दीक्षा देते समय श्री भद्रबाहु स्वामी ने उसका नाम “प्रभाचन्द्र” रखा था।

बारह वर्ष के दुष्काल के समय वह भद्रबाहु के साथ दक्षिण देश आया था और वहाँ पर भद्रबाहु के समाधिमरण करने के समय उनकी वैश्ववृत्त्य के साथ कटवप्र (कल्पवप्पू) पर्वत पर रहा था।'

श्री हरिषेणाचार्यकृत "वृहत्कथा कोष" नामक ग्रंथ में भी जो कि संवत् ९३१ में बना है श्री भद्रबाहु स्वामी और सम्राट चन्द्रगुप्त के विषय में उपयुक्त लेख के अनुसार ही उल्लेख है।

श्री रत्नानद्याचार्य ने सं. १४५० में जो भद्रबाहु चरित्र नामक ग्रंथ बनाया है उसमें लिखा है-

चन्द्रावदातसत्कीर्तिश्चन्द्रवन्मोदकर्तृणाम्।  
चन्द्रगुप्तिनृपस्तत्राचकञ्चारुगुणोदयः ॥७॥

द्वितीय परिच्छेद

राजंस्त्वदीयपुण्येन भद्रबाहुः गणाग्रणीः।  
आजगाम तदुद्याने मुनिसन्दोहसंयुतः ॥२१॥

तृतीय परिच्छेद

चन्द्रगुप्तिस्तदावादी- द्विनयान्नवदीक्षितः  
द्वादशाब्दं गुरोः पादौ पर्युपासेतिभक्तितः ॥२॥  
भवसप्तपरित्यक्तो भद्रबाहुर्महामुनिः।  
अशनाय पिपासोत्थंजिगाय श्रममुल्वणम् ॥३७॥  
समाधिना परित्यज्य देहं गेहं रुजां मुनिः।  
नाकिलोकं परिप्राप्तो देव देवी नमस्कृतः ॥३८॥  
चन्द्रगुप्तिर्मुनिस्तत्र चञ्चच्चारित्रभूषणम्।  
आलिख्य चरणौ चारु गुरोः संसेवते सदा ॥४०॥

भावार्थ : चन्द्र समान उज्ज्वल कीर्तिधारक, चन्द्रमातुल्य आनंद करने वाले, सुंदर गुणों से विभूषित महाराज चन्द्रगुप्त उज्जयनी में हुए।

हे राजन्! आपके पुण्य बल से मुनिसंघ के नेता अपने संघ सहित नगर के बाहर उद्यान में आये हैं।

तब नवदीक्षित चन्द्रगुप्त मुनि विनय से बोले कि मैं बारह वर्ष से अपने गुरु भद्रबाहु स्वामी के चरण कमलों की उपासना करता हूँ।

तदनन्तर सात भय छोड़कर महामुनि भद्रबाहु स्वामी ने बलवती क्षुधा और पिपासा को रोका।

श्री भद्रबाहुस्वामी रोगों के घर इस शरीर को समाधिपूर्वक छोड़कर देव व देवियों से नमस्कृत स्वर्गलोक में पहुँच गये।

दीप्तिमान मुनिचारित्र से विभूषित चन्द्रगुप्त मुनि वहाँ पर अपने गुरु श्री भद्रबाहु स्वामी के चरणों को लिखकर उनकी सेवा करने लगे।

इसके आगे इसी ग्रंथ में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का वर्णन पीछे लिखे अनुसार किया है।

इस प्रकार पुरातन ग्रंथों से भी दिगम्बर संप्रदाय के अनुसार ही श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का वृत्तान्त मिलता है।

## विदेशी इतिहासवेत्ताओं की सम्मति

● मिस्टर बी, लुईस राइस महाशय ऐपग्राफिका कर्नाटिका में लिखते हैं कि-

"चन्द्रगुप्त निःसन्देह जैन था और भद्रबाहु स्वामी का समकालीन तथा उनका शिष्य था।"

● इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन में लिखा हुआ है कि 'सम्राट चंद्रगुप्त ने बी.सी. २९० में (ईस्वीय सन् से २९० वर्ष पहले) संसार से विरक्त होकर मैसूर प्रांत के श्रवणबेलगुल में जिन दीक्षा से दीक्षित होकर तपस्या की और तपस्या करते हुए स्वर्ग को पधारे।

इस प्रकार इस विषय में जितनी भी खोज की जाए ऐतिहासिक सामग्री हमारे कथन को ही पुष्ट करती है। इस कारण निष्पक्ष पुरातत्व खोजी महानुभावों को स्वीकार करना पड़ेगा कि श्री भद्रबाहु स्वामी तथा सम्राट चंद्रगुप्त के समय में बारह वर्ष का घोर दुष्काल पड़ा था उसके निमित्त से जो जैन साधु उत्तरप्रांत में रहे वे विकराल काल के

निमित्त से वस्त्र, पात्र, लाठीधारी हो गए और जो साधु श्री भद्रबाहु स्वामी के साथ दक्षिण देश को चले गए वे पहले के समान नग्न दृढ़ रहे। अर्थात् बारह वर्ष के दुष्काल ने सम्राट चंद्रगुप्त के समय में जैनमत में श्वेताम्बर नामक एक नवीन पंथ तैयार कर दिया।

इस प्रकार विक्रम संवत् से भी लगभग २०३ वर्ष पहले लिखे गए इस लेख से भी यह बात सत्य प्रमाणित होती है कि श्री भद्रबाहु स्वामी के समय में भारत वर्ष के उत्तर प्रांत में १२ वर्ष का घोर दुष्काल पड़ा था और इस समय भद्रबाहु स्वामी अपने मुनिसंघ को साथ लेकर दक्षिण देशों में विहार कर गए थे।

इसके सिवाय 'दिगम्बर मत विक्रम सं. १३८ से प्रचलित नहीं हुआ बल्कि विक्रम संवत् से भी पहले विद्यमान था' इस बात को सिद्ध करने के लिए अनेक पुष्ट सत्य प्रमाण विद्यमान हैं। देखिए, ज्योतिष शास्त्र के प्रख्यात विद्वान् बराहमिहिर राजा विक्रमादित्य की (जिनके कि स्मारक रूप में विक्रम संवत् उनकी मृत्यु होने के पीछे चला है) राजसभा के नौ रत्नों में से एक रत्न थे। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से भी सिद्ध होता है-

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु-  
वेतालभट्टघटखर्परकालिदासः।  
ख्यातो बराहमिहिर नृपतेःसभायां  
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इन ही बराहमिहिर ने अपने प्रतिष्ठा कांड में एक स्थान पर यह लिखा है कि-

विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्राह्मणां,  
मातृणामिति मातृमंडलविदः शंभोः समस्याद्विजः।  
शाक्याः सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनानां विदु  
र्ये यं देवमुपाश्रिता स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम् ॥

अर्थात्- वैष्णव लोग विष्णु की, मय लोग (सूर्योपजीवी) विप्र लोग ब्राह्मण क्रिया की, मातृ मंडल की जानकार ब्रह्माणी, इंद्राणी आदि माताओं की उपासना करें। बौद्ध लोग बुद्ध की उपासना करें और नग्न लोग (दिगम्बर साधु) जिन भगवान का पूजन करें। अभिप्राय यह है कि जिस देव के उपासक हैं वे विधिपूर्वक उसकी उपासना करें।

बराहमिहिर के इस लेख से सिद्ध होता है कि दिगम्बर साधु राजा विक्रमादित्य के जीवनकाल में भी विद्यमान थे इस कारण श्वेतांबरी ग्रंथों ने जो विक्रम संवत् के १३७ वर्ष पीछे दिगम्बर संप्रदाय की उत्पत्ति बतलाई है वह असत्य है।

तथा- महाभारत जो कि ऋषि वेदव्यास ने विक्रम संवत् से सैकड़ों वर्ष पहले लिखा है उसमें एक स्थान पर ऐसा उल्लेख है-

'साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रतिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुंडले गृहीत्वा सोपस्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्द्रश्यमानमदृश्यमानं च।'

अर्थात्- उत्तङ्क नामक कोई विद्यार्थी कुंडल लेकर चल दिया उसने रास्ते में कुछ दिखते हुए, कुछ न दिखते हुए नग्न मुनि को देखा।

महाभारत का यह उल्लेख भी सिद्ध करता है कि जैन साधुओं का दिगम्बर रूप ही प्राचीन काल से चला आ रहा है। पहले श्वेत वस्त्रधारी जैन साधु नहीं होते थे।

कुसुमांजलि ग्रंथ के रचयिता उदयनाचार्य अपने ग्रंथ के १६वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि-

'निरावरण इति दिगम्बराः'

अर्थात्- वस्त्र रहित यानी नग्न रूप दिगम्बर होते हैं।

न्यायमंजरी ग्रंथ के ग्रंथकार जयंत भट्ट ग्रंथ के १६वें पृष्ठ में लिखते हैं-

क्रिया तु विचित्रा प्रत्यागमं भवतु नाम। भस्मजटापरिग्रहो दंडकमंडलुग्रहणं वा रक्तपटधारणां वा दिगम्बरा वावलम्ब्यतां कोऽत्रविरोधः।

अर्थात्- क्रिया उनके प्रकार की होती है। शरीर से भस्म लगाना, शिर पर जटा रखना अथवा दंड कमंडलु का रखना या लाल कपड़े का पहनना अथवा दिगम्बर पने का (नग्न रूप) अवलंब ग्रहण करो, इसमें क्या विरोध है।

इस प्रकार इन ग्रंथों में भी दिगम्बर मत की प्राचीनता का उल्लेख है।

तैत्तरीय आरण्यक के १०वें प्रपिटक के ६३वें अनुवाक में लिखा है-

'कंथा कौपीनोत्तरासंगादीनं त्यागिनो यथाजातरूपधरा निर्ग्रथा  
निष्परिग्रहाः।' इति संवर्तश्रुतिः।

अर्थात्- कंथा (ठंडक दूर करने का कपड़ा), कौपीन (लंगोट), उत्तरासंग (चादर)

आदि वस्त्रों के त्यागी, उत्पन्न हुए बच्चे के समान नग्न रूप धारण करने वाले, समस्त परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ साधु होते हैं।

सायणाचार्य का यह लेख भी विक्रम संवत् से बहुत पहले का है। इस लेख से भी दिगम्बर मत की प्राचीनता सिद्ध होती है क्योंकि इस वाक्य में साधु का जो स्वरूप बतलाया है वह दिगम्बर मुनि का ही नग्न, वस्त्र, परिग्रह रहित वेश बतलाया गया है।

इस प्रकार चाहे जिस प्राचीन ग्रंथ का अवलोकन किया जाए उसमें यदि जैन साधु का उल्लेख आया होगा तो उसका स्वरूप नग्न दिगम्बर वेश में ही बतलाया गया होगा। श्वेतांबर, पीतांबर (सफेद पीले कपड़े पहनने वाले) रूप में कहीं भी जैन साधु का उल्लेख नहीं मिलता है। इस कारण सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर मत भद्रबाहु स्वामी के स्वर्गवास हुए पीछे दुर्भिक्ष के कारण भ्रष्ट होने से प्रचलित हुआ है और उसका प्रचार विक्रम संवत् की दूसरी शताब्दी से चल पड़ा है।

सम्राट चंद्रगुप्त के पौत्र महाराज बिंदुसार के पुत्र सम्राट अशोक जो कि विक्रम संवत् से २०० वर्ष पहले हुये हैं उनसे राजसिंहासन पर बैठने के बाद २३ वर्ष तक जैन धर्म का परिपालन किया था ऐसा उनके कई शिलालेखों से सिद्ध होता है। उसके पीछे उन्होंने बौद्धधर्म स्वीकार किया था। बौद्धधर्म स्वीकार करने के पीछे-

अशोक अवदान नामक बौद्ध ग्रंथ में यों लिखा है कि-

‘राजा अशोक ने नग्न साधुओं को पौंड्रवर्द्धन में इसलिए मरवा डाला कि उन्होंने बौद्धों की पूजा में झगड़ा किया था।’

बौद्ध शास्त्र के इस लेख से भी यह सिद्ध होता है कि विक्रम संवत् से पहले दिगम्बर जैन साधुओं का ही विहार भारत वर्ष में था।

सम्राट अशोक के पीछे ईसवी संवत् से १५७ वर्ष पहले (पुरातत्वेत्ता श्री केशवलाल हर्चंदराय ध्रुव के मतानुसार ईसवी संवत् से २०० वर्ष पहले) कलिंग देश का अधिपति राजा खारवेल अपरनाम भिक्षुराज तथा महामेघवाहन बहुत शूरवीर, धर्मवीर, दानवीर प्रतापी राजा हुआ है। इसने मगध देश पर चढ़ाई करके युद्ध द्वारा विजय प्राप्त की थी। यह जैन धर्म का अनुयायी था। इसने राजगृह नगर में भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी। इस राजा खारवेल के समय में भी दिगम्बर जैन मत का अस्तित्व था जो कि खंडगिरि उदयगिरि की गुफाओं में अंकित तथा विराजित नग्न जैन प्रतिमाओं से सिद्ध होता है। ये गुफाएँ राजा खारवेल के समय में तथा बहुत सी गुफाएँ

उससे भी पहले की बनी हुई हैं। इन गुफाओं में दिगम्बर जैन मुनियों का निवास होता था ऐसा वहाँ के शिलालेखों व अंकित मूर्तियों से सिद्ध होता है।

इन ही गुफाओं में से एक हाथी गुफा है। उसमें राजा खारवेल का शिलालेख है जो कि प्राकृत भाषा में १७ पंक्तियों में खुदा हुआ है। वह इस प्रकार है-

१- नमो अरहन्तानं नमो सवसिधानं वेरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतराजवसधेन पसथ सुभलखने (न) चतुरन्तलठागुनोपतेन कलिङ्गाधिपतिना सिरिखारवेलेन-

अर्थात्- अर्हत्तों को नमस्कार, सर्वसिद्धों को नमस्कार। वीर महाराज महामेघवाहन, चैत्रराजवंशवर्द्धन, प्रशस्त (शुभ) लक्षण वाले कलिङ्ग देश के अधिपति श्री खारवेल ने-

२- पन्द्रसवसानि सिरि कुमारसरीरवता कीडिताकुमारकीडका ततो लेखरूपगणनाववहारविधिविसारदेन सवविजावदातेन नववसानि योवराज पसासितं संपुणचतुविसतिवसो च दानवधमेन सेसयोवनाभिविजयवत्तिये

अर्थात्- पंद्रह वर्ष कुमार शरीर में कुमारकीड में बिताए फिर लेखन विद्या, गतिग विद्या तथा अन्य व्यवहार विद्या में विशारद (कुशल) होकर एवं (युवराज के योग्य) समस्त विद्याओं में कौशल प्राप्त करके नौ वर्ष तक युवराज पद पर रहा। पूर्ण चौबीस वर्ष के हो जाने पर दान धर्मवाला (खारवेल) यौवन के विजय, वृत्ति के लिए (राज्य शासन के लिए)

३- कलिंगराजवंसपुरिसयुगे महाराजाधिसेचनं पापुनाति मिसितमतो च पधमवसे वातविहितगोपुरपाकारनिवेसनं पाटिसंखारयति कलिंग नगरिं खिवीर च सितल तडाग पाडियो च बधापयति सवुयान पतिसंठापनं च कारयति। पनतीसाहिं सतसहसेहि पकातिये रजयति।

यानी- कलिङ्ग देश के राजवंश के पुरुषयुग में राज्याभिषेक से पवित्र हुआ। राज्याभिषेक के पीछे पहले वर्ष में तूफान से टूटे हुए नगरद्वार कोट तथा महल की मरम्मत कराई। कलिंग नगर की छावनी, शीतल तालाब के किनारे (घाट) बनवाए तथा पैंतीस लाख से (राज मुद्राओं से, सिक्कों से) बाग बनवाए। (इस प्रकार) प्रजा को प्रसन्न किया।

४- दितिये च वसे अमितमिता सातकणि पछिमदिसं ह्यगजनरथबहुलं दंड पठापयति कुंसवानं खतियं च सहायवता पत्तं मसिकनगरं।

अर्थात्- दूसरे वर्ष रक्षा करने के लिए शतकर्णों के पास हाथी, घोड़े, मनुष्य, रथों से भरी हुई सेना पश्चिम दिशा को भेजी तथा कौशाम्बी के समीप (प्रयाग के पास) क्षत्रियों की सहायता से मसिक नगर को प्राप्त किया।

५- ततिये च पुन वसे गन्धर्ववेदबुधो दंपनतगीतवादित संदसनाहि उवसभाजकारापनाहि च कीडापयति नगरीं।

इथ चवुथे बसे विजाधराधिवास अहतं पुवं कलिङ्गपुबराजनमंतितं धमकूटस... (पू) जि च निखितछत-

अर्थात्- तीतरे वर्ष गंधर्व विद्या (गानविद्या) में प्रवीण (खार्वेल) राजा ने गीत नृत्य वादित आदि द्वारा बहुत उत्सव कराकर नगर में क्रीड़ा कराई। चौथे वर्ष विद्याधरों से सेवित तथा कलिंग के पूर्व राजपुरुषों के वंदनीक धर्मकूट की पूजा की। तथा चढ़ाये हुए छत्र-

६- भिंगारेहि तिरतनपतयो सवरठिकभो जकेसादेवे द यपति। पंचमे च दानिवसे नदराजतिवसतं ओघाटितं तनसुनली यटावाठी पनडिनगरं पवेस... राजसेय संदंसणतो वकरावणं अनुगह अनेकानि सतसहसानि विसजति पोरजानपदं।

-भृंगारों से सर्व रुष्य के सरदारों को मानो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) की श्रद्धा प्रदर्शित की। पाँचवें वर्ष नंदराजा का त्रिवर्ष सत्र (तीन वर्ष तक चलने वाली दान शाला अथवा तालाब) उद्घाटित किया। तनसुलिया के मार्ग से एक नहरनगर में प्रवेश कराई। राज ऐश्वर्य दिखलाने के लिए उत्सव किया। नगर गाँव निवासिनी जनता पर लाखों उपकार किये...

७-८ सतमं च वसं पसासतोच... सवोतुकुल... अठमे च वसे... घातापयिता राजगहनपं पीडापयति एतिनं च कमपदानपनादेनसवत सेनवाहने विपमुचितु मधुरं अपयातो।

अर्थात्- आठवें वर्ष में मार द्वारा राजगृही के राजा को पीड़ा पहुँचाई। इसके (खार्वेल के) चरण प्रवेश के शब्द से वह (राजगृही का राजा) अपनी सेना, सवारी को छोड़कर मथुरा भाग गया।

९- नवमे च... पवरको कपरुखो ह्यगजरथसह यतसवं धरावसध... यसवागाहनं च कारयितुं बमणानं ददिसारं ददाति अरजह्यि... (निवा) सं महाविजयपासादं कारयति अठतिससतसहसेहि।

यानी- नौवें वर्ष... एक बहुत सुंदर अरहत भगवान् का... निवास महाविजय नामक मंदिर ३८ लाख मुद्राओं से (रुपयों से) बनवाया और कल्पवृक्ष घोड़े-हाथी रथों के साथ तथा हावसयों... जिसका ग्रहण कराने में ब्राह्मणों को बहुत ऋद्धि दी।

१०-११- दसमे च वसे... भारधवसपठान... कारापयति... डयतानं च मनोरथानि उपलभता...ल पुवरानिवेसितं पाथुडं गदंभनगले नकासयति जनपद भावनं च तेरसवसताक... दमामरदेहसंघातं।

भावार्थ- दसवें वर्ष में... (खार्वेल राजा) भारत वर्ष की यात्रा को निकला। ... बनवाया... जो तैयार थे उनके मनोरथ को जानकर गर्दभ नगर में पूर्व राजाओं से नियत किए हुए मार्ग के कर को (महसूल को) और जनपद भावना को (?) जो तेरह सौ वर्ष से था दूर किया।

१२- वारसमं च व (सं)... हस... हिवितासयन्तो उतराथराजानो... मगधानं च विपुलं भयंजनेतो हथिसगङ्गायं पाययति मगधं च राजानं बहुपटिसासिता पादे वन्दापयति नंदराजनितस अगजिनस... गहरतन पडिहारहिअ मगधं वसिवु नयरि, विजाधरु लेखिलं वरानि सिहरानि नेवेसयति सतवसदान परिहारेन अभूतमकरियं च हथीनादानपरिहार... आहरापयति इधं सतस... सिनोवसि करोति।

अर्थात्- बारहवें वर्ष में उत्तर मार्ग के राजाओं को दुख देने वाले मगध के लोगों को बहुत भय उत्पन्न कराकर हाथियों को गङ्गा का पानी पिलाया और मगध के राजा को कड़ा दंड देकर अपने पैरों नबाया। नंदराजा से ली हुई प्रथम जिन (भगवान् ऋषभदेव)... मगध में एक नगर बसाकर... विद्याधरों से उक्रे हुए आकाश को डूने वाले शिखर हैं जिसमें (मंदिर में) उसको स्थापित किया। सात वर्ष के त्याग का दान कर तथा अद्भुत अपूर्व पहले ऐसा कभी नहीं किया ऐसा) हाथियों का दान किया।... लिवाया इस प्रकार सौ... रहने वालों को वश किया।

१३- तरेस में वसे सुपवत विजयिचको केमारी पवते अरहतोप (निवासे) वाहिकाय निंसिदिषायं यपज के... कालेरिखिता... (स) कतसमायो सुविहितानं च सवदिसानं (यानिनं) तापसा (नं?)... संहताने (?) अरहतनिपिदियासमीपे पभारे

वर कारुसमथ (थ) पतिहि अनेक योजनाहि... पटाल के चेतके चबेडुरियगमे थभे पतिठापयति। पनंतरिय सठि वससते राजमुरियकाले बोछिने च चोयठ अगसपति कुतरियं चुपादयति खेमराजा वधराजा स निखुराजाथ (न) म राजा पसन्तो सनतो अनुभवतो (क) लाणानि... गणविसेस कूसलो सवपासण्डपूजको... तानसङ्कार को (अ) पतिहत चकिवाहनबलो चकधरो गुतचको पसन्तचको राजसिंवंसकुलविनिगतो महाविजयी राजा खारवेलसिरि।

यानी- तेरहवें वर्ष में अपने विजयी राज चक्र को बढ़ाया। कुमारी पर्वत (खंडगिरि) के ऊपर अर्हत मंदिर के बाहर निषद्या में (नशिया में)... कालेक्षय... सर्व दिशाओं के महाविद्वानों और तपस्वी साधुओं का समुदाय एकत्र किया था।... अर्हत की निषद्या के पास पर्वत के शिखर ऊपर समर्थ करीगरो के हाथों से पातालक, चेतक और वैदूर्यगर्भ में स्तंभ स्थापित कराए। मौर्य राज्यकाल के १६५ एक सौ पैंसठवें वर्ष में क्षेमराज का पुत्र वृद्धिराज का पुत्र वृद्धिराज उसका पुत्र भिक्षुराज नाम का राजा शासन करता हुआ (उसने यह) कराया। विशेष गुणों में कुशल एवं पाषंड पूजक... संस्कार कराने वाला जिसका वाहन और सेना अजेय है चक्र का धारक है तथा निष्कंटक राज्य का भोक्ता है राजर्षि वंश में उत्पन्न हुआ है ऐसा महाविजयी राजा खारवेलश्री।

यह सब कोई जानता है कि खंडगिरि उदयगिरि लगभग २५०० वर्षों से दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र है। इस तीर्थक्षेत्र की विद्यमान गुफाओं से तथा अनेक शिला लेखों से प्रमाणित होता है कि यहाँ पर दिगम्बर जैन साधुओं का निवास प्राचीन समय में बहुत अच्छी संख्या में रहा है।

उपर्युक्त २१०० वर्षों के इस प्राचीन शिलालेख से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर स्वामी का प्रभाव मगध, कलिंग (उड़ीसा) देशों में भी बहुत अच्छा रहा है।

मगध देश के शासक राजा आज से २४०० वर्ष पहले कलिंग देश पर विजय पाकर वहाँ से भगवान् ऋषभदेव की मनोहर पूज्य प्रतिमा को ले आए थे जो कि राजा खारवेल ने ३०० वर्ष पीछे मगध के शासक नरपति पुष्य मित्र पर विजय पाकर फिर प्राप्त कर ली। इससे सिद्ध होता है कि २४०० वर्ष पहले के मगध और कलिंग देश के राजकुटुंब दिगम्बर जैन धर्मानुयायी थे।

मगध देश का प्राचीन राजवंश (नंदवंश) दिगम्बर जैन धर्मानुयायी ही था यह बात संस्कृत नाटक मुद्राराक्षस से जो कि बहुत प्राचीन अजैन नाटक है, सिद्ध होता है।

उसमें लिखा है कि नंदराज और उसके मंत्री राक्षस को विश्वास में फसाने के लिए चाणक्य ने एक दूत को जीवसिद्धि नाम रखकर क्षपणक (दिगम्बर मुनि) बनाकर भेजा था। उस जीवसिद्धि के उपदेश को उस नंदराज और राक्षस मंत्री ने बहुत भक्तिपूर्वक श्रवण किया था।

तथैव भगवान् महावीर स्वामी के समय से अनेक शताब्दियों तब बंगाल देश में भी दिगम्बर जैन धर्म का प्रभाव बहुत अच्छा रहा। इस बात की साक्षी आज दिन भी वहाँ के स्थान-स्थान पर बने हुए अति प्राचीन भग्न दिगम्बर जैन मंदिर तथा मनोहर दिगम्बर अर्हत प्रतिबिम्ब दे रहे हैं। इन प्रतिमाओं में अधिकतर दो हजार वर्षों से प्राचीन प्रतिमाएँ हैं ऐसा ऐतिहासिक विद्वानों का मत है।

प्राच्यविद्यामहार्णव, विश्व कोष के रचयिता श्रीयुत नगेंद्रनाथ वसु लिखित (सन् १९१३ में) आरकीलोजिकल सर्वे में उल्लेख है कि वरसई के पास कोसली के खंडित स्थानों में भगवान् पार्श्वनाथ का एक प्रतिबिम्ब कुसुम्ब क्षत्रिय राजाओं के समय का दो हजार वर्ष पुराना है। इस प्रतिमा के दोनों ओर चार अन्य मूर्तियाँ हैं जिनमें से दो खड्गासन और दो पद्मासन हैं।

इसी प्रकार किचिङ्ग और आदिपुर में भी कुसुम्ब क्षत्रिय राजाओं के समय की दो हजार वर्ष पुरानी प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। आदिपुर कुसुम्ब राजाओं की राजधानी थी। बंगाल देश की ये तथा अन्य सभी अर्हत मूर्तियाँ दिगम्बर नग्न ही हैं। उन पर लंगोट, कृत्रिम चक्षु, मुकुट कुंडल आदि का चिह्न नहीं है। अधिकतर मनोहर अखंडित पूज्य प्रतिमाओं पर संवत् आदि का लेख नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वे प्रतिमाएँ अवश्य ही दो हजार वर्ष पुरानी हैं क्योंकि संवत् की प्रथा विक्रमादित्य राजा के समय से चली है जिसको कि आज (२०४९) वर्ष हुए हैं। विक्रम संवत् चालू हो जाने के पीछे जितनी भी प्रतिमाएँ निर्मित हुई हैं उन सब ही पर संवत् उल्लिखित हैं।

बंगाल देश के वर्द्धमान, वीरभूम, सिंहभूमि, मानभूम आदि नगरों के नामों से प्रमाणित होता है कि इस देश में भी महावीर स्वामी का अच्छा प्रभाव है, क्योंकि इन नगरों के नाम भगवान् महावीर स्वामी के अपरनाम वर्द्धमान, वीर आदि के अनुकरण रूप हैं। सिंह महावीर स्वामी का खास चिह्न है।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि दिगम्बर मत उस समय से विद्यमान है जबकि श्वेताम्बर मत का नाम भी विद्यमान नहीं था, किंतु जैन धर्म का समूचा रूप दिगम्बरीय आकार में ही था।

अब हम कुछ अजैन ग्रंथों के प्रमाण और उपस्थित करते हैं जो कि दिगम्बर मत की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

दो हजार वर्ष पहले होने वाले राजा विक्रमादित्य की राजसभा के नौ रत्नों में से एक प्रसिद्ध रत्न ज्योतिराचार्य वराहमिहिर अर्हत प्रतिमा का आकार वराहमिहिर संहिता में इस प्रकार लिखता है।

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्सांकः प्रशान्तमूर्तिश्च।  
दिग्वासातरुणो रूपांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥

अध्याय ५८ श्लोक ४५

अर्थात्- घुटनों तक लम्बी भुजाओं वाली, छाती के बीच में श्रीवत्स के चिह्न वाली, शांत मूर्ति नग्न, तरुण अवस्था वाली, सुंदर ऐसी जैनियों के आराध्य देव की मूर्ति बनानी चाहिए।

वाल्मीकि ऋषिप्रणीत रामायण बालकांड के १४वें सर्ग का २२वाँ श्लोक ऐसे लिखा है-

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।  
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चापि भुञ्जते॥

अर्थात्- राजा दशरथ के यज्ञ में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भोजन करते थे। तापसी (शैवसाधु) भोजन करते थे और श्रमण (नग्न दिगम्बर साधु) भी भोजन करते थे।

रामायण की भूषणटीका में श्रमण शब्द का अर्थ यों लिखा है-

‘श्रमणा दिगम्बरा श्रमणा वातवसना इति निर्घटुः’

अर्थात्- श्रमण, दिगम्बर (दिशारूपी वस्त्र पहनने वाले नग्न) अथवा वातवसन (वायुपी कपड़े धारण करने वाले यानी नग्न) साधु होते हैं।

यह रामायण दो हजार वर्ष से भी अति प्राचीन ग्रंथ बतलाया गया है। इस कारण इसके उपर्युक्त श्लोक से सिद्ध होता है कि कम से कम वाल्मीकि ऋषि के समय में भी दिगम्बर जैन साधु पाए जाते थे।

भागवत के ५वें स्कंध में ५वें अध्याय के २८वें श्लोक में लिखा है-

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशायनार्थं परमसुहृद्

भगवान् षमोपदेशोपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशज्येष्ठं परम भागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवनरवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्ण केश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तार्त् प्रवब्राज।

अर्थात्- इस प्रकार अपने विनीत पुत्रों को लोगों पर प्रभाव रखने के लिए समझाकर, समस्त जनता के परमप्रिय भगवान् ऋषभदेव शांत स्वभावी, सांसारिक कार्यों से विरक्त महामुनियों को भक्तिवैराग्यवाले परमहंसों के धर्म की शिक्षा देते हुए, भाग्यशाली, महापुरुषों की सेवा में तत्पर ऐसे सबसे बड़े पुत्र भरत को पृथ्वी पालन के लिए राजलितक करके शरीरमात्र परिग्रह के धारक, उन्मत्त के समान नग्न दिगम्बर वेश धारण किए, जिनके केश बिखरे हुए हैं ऐसे भगवान् ऋषभदेव ब्रह्मावर्त से (विदूर देश से) संन्यास लेकर चले गए।

यह भागवत ग्रंथ भी बहुत प्राचीन है। यह भी दिगम्बर संप्रदाय की प्राचीनता सिद्ध करता है।

अब हम कुछ बौद्ध ग्रंथों के प्रमाण भी यहाँ उपस्थित करते हैं जो कि हमको श्रीयुत वा. कामता प्रसादजी जैन लिखित ‘महावीर भगवान् और महात्मा बुद्ध’ नामक पुस्तक से प्राप्त हुए हैं। इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होगा कि श्री महावीर स्वामी की छद्मावस्था अवस्था में भी पार्श्वनाथ भगवान् के उपदेश का अनुकरण करने वाले मुनि नग्न दिगम्बर वेशधारी ही थे।

‘डायोलाग ऑफ बुद्ध’ नामक पुस्तक के ‘कस्सप सिंहेनादसुत्त’ में अनेक प्रकार के साधुओं की क्रियाओं का वर्णन आया है उसमें जैन साधुओं के अनुरूप ऐसा लिखा है-

‘वह नग्न विचरता है, ... भोजन खड़े होकर करता है, वह अपने हाथ चाटकर साफकर लेता है, ... वह दिन में एक बार भोजन करता है’ इत्यादि।

इस कथन से दिगम्बर मुनि का आचरण सिद्ध होता है।

आर्यसूर की जातककथाओं में से घटकथा में एक स्थान पर मदिरापान के दोष दिखलाते हुए यों लिखा है-

‘इसके (मदिरा के) पीने से लज्जावान भी लज्जा खो बैठते हैं और वस्त्रों के कपटों और बंधनों से अलग होकर निर्ग्रथों की तरह नग्न होकर वे जनसमूह पूर्ण ऐसे राजमार्गों पर चलते हैं।’



इस लेख से एक तो जैन साधु का नग्न वेश प्राचीन सिद्ध हुआ दूसरे 'निर्ग्रथ' नग्न दिगम्बर को ही कहते हैं यह भी सिद्ध हुआ।

दिव्यावदान ग्रंथ में एक स्थान पर लिखा है-

'कथं स बुद्धिमान् भवति पुरुषो व्यङ्गनावितः।  
लोकस्य पश्यतो योऽयं ग्रामे चरति नग्नकः-'

अर्थात्- वह (निर्ग्रथ जैन साधु) अज्ञानी पुरुष बुद्धिमान कैसे कहा जा सकता है जो देखने वाले लोगों के समुदाय में नग्न घूमता है।

यहाँ पर जैन मुनियों की नग्न दशा की निंदा की गई है; परंतु इससे यह सिद्ध होता है कि जैन साधुओं का नग्न रूप प्राचीन समय से चला आता है।

धम्मपदकथा नामक ग्रंथ के विशाखाबत्थू प्रकरण में दूसरे भाग के ३८४ पृष्ठ पर विशाखा नामक एक सेठ पुत्री की कथा दी है जिसका कि पिता बौद्ध धर्मावलम्बी था और श्वसुरघर जैन धर्मावलम्बी था तथा वह स्वयं बौद्ध साधुओं में भक्तिभाव रखती थी।

श्रावस्ती नगर में अपने श्वसुर (मिगार सेठ) के घर पहुँचने पर विशाखा को एक दिन ऐसा अवसर मिला कि उसके श्वसुर ने अपने घर ५०० निर्ग्रथ साधुओं को भोजनार्थ आमंत्रित किया। तदनंतर उस सेठ ने विशाखा से उन साधुओं के चरणों पर प्रणाम करने को कहा। विशाखा निर्ग्रथ साधुओं का नग्न रूप देखकर भाग आई और उसने कहा कि ऐसे निर्लज्ज नग्न पुरुष साधु नहीं हो सकते।... जब नग्न निर्ग्रथों ने यह जाना कि बुद्ध धर्मी मिगार सेठ के घर में मौजूद हैं तब उन्होंने उसके घर को घेर लिया। विशाखा ने अपने श्वसुर से बुद्ध का सत्कार करने को कहा। नग्न निर्ग्रथों ने सेठ को वहाँ जाने से रोका।

सुमागधा अवादान में लिखा है कि-

अनार्थापण्डक की पुत्री के घर में बहुत से नग्न साधु एकत्रित हुए इत्यादि।

इस प्रकार पिटकत्रयादि अनेक प्राचीन बौद्धशास्त्रों में निर्ग्रथ जैन साधुओं के नग्न वेश का उल्लेख है। महात्मा बुद्ध के उस समय में भी जब तक कि भगवान् महावीर स्वामी को केवल ज्ञान नहीं हुआ था अतएव वे धर्मोपदेश भी नहीं देते थे। (क्योंकि तीर्थंकर सर्वज्ञ होने के पहले उपदेश नहीं देते हैं ऐसा नियम है) नग्न जैन साधु पाए जाते थे। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् के उपदेश प्राप्त

उनकी शिष्य परंपरा के साधु भी नग्न ही होते थे। इस कारण श्वेताम्बरीय ग्रंथों का यह कथन असत्य तथा निराधार प्रमाणित होता है कि श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर की शिष्य परंपरा के महाव्रतधारी साधु वस्त्र पहनते थे।

वॉरनफ साहिब का मत है कि जैन साधु ही नग्न होते थे और बुद्ध नग्नता को आवश्यक नहीं समझते थे।

श्री सम्मेशिखर तीर्थक्षेत्र के इजंक्शन केस का फैसला देते हुए रांची कोर्ट के प्रतिभाशाली प्रख्यात सब जज श्रीयुत फणीन्द्रलालजी सेन लिखते हैं कि-

'श्वेतांबरों का कहना है कि दिगम्बर आम्नाय श्वेतांबरों के पीछे हुई है परंतु There is authoritative pronouncement that the Digamber must have existed from long before the Swetamberi sect was formed.

अर्थात्- इस बात के बहुत दृढ़ प्रमाण हैं कि श्वेतांबरी जैनियों के पहले दिगम्बर जैनी बहुत पहले से मौजूद थे।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिया के ११वें एडिशन के १२७वें पृष्ठ पर लिखा है कि श्वेताम्बर लोग ६ठी शताब्दी से पाए जाते हैं। दिगम्बरी वही प्राचीन निर्ग्रथ हैं जिनका वर्णन बौद्ध की पाली पिटकों में आया है।

वेदांत सूत्र के शाङ्करभाष्य में द्वितीय अध्याय, दूसरा पाद ३३वें सूत्र 'नैकस्मिन्नसंभवात्' की टीका में यों लिखा है-

'निरस्तः सुगतसमयः विवसनसमय इदानी निरस्यते। सप्त चैषांपदार्थाः सम्मता जीवाजीवास्रबन्धसंवरनिर्जरामोक्षा नाम।'

यानी- बौद्ध मत का खंडन किया अब वस्त्र रहित दिगम्बरों का मत खंडित किया जाता है। इनके सिद्धांत में जीव और अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ हैं। इस प्रकार इस ग्रंथ में भी जैन धर्म को दिगम्बरों के नाम से संबोधन किया गया है।

सर विलियम हंटर साहब लिखित 'दी इंडियन एम्पायर' (भारत राज्य) पुस्तक के २०६वें पृष्ठ पर लिखा है।

'दक्षिणी बौद्धों के शास्त्रों में भी नग्न जैन दिगम्बरों के और भले प्रकार बौद्धों के बीच में संवाद होने की एक बात लिखी है।'

‘जैनमित्र’ के भाद्रपद कृष्णा द्वितीया वीर सं. २४३५ के (१०वाँ वर्ष १९-२० वाँ अंक) १०वें पृष्ठ पर मिस्टर वी.ल, विसराइस सी.आई.ई. के लेख का सार भाग यों प्रकाशित हुआ है-

‘समय के फेर से दिगम्बर जैनियों में से एक विभाग उठ खड़ा हुआ जो इस प्रकार के कट्टर साधुपने से विरुद्ध पड़ा। इस विभाग ने अपना नाम ‘श्वेतांबर’ रखा। यह बात सत्य मालूम होती है कि अत्यंत शिथिल श्वेतांबरियों से कट्टर दिगम्बरी पहले के हैं।’

जर्मनी के प्रख्यात विद्वान् प्रोफेसर हर्मन जैकोबी ने श्वेताम्बरीय ग्रंथ उत्तराध्ययन का अंग्रेजी अनुवाद किया है उसमें दूसरे व्याख्यान के १३वें पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है कि-

‘जब एक नग्न साधु जमीन पर पड़ेगा उसके शरीर को कष्ट होगा।’

इसके आगे उन्होंने सातवें व्याख्यान के २९६वें (२१वें) पृष्ठ पर यों लिखा है-

‘वह जो कपड़े धोता है और संहारता है नग्न मुनि होने से बहुत दूर है।’

इस प्रकार एक निष्पक्ष दार्शनिक तत्त्ववेत्ता विद्वान् भी श्वेताम्बरीय ग्रंथ द्वारा नग्न दिगम्बर साधु के महत्त्व का स्पष्ट उल्लेख करता है। श्रीयुत नारायण स्वामी ऐयर बी.ए., एल.एल.बी. संयुक्त मंत्री थियोसोफिकल सोसायटी अडयार मद्रास ने बंबई में ता. २० से २७ जून सन् १९१७ में ‘हिन्दूसाधु’ के विषय पर व्याख्यान दिए थे उनमें से उन्होंने एक व्याख्यान में जो कहा था उसका हिन्दी अनुवाद यह है कि-

दिगम्बर पना साधु की सर्वोच्च अवस्था है। साधु उच्च दशा पर पहुँचने के लिए आकाश के समान नग्न हो।’

मिस्टर ई. वेस्टलेक एफ.आर.ए.आई. फोर्डिंग ब्रज ने लंदन के डेलीन्यूज में १८ अप्रैल सन् १९१३ में लिखा है कि- ‘इस विषय पर अभ्यास करने से मैं कह सकता हूँ कि जे.एफ. विस्किनसन साहिब का यह कथन कि जो जातियाँ वस्त्र नहीं पहनतीं उनका सच्चरित्र सर्व से ऊँचा होता है यात्रियों के द्वारा पूर्ण प्रमाणित है। यह सच है कि वस्त्र पहनना कला कौशल और उच्च दर्जे की सभ्यता में माना जाता है, परंतु इससे स्वास्थ्य और सच्चरित्र इतनी नीची दशा के रहते हैं कि कोई भी वस्त्रधारी सज्जन उच्चतर दशा पर पहुँचने की आशा नहीं कर सकता।’

इंडियन सेन्टिनेरी (जुलाई १९००) पुस्तक नं. ३० में अलब्रेट बेवर द्वारा लिखित ‘भारत में धार्मिक इतिहास’ नामक लेख में लिखा है कि-

‘दिगम्बर लोग बहुत प्राचीन मालूम होते हैं क्योंकि न केवल ऋग्वेद संहिता में इनका वर्णन ‘मुनयः वातवसनाः’ अर्थात् पवन ही हैं वस्त्र जिनके इस तरह आया है अपितु सिक्ंदर के समय में जो हिन्दुस्तान के जैन सूफियों का प्रसिद्ध इतिहास है उससे भी यही प्रगट होता है।’

रेव जे. स्टेवेन्सन डी.डी. प्रेसीडेंट रॉयल एशियाटिक सोसायटी ने ता. २० अक्टूबर सन् १८५३ को एक लेख पढ़ा था जो कि सोसायटी के जर्नल जनवरी १८५५ में छपा है। इस लेख में बौद्धों के ग्रंथों में आए हुए ‘तित्थिय’ (तीर्थक) शब्द का तथा यूनानी ग्रंथों में आए हुए जैन सूफी शब्द का अर्थ क्या है? इन दोनों शब्दों का अर्थ ‘दिगम्बर जैन’ ही है अथवा और कुछ? इस बात पर विवेचन करते हुए आप एक स्थान पर लिखते हैं कि वे तीर्थक तथा जैन सूफी दिगम्बर जैन ही थे।

आपके मूल लेख का अनुवाद यह है-

‘इन तीर्थकों में दो बड़ी विशेष बातें पाई जाती हैं तथा जो जैनियों के सबसे प्राचीन ग्रंथों और प्राचीन इतिहास से ठीक-ठीक मिलती हैं। वे ये हैं कि एक तो उनमें दिगम्बर मुनियों का होना और दूसरे पशु माँस का सर्वथा निषेध। इन दोनों में से कोई भी बात प्राचीन काल के ब्राह्मणों और बौद्धों में नहीं पाई जाती है।’

जैन सूफियों के विषय में आपने यह लिखा है-

‘क्योंकि दिगम्बर समाज प्राचीन समय से अब तक बराबर चला जा रहा है। (लेख में इसकी पुष्टि के अन्य कारण भी बतलाए हैं) इससे मैं यह ही तात्पर्य निकालता हूँ कि (पश्चिमीय भारत में जहाँ जैन धर्म अब भी फैला हुआ है जो जैन सूफी यूनानियों को मिले थे वे जैन थे; न तो वे ब्राह्मण थे और न बौद्ध। तथा तक्षशिला के पास सिक्ंदर को इन्हीं दिगंबरियों का एक संघ मिला था जिन दिगंबरियों में से एक कालानस नामधारी फारस देश तक सिक्ंदर के साथ गया था।’

डॉक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण एम.ए. प्रिंसिपल संस्कृत कॉलेज कलकत्ता लिखते हैं कि- ‘जैनधर्म बौद्धधर्म से प्राचीन है। निर्ग्रंथों तथा नाथपुत्र का वर्णन बौद्धों के सबसे प्राचीन पालीग्रंथ त्रिपिटक में आया है जो सन् ईसवी से ५०० वर्ष पहले का है।... सन् ईसवी के १०० वर्ष पहले एक संस्कृत में ग्रंथ महायान नाम का बना है उसमें खास दिगम्बर शब्द भी आया है।’

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका जिल्द २५ ग्यारहवीं बार (सन् १९११) में प्रकाशित उसमें इस प्रकार उल्लेख है- 'जैनियों में दो बड़े भेद हैं एक दिगम्बर दूसरा श्वेतांबर। श्वेताम्बर थोड़े काल से शायद बहुत करके ईसा के ५वीं शताब्दी से प्रगट हुआ है। दिगम्बर निश्चय से लगभग वे ही निर्ग्रथ हैं जिनका वर्णन बौद्धों की पाली पिटकों में (पिटकत्रय ग्रंथ में) आया है। इस कारण ये लोग (दिगम्बर) ईसा से ६०० वर्ष पहले के तो होने ही चाहिए।

राजा अशोक के स्तंभों में भी निर्ग्रथों का उल्लेख है (शिलालेख नं. २०) श्री महावीरजी और उनके प्राचीन मानने वालों में नग्नभ्रमण करने की एक बहुत बाहरी विशेषता थी जिससे शब्द 'दिगम्बर' है। इस क्रिया के (नग्न भ्रमण करने के) विरुद्ध गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को खासतौर से चिताया था तथा प्रसिद्ध यूनानी शब्द जैन सूफी में इसका (दिगम्बर का) वर्णन है। मेगस्थनीज ने (जो राजा चंद्रगुप्त के समय सन् ईस्वी से ३२० वर्ष पहले भारत वर्ष में आया था। इस शब्द का व्यवहार किया है। यह शब्द (दिगम्बर शब्द) बहुत योग्यता के साथ निर्ग्रथों को ही प्रगट करता है।'

इसी प्रकार विलसन साहब (H.H. Vilson M.A.) अपनी पुस्तक 'Essoys and lectures on religion of jains' में कहते हैं कि-

जैनियों के प्रधान दो भेद हैं दिगम्बर और श्वेतांबर। दिगम्बरी बहुत प्राचीन मालूम होते हैं और बहुत अधिक फैले हुए हैं। सर्व दक्षिण के जैन दिगम्बर मालूम होते हैं। यह हाल पश्चिमी भारत के बहुत जैनियों का है। हिन्दुओं के प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में जैनियों को साधारणता से दिगम्बर या नग्न लिखा है।

(डॉक्टर बोगेल ने अपनी सन् १९१० की रिपोर्ट में लिखा है कि अब मैं जैनियों के चौबीस तीर्थकरों की मूर्तियों के विषय में लिखता हूँ। मथुरा में जैनियों का मुख्य कंकाली टीला है जहाँ डॉक्टर फुरहर ने बहुत सी मूर्तियाँ निकाली हैं जो लखनऊ के अजायबघर में हैं। तीर्थकरों की मूर्तियाँ पवित्र भारतीय कारीगरी है। इनके आसनों पर जो शिलालेख हैं उनसे यह कुशाण राज्य से बहुत पहले की मालूम होती है। सबसे असाधारण बात जो तीर्थकरों की मूर्तियों में है वह उनका नग्नपना है। इसी चिह्न से बौद्ध मूर्तियों से भिन्नता मालूम हो जाती है। यह बात वास्तव में दिगम्बरी मूर्तियों के विषय में कही जा सकती है। क्योंकि श्वेतांबरी अपनी मूर्तियों को वस्त्र पहनाते हैं और उनको मुकुट तथा आभूषणों से सजाते हैं। मथुरा के अजायबघर में जो मूर्तियाँ हैं वे सब दिगम्बर आम्नाय की ही हैं।

मथुरा के कंकाली टीले से निकली हुई उक्त प्राचीन प्रतिमाओं के विषय में श्वेतांबरी सज्जनों का कहना है कि डॉक्टर फुरहर के कथनानुसार ये समस्त प्रतिमाएँ श्वेताम्बरीय हैं अतः हमारा श्वेताम्बर संप्रदाय दिगम्बर संप्रदाय से प्राचीन है। ऐसा ही (श्वेताम्बर मुनि आत्मानंदजी ने अपने) 'तत्त्वनिर्णयप्रासाद' ग्रंथ में लिखा भी है।

किंतु श्वेतांबरी सज्जनों की ऐसी धारण बहुत भूलभरी हुई है। क्योंकि प्रथम तो इन प्रतिमाओं में से एक-दो के सिवाय प्रायः सब ही नग्न हैं। उनके शरीर पर वस्त्र का चिह्न रंचमात्र भी नहीं है। इस कारण दिगम्बरीय मूर्ति विधान के अनुसार वे दिगम्बरी ही हैं। यदि वे श्वेतांबरी होती तो उन पर कम से कम चोलपट्ट (कंदोरा-लंगोट) का चिह्न तो अवश्य होता। किंतु उन पर वह बिलकुल भी नहीं है। इस कारण नियमानुसार वे प्रतिमाएँ दिगम्बरी ही हैं।

यदि प्रतिमाओं पर के लेख में 'कोट्टिक गण' शब्द लिखा हुआ होने के कारण उन प्रतिमाओं को श्वेताम्बरीय कहने का साहस किया जाए तो भी गलत है क्योंकि प्रतिमाओं के निर्माण समय में कोट्टिकगण श्वेताम्बरीय होता तो प्रतिमाओं की आकृति भी अन्य श्वेताम्बरीय मूर्तियों के अनुसार होती। श्वेतांबरी लोगों को या तो अपने शास्त्रों में यह दिखलाना चाहिए कि अरहंत प्रतिमा का आकार नग्न रूप में होता है, वस्त्र का लेशमात्र भी उसके ऊपर नहीं होता। तो तदनुसार वस्त्र मुकुट कुंडल आदि चिह्नों वाली जो मूर्तियाँ आज श्वेतांबरीयों के यहाँ प्रचलित हैं वे श्वेताम्बरीय नहीं ठहरती हैं। अथवा वस्त्र सहित मूर्तियों का निर्माण ही श्वेताम्बर संप्रदाय के शास्त्रानुसार होता है ऐसा यदि श्वेताम्बर कहें तो इन मथुरा से निकली हुई नग्न मूर्तियों को श्वेताम्बरीय मूर्ति मानने की भूल हृदय से निकाल देनी चाहिए। नग्न मूर्ति और वह श्वेताम्बरीय हो ऐसा परस्पर विरुद्ध कथन हास्यजनक भी है।

दूसरे प्रतिमाओं पर जो संवत् उल्लिखित हैं उन संवत्तों से वे मथुरा की प्रतिमाएँ केवल १७०० वर्ष प्राचीन ही सिद्ध होती हैं उससे अधिक नहीं, जबकि इससे पहले ही जैन संप्रदाय के दिगम्बर, श्वेताम्बर रूप में दो विभाग हो चुके थे। प्रतिमाओं पर जो संवत् है वह प्रायः (कुशाण) शक संवत् है क्योंकि जिन राजाओं का वहाँ उल्लेख है उनका समय अन्य आधारों से भी वह ही प्रमाणित होता है। शक संवत् विक्रम संवत् से १३७ वर्ष पीछे तथा वीर संवत् से ६०० वर्ष पीछे प्रचलित हुआ है। वसुदेव संवत् उससे भी ७७ वर्ष पीछे प्रचलित हुआ है। इस कारण उल्लिखित संवत्तों से ये प्रतिमाएँ श्वेताम्बर संप्रदाय की, दिगम्बर संप्रदाय से प्राचीनता सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ हैं। क्योंकि इनसे भी सैकड़ों वर्ष पुराने श्रवणवेलगुल व खंडगिरि के शिलालेख दिगम्बर संप्रदाय का पुरातत्व सिद्ध कर रहे हैं।

# भूगर्भ से प्राप्त प्राचीन दिगम्बर जैन मूर्तियाँ

यों तो अभी जहाँ कहाँ भी प्राचीन जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं सब ही दिगम्बर जैनमूर्तियाँ हैं। उन पर श्वेताम्बरीय प्रतिमाओं सरीखा लंगोट का चिह्न किसी पर भी नहीं खुदा है। किंतु कुछ वर्ष पहले भरतपुर राज्यान्तर्गत बयाना तहसील के नारोली ग्राम में एक स्थान पर खुदाई हुई थी उसमें संवत् १३ की प्रतिष्ठित दिगम्बर जैन अर्हत प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई थीं।

प्रतिमाएँ १० थीं जिनमें से एक प्रतिमा का चिह्न मालूम नहीं हुआ शेष ९ प्रतिबिम्ब श्री ऋषभनाथजी, श्री संभवनाथजी, श्री सुपार्श्वनाथजी, श्री चंद्रप्रभुजी, श्री श्रेयांसनाथजी, श्री शांतिनाथजी, श्री नेमिनाथजी, श्री पार्श्वनाथजी और श्री महावीरजी की है। ये सभी प्रतिबिम्ब आषाढ सुदी १ सं. १३ में जयपुर नगर के प्रतिष्ठित हैं। ये समस्त प्रतिबिम्ब इस समय बयाना के मंदिरजी में विराजमान हैं।

उसी नारोली ग्राम में भरतपुर राज्य से स्वीकारता लेकर (वीर सं. २४५४ में फिर खुदाई हुई तो १४ प्रतिमाएँ फिर निकलीं जिनमें एक श्री चंद्रप्रभ की, चार श्री पार्श्वनाथजी की, आठ श्री महावीर स्वामी की और एक श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर को मस्तक पर उठाए हुए पद्मावती देवी की मूर्ति है।

इस प्रकार ये प्रतिबिम्ब पौने दो हजार वर्ष पुराने हैं।

इस कारण इन पूर्वोक्त प्रमाणों से अच्छी तरह प्रमाणित होता है कि दिगम्बर संप्रदाय का रूप जैन धर्म के प्रारंभ समय से चला आ रहा है और श्वेताम्बर संप्रदाय का उदयकाल श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली के पीछे १२ वर्ष के दुष्काल का निमित्त पाकर केवल दो हजार वर्ष से हुआ है।



## उपसंहार

१. जैनधर्म वीतरागता का उपासक है। उसके धार्मिक नियम वीतरागता के उद्देश्य पर निर्माण हुए हैं। इस कल्प में जैन धर्म को जन्म देने वाले भगवान् ऋषभदेव भी उत्तम वीतराग थे- नग्न साधु थे। उस वीतराग मार्ग का समूल रूप दिगम्बर संप्रदाय में विद्यमान है इस कारण दिगम्बर संप्रदाय ही पुरातन जैनधर्म का सच्चा स्वरूप है।

२. श्वेताम्बर संप्रदाय श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी के स्वगरीहण होने के पीछे और विक्रम संवत् से लगभग ३०७ वर्ष पहले उत्पन्न हुआ है। उत्तर भारत प्रदेश में १२ वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ने के कारण जो जैन साधु मालवा प्रांत में रह गए थे उन्होंने नगर में रहकर अपने सामने आई हुई अनिवार्य आपदाओं को दूर करने के लिए वस्त्र, दंड, पात्र आदि परिग्रह स्वीकार कर लिया था। उनमें से कुछ साधुओं ने तो दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने पर दक्षिण देश से अपने समस्त संघ के साथ लौटे हुए श्री विशाखाचार्य के उपदेशानुसार प्रायश्चित्त लेकर अपना चारित्र परिग्रह छोड़कर फिर पहले के समान शुद्ध बना लिया। किंतु जो साधु शिथिलाचारी हो गए थे उन्होंने दुराग्रहवश अपने चारित्र में सुधार नहीं किया और उन्होंने अपने वेश की पुष्टि तथा प्रचार के लिए श्वेताम्बर संप्रदाय की नींव डाली।

३. दिगम्बर संप्रदाय को पुरातन सिद्ध करने वाले अनेक साधन हैं-

क- जैनधर्म के प्रारंभ समय से प्रचलित वीतरागता दिगम्बर संप्रदाय के ही आराध्य अर्हतदेव में, उनकी प्रतिमाओं में, महाव्रतधारी साधुओं में तथा शास्त्रों में यथार्थ रूप से पाई जाती है। वह वीतरागता श्वेताम्बर संप्रदाय में नहीं है।

ख- पुरातन बौद्ध, सनातनी, यूनानी आदि अजैन ग्रंथों में जहाँ कहीं भी जैन साधुओं का तथा पूज्य अर्हत प्रतिमाओं का वर्णन आया है वहाँ पर नग्न दिगम्बर रूप का ही उल्लेख है।

ग- प्रख्यात भारतीय तथा यूरोपीय ऐतिहासिक विद्वान् दिगम्बर संप्रदाय को श्वेताम्बर संप्रदाय से पुरातन बतलाते हैं।

४. केवलज्ञान प्रगट हो जाने पर अर्हत भगवान् को भूख नहीं लगती। अनंतसुख,

अनंत बल प्रगट हो जाने से किसी भी प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा नहीं होती। इस कारण प्रमादजनक कवलाहार वे नहीं करते हैं।

५. केवलज्ञानी अनंत सुख संपन्न होते हैं इस कारण उनके ऊपर मनुष्य, देव, पशु, आदि के द्वारा किसी भी प्रकार उपद्रव होकर उनको, दुःख प्राप्त नहीं हो सकता।

६. अर्हत भगवान् की प्रतिष्ठित प्रतिमा पर मुकुट, कुंडल, हार आदि आभूषण तथा चमकीले वस्त्र पहनाना जैन सिद्धांत के विरुद्ध है- अर्हत भगवान् का अवर्णवाद है, क्योंकि अर्हत देव पूर्ण वीतराग होते हैं तथा उनकी प्रतिमा बनाकर दर्शन, पूजन, स्तवन आदि करने का उद्देश्य भी वीतरागता प्राप्त करना है।

७. मुक्ति प्राप्त करने का साधन उत्तम साधु बनकर तपस्या करना है। ऐसा करने से ही यथाख्यात चारित्र, उत्तम शुक्ल ध्यान प्राप्त होता है। उत्तम साधु (जिनकल्पी मुनि) वस्त्र रहित नग्न ही होता है और साधु के नग्न वेश के निमित्त से ही मुक्ति प्राप्त होती है। अतएव अनेक दोषजनक वस्त्रों को धारण करने वाली स्त्रियाँ मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकतीं क्योंकि उनके शरीर अंगोपांगों की रचना इस प्रकार होती है कि वे नग्न होकर तपस्या नहीं कर सकती हैं और न उनके घोर निश्चल तपश्चरण करने की उत्तम शक्ति होती है। इस कारण स्त्री को मुक्ति कहना असत्य भी है।

८. जैन सिद्धांत के अनुसार (श्वेताम्बरीय सिद्धांत शास्त्रों के अनुसार भी) तीर्थकरत्व पुरुष को ही प्राप्त होता है। इस कारण स्त्री को तीर्थकर पदधारिणी कहना भी असत्य है।

९. जैन धर्म स्वीकार किए बिना मनुष्य को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। जैन सिद्धांत के अनुसार आचार धारण किए बिना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता इसलिए मार्ग का अनुसरण करते हुए (अन्यलिङ्ग धारण करते हुए) मनुष्य को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

१०. मुक्ति प्राप्त करने के लिए परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग करना अनिवार्य है। गृहस्थी परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर सकता। इस कारण गृहस्थाश्रम से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होना असंभव है।

११. तीन मास से भी आठ दिन कम का कच्चा शरीर पिंड एक माता के गर्भाशय से निकाल कर अन्य माता के उदर में रख देना असंभव है क्योंकि ऐसा करने से नाभितंतु टूट जाते हैं और गर्भस्थ जीव की मृत्यु हो जाती है। इस कारण महावीर

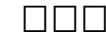
स्वामी के गर्भ को देवानंदा ब्राह्मणी के उदरसे निकालकर त्रिशला देवी के गर्भाशय में पहुँचाने की और वहाँ पर वृद्धि होने की बात सर्वथा असत्य है।

१२. श्वेताम्बरीय शास्त्रों में अच्छे बताए गए हैं जिनका कि वास्तविक अर्थ 'आश्चर्य कारक बातें' होता है। उन अच्छों में से १- केवली भगवान् पर उपसर्ग, २- ब्यासी दिन के गर्भ का अपहरण, ३- स्त्री तीर्थकर, ४- सूर्य चंद्र का अपने विमानों सहित उतर कर मध्यलोक में आना, ५- हरिवंश की उत्पत्ति और ६- चमरेंद्र का उत्पात से अच्छे प्रकृति विरुद्ध, जैन सिद्धांत विरुद्ध, असंभावित कल्पनाओं के रूप में हैं, इस कारण सर्वथा असत्य हैं।

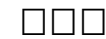


## हाईकू

काश न देता,  
आकाश, अवकाश,  
तू कहाँ होता ?



बहुत मीठे,  
बोल रहे हो अब!  
मात्रा सुधारो ।



गर्व गला लो,  
गले लगा लो जो हैं,  
अहिंसा प्रेमी ।

- आचार्य विद्यासागरजी महाराज

## पुण्यार्जक

| <u>राशि</u> | <u>नाम/पता</u>   |
|-------------|--|
| १५५१५/-     | श्रीमती पिंकी नकुलजी पाटोदी, इतवारिया, इंदौर               |
| ७१११/-      | श्रीमती राजुल प्रेमचंद बड़जात्या, नंदानगर, इंदौर           |
| ७१११/-      | श्री आशीष देवेन्द्र पाटनी, हुकुमचंद मार्ग, इंदौर           |
| ६००१/-      | श्रीमती ज्योति निर्मलजी काला, हुकुमचंद मार्ग, इंदौर        |
| ६००१/-      | श्रीमती अर्चना संजयजी पाटोदी, रंगमहल, इंदौर                |
| २१००/-      | श्री धन्नालाल पाटोदी, इतवारिया बाजार, इंदौर                |
| २००१/-      | श्रीमती सरला विजयजी कासलीवाल, इतवारिया बाजार, इंदौर        |
| १५००/-      | श्रीमती इन्द्रा सोगानी                                     |
| ११००/-      | श्रीमती चंदा जैन, मोती महल, इतवारिया बाजार, इंदौर          |
| ११००/-      | श्रीमती रजनी सुनीलजी पाटोदी, रंगमहल, इतवारिया बाजार, इंदौर |
| ११००/-      | श्री अशोक कुमार सेठी, इंदौर                                |
| ११००/-      | श्रीमती लीलाबाई ज्ञानचंद जैन, गंधवानी, जिला धार (मप्र)     |
| ११००/-      | श्री श्रेयांस सोनी, कालानी नगर, इंदौर                      |



